भाषातत्व और वाक्यपदीय

(LINGUISTICS & VĀKYAPADĪYA)

लेखक की अन्य रचनाएँ

१. **हिन्दी साहित्यानुशीलन**

(पृ० ६००)

सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य पर बहु-प्रशंसित नवीन समीक्षा। कुछ विश्व-विद्यालयों द्वारा उच्च पाठ्यक्रम में निर्धारित। **मूल्य—नौ रुपये**

प्रकाशक : **भारतीय साहित्य मन्दिर, फव्वारा, दिल्ली।**

२. **हिन्दी का आधुनिक साहित्य**

(पृ० ३००)

हिन्दी के आधुनिक साहित्य पर नई दृष्टि से विचार। कुछ विश्व-विद्यालयों द्वारा पाठ्यक्रम में निर्धारित। **मूल्य—चार रुपये**

प्रकाशक : **भारतीय साहित्य मन्दिर, फव्वारा, दिल्ली।**

प्रैस में :

१. **वाक्यपदीय : शब्द और अर्थ**
२. **भाषा-विज्ञान : नई दृष्टि**
३. **प्राच्य-विद्या : कुछ निबन्ध**

शोध-प्रबन्ध

भाषातत्व और वाक्यपदीय

(LINGUISTICS & VĀKYAPADĪYA)

WITH A SUMMARY IN ENGLISH

(आगरा विश्वविद्यालय में पी० एच्० डी० के लिए स्वीकृत शोध-प्रबन्ध)

भूमिका लेखक

डॉ० बाबूराम सक्सेना डी० लिट्०

लेखक

डॉ० सत्यकाम वर्मा पी-एच्० डी०

प्रकाशक

भा र ती य प्र का श न

नई दिल्ली – १८

एकमात्र वितरक

चौखम्बा विद्याभवन – चौक – वाराणसी

प्रकाशक

भारतीय प्रकाशन मन्दिर
७/३, अशोक नगर, नई दिल्ली-१८

जनवरी १९६४

मूल्य : पन्द्रह रुपये

एकमात्र वितरक

१. चौखम्बा विद्याभवन – चौक – वाराणसी
२. चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफ़िस
पो० बा० नं० ८, गोपाल मन्दिर लेन, वाराणसी

प्रकाश प्रिंटिंग वर्क्स, लाल दरवाज़ा, सीताराम बाज़ार, दिल्ली में मुद्रित।

प्राची और प्रतीची के

प्राच्यविदों और भाषाविदों को

जिन्हें

भर्तृहरि और वाक्यपदीय

अब भी एक चुनौती दे रहे हैं

संकेत

ग्रन्थ		संकेत
ऋग्वेद	—	ऋ०
अथर्ववेद	—	अथर्व०
निरुक्त	—	नि०
भगवद्गीता	—	गीता
मीमांसा दर्शन	—	मी०
,, ,, शाबरभाष्य	—	मी० शाबर०
सांख्यदर्शन	—	सांख्य
वृत्तिकार ग्रन्थ	—	वृत्ति० ग्रन्थ०
पाणिनीय शिक्षा	—	पा० शि०
पाणिनीय अष्टाध्यायी	—	पा०
पातंजल महाभाष्य	—	महा०
महाभाष्य वर्त्तिक	—	महा० वा०
महाभाष्य 'त्रिपदी टीका'	—	त्रिपदी
काव्य प्रकाश	—	काव्य०
साहित्य दर्पण	—	सा० द०
रस गंगाधर	—	रस गं०
वाक्य पदीय	—	वा०
अर्थविज्ञान और व्याकरण-दर्शन	—	अर्थ० व्याक०
दि फिलॉसॅफी ऑफ़ ग्रामर	—	ph. & gr.
स्पीच एण्ड लैंग्वेज	—	sp. & lg.
लैंग्वेज (ब्लूमफ़ील्ड)	—	Lang.
लैंग्वेज (व्हाट्माऊ)	—	Lang. (NAL)

भूमिका

भाषातत्वों के विवेचन की परम्परा भारतवर्ष में प्राचीनतम काल से चली आ रही है। **"चत्वारि वाक् परिमिता पदानि"**, **"तुरीयां वाचं मनुष्या वदन्ति"**, **"तां (वाचं) विश्वरूपाः पशवो वदन्ति"** इत्यादि श्रुति के वाक्यों से स्पष्ट है कि भाषा के विषय में मनन यहाँ आदिकाल में प्रारम्भ हो गया था। श्रुति को सुरक्षित रखने के जो साधन आर्य मनीषियों ने निकाले, वे भाषा के विशेष विश्लेषण की शक्ति के बिना संभव नहीं हो सकते। यह परम्परा उत्तरोत्तर उन्नति करती गई। यास्क के निरुक्त में वैदिक मन्त्रों के अर्थ के विवेचन की जो परिपाटी दिखाई देती है, वह अर्थतत्त्व के निर्धारण के मूलभूत सिद्धान्तों पर प्रकाश डालती है। प्रातिशाख्यों में ध्वनि के सर्वांगीण विश्लेषण पर विचार किया गया है और प्रयोजन है शुद्ध उच्चारण। **पाणिनि-कात्यायन-पतंजलि** इस मुनित्रय ने भाषा के मानक रूप का निर्धारण किया और वैदिकी से जो भेद पड़ गया था उसे स्पष्ट किया। पतंजलि के महाभाष्य में जिन तत्त्वों पर विचार किया गया, वे **शब्दानुशासन** को भी दर्शन की कोटि में ले आते हैं। भर्तृहरि का **वाक्य-पदीय** भी उसी परम्परा का आकर ग्रन्थ है। यह आगे बढ़ती रही और नागेश भट्ट की कृतियों में इसने उत्कर्ष प्राप्त किया।

वाक् क्या है ? श्रुति ने कह दिया **'देवीं वाचमजनयन्त देवाः।'** ये 'देवाः' कौन हैं ? इन्द्र ने वाणी को बीच से काट दिया और उसके दो टुकड़े हो गए। इस प्रतीकात्मक कथन का क्या अभिप्राय है ? तुरीय भाषा तो मानव बोलता है, पहले की तीन कौन सी हैं उनका स्वरूप क्या है और कहाँ रहती है ? जिस 'मनस्' में ऋचाएँ, साम, यजुः, रथ की नाभि में अरों की तरह प्रतिष्ठित हैं और जिस में प्रजाओं का सारा "चित्त" बुना हुआ है वह मन क्या है ? कोई तो वाणी को देखता हुआ भी नहीं देख पाता, कोई उसे सुनता हुआ भी नहीं सुन पाता पर किसी के आगे वाणी अपना स्वरूप खोलकर रख देती है ? कौन है ऐसा सौभाग्यशाली मानव ? कोई प्रजापति है, तो कोई वाचस्पति भी है। उसका स्वरूप कैसे पहचाना जाय, कैसे उसका साक्षात्कार हो, यही समस्याएँ हैं।

प्राचीन भारत के भाषाविज्ञान विषयक चिन्तन में तिथिक्रम से सर्वप्रथम नाम यास्क का आता है । महत्व की दृष्टि से यास्क के उपरान्त व्याकरण के मुनित्रय की श्रेष्ठता सर्वसम्मत है इनके पहले और बाद भी बहुत से मनीषियों ने इस शास्त्र का चिन्तन किया । किन्तु मुनित्रय के उपरान्त जिनका नाम विशेष उल्लेखनीय है, वह हैं भर्तृहरि । पतंजलि के समान इन्होंने कुछ भौतिक प्रश्न उठाये और उनका सन्तोषप्रद समाधान प्रस्तुत किया । इनका विवेचन प्रस्तुत प्रबन्ध में श्री सत्यकाम वर्मा ने किया है ।

इस ग्रन्थ में सत्यकाम जी ने भर्तृहरि के अनुसार वाक् का स्वरूप निर्धारित किया है और इस दिशा में व्याकरण का महत्व बताया है । वाक् को ही भर्तृहरि ने 'शब्द' भी कहा है प्रायः उसी अर्थ में जिसमें दण्डी ने काव्यादर्श की इस उक्ति में प्रयोग किया था—

इदमन्धंतमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम् ।
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारान्न दीप्यते ।।

वाक् के बाद वाक्य का स्वरूप बताया गया है । वाक् के विषय में भर्तृहरि ने प्रचलित मतों पर विचार किया और उसकी अखंडता को सर्वोपरि स्वीकार किया । आज भी भाषाविज्ञानी वाक्य को ही भाषा की इकाई मानते हैं । पद का अस्तित्व सिद्धान्तरूप से सन्दिग्ध है और पद में वर्णों का । तभी भर्तृहरि ने कहा था—

पदे न वर्णा विद्यन्ते, वर्णेष्ववयवा न च ।
वाक्यात्पदानामत्यन्तं प्रविवेको न कश्चन ।।

तथापि पद और पदभेद का विवेचन अपेक्षित था और इसे भी सत्यकाम जी ने अच्छी तरह निभाया है ।

वाक्य में अर्थ रहता है । मीमांसक इसी को मुख्य मानते हैं और इसी कसौटी पर वह दर्शन की प्रतिष्ठा करते हैं । इस अर्थ का स्वरूप और अर्थ भेद तथा शब्द और अर्थ का सम्बन्ध इन विषयों का विवेचन सत्यकाम जी ने किया है । उसके उपरान्त शब्दशक्तियों का तात्विक दृष्टि से विचार है । वह भर्तृहरि का मत स्पष्ट करने में समर्थ हुए हैं । सत्यकाम जी के ग्रन्थ में अन्तिम विवेच्य विषय हैं वाक्यार्थ और वाक्य-भेद । वाक्यार्थ का बोध 'प्रतिभा' के द्वारा होता है, यह तत्त्व जो आधुनिक भाषाविज्ञानी ने पकड़ा है, वह डेढ़ हजार साल पहले भर्तृहरि ने प्रतिपादित किया था ।

सत्यकाम जी के इस प्रबन्ध में उक्त विषयों का ही अध्ययन है । **वाक्यपदीय** की एक एक बात को लेकर कई प्रबन्ध उपस्थित हो सकते हैं । भर्तृहरिकृत **त्रिपदी भाष्य** का अध्ययन तो अभी हुआ ही नहीं है । आशा की जाती है कि श्री सत्यकाम

वर्मा के सफल प्रयत्न को देखकर अन्य योग्य और अधिकारी विद्वान् इस कार्य की ओर अग्रसर होंगे। सत्यकाम जी की विषय के प्रतिपादन की शैली चित्ताकर्षक और सुबोध है और उनको भाषा पर अच्छा अधिकार है। गहन सामग्री को अच्छे सरल रूप में प्रस्तुत कर देना अपना ही मूल्य रखता है। इस ग्रन्थ से भारतीय विद्वान्, विशेषकर प्राचीन भारतीय वाङ्मय और भाषाविज्ञान के पंडित, लाभ उठा सकेंगे। परन्तु विदेशी भाषाविज्ञानी इससे वंचित रह जायँगे। यदि इसका अंग्रेज़ी संस्करण निकाला जा सके तो भाषाविज्ञान का अन्तर्-राष्ट्रीय क्षेत्र भी लाभान्वित हो सकता है। मैं विश्वासपूर्वक कह सकता हूँ कि प्रस्तुत ग्रन्थ ने हिन्दी साहित्य की श्रीवृद्धि की है और इसके लिए डॉ० सत्यकाम वर्मा साधुवाद के पात्र हैं।

—बाबूराम सक्सेना

नई दिल्ली,
१-१-६४

An Opinion

"I was interested by your keen and suggestive analysis of Vakyapadiya, showing the passage to higher speculations as based on grammar. I think your study if written in English would interest many a linguists of today in the West, outside the small circle of Indologists.

Your Concluding Remarks are also thought-provoking, although perhaps a little too bold.

Paris L. Renou

दो शब्द

'वाक्यपदीय' संस्कृत में लिखी हुई भाषा-विज्ञान और भाषा-तत्व की अपूर्व कृति है। इसके लेखक भर्तृहरि को 'पद-वाक्य-प्रमाणज्ञ' कहा गया है। इस बात की सत्यता 'वाक्यपदीय' और 'त्रिपदी-टीका' के अध्ययन से ही स्पष्ट हो सकती है। हिन्दी या किसी अन्य भारतीय या विदेशी भाषा में अब तक इन दोनों ही ग्रन्थों के तत्व का विश्लेषण करने वाला कोई ग्रन्थ प्रकाश में नहीं आया था। 'वाक्यपदीय' का उल्लेख प्रसंगवश प्रायः किया जाता रहा है, किन्तु उसका भाषातात्त्विक दृष्टि से अध्ययन अब तक नहीं हुआ था। इसीलिए मैंने श्री सत्यकाम वर्मा को इस कार्य में प्रवृत्त किया था और इसे उन्होंने बड़ी लगन और मनोयोग से मेरी देखरेख में ही पूरा किया। यह प्रबन्ध उपर्युक्त कमी को बहुत दूर तक पूरा कर देता है। स्वयं लेखक का विचार है कि इस विषय में अभी बहुत कुछ करना बाकी है। मेरी भी यही धारणा है कि इस अध्ययन को आरम्भिक प्रयासमात्र मानकर इसमें उल्लिखित सिद्धान्तों पर अधिक विस्तार से विचार होना चाहिए। इस प्रबन्ध के लेखक ने जितनी नयी बातें कहीं हैं, उनसे संभवतः यह भ्रम हो सकता है कि उनकी ओर स्वयं वाक्यपदीय-कार का ध्यान था या नहीं! पर विस्तृत अध्ययन करने पर वे सिद्धान्त वैज्ञानिक और प्रमाण-पुष्ट प्रतीत होंगे।

वर्मा जी का यह प्रयास आज के सभी भाषाविदों के लिए न केवल अध्ययन के लिए उपयोगी है, बल्कि इससे उन्हें इस बात का भी प्रमाण मिलेगा कि अभी संस्कृत की ऐसी महत्त्वपूर्ण कृतियों का पूर्ण मूल्यांकन होना बाकी है। वर्मा जी ने इसमें 'त्रिपदी-टीका' के जो गिने-चुने उद्धरण दिये हैं, उतने से ही उस महान ग्रन्थ की उपयोगिता स्पष्ट हो जाती है। आशा है, वे स्वयं इसका विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत करेंगे। साथ ही मैं चाहता हूँ कि अन्य भाषाविद भी इस दिशा में प्रवृत्त हों।

मुझे विश्वास है आधुनिक भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन में प्रस्तुत प्रयास का लाभ यथावत् उठाया जायगा। इस पांडित्यपूर्ण और सफल कृतित्व के लिए मैं डॉ० सत्यकाम वर्मा को शुभाकांक्षाओं के साथ बधाई देता हूँ और आशा करता हूँ कि भविष्य में भी वे अपने स्वाध्याय और भाषा को अनवरत जारी रखेंगे।

विश्वनाथ प्रसाद
निदेशक
केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय

दिनांक २८-१२-६३

लेखक का वक्तव्य

प्रस्तुत प्रबन्ध आगरा विश्वविद्यालय में पी-एच्०डी० की उपाधि के लिए स्वीकृत किया गया है। परीक्षकों ने इसकी परीक्षा के बाद जो सम्मति इस पर प्रकट की है, वह केवल प्रस्तुतकर्ता के उत्साह को बढ़ाने वाली ही नहीं है, बल्कि कई दृष्टियों से मननीय भी है। इस प्रबन्ध के विविध अंशों को विश्व के अन्य भी कई सम्मान्य विद्वानों ने देखा है। प्रायः सबकी ही सम्मति एक रही है कि वाक्यपदीय का सही-सही अध्ययन न तो अब तक हुआ ही है, और न ही उस दिशा में निश्चित और स्थिर प्रयास किये गये हैं। एक समीक्षक ने प्रस्तुत प्रबन्ध को 'फिलॉसफी ऑफ़ लैंग्वेज' का नाम दिया है। दूसरे मान्य विद्वान् ने इसे 'प्रिन्सिपल्स ऑफ लैंग्वेज' का नाम दिया है। प्रबन्ध-लेखक को दोनों ही नाम सहर्ष स्वीकृत हैं। सत्य यह है कि यदि वाक्य-पदीय का भाषा या वाणी के साथ, इस प्रकार का सम्बन्ध स्वीकृत कर लिया जाय, तब उसका अध्ययन और भी अधिक आवश्यक हो उठता है। प्रबन्ध-लेखक का यह निजी विश्वास है कि उसने अब तक **भाषा-तत्व** और **भाषा-विज्ञान** पर जितनी भी ग्रन्थ-राशि का अध्ययन किया है, वह सम्पूर्ण ही **वाक्यपदीय** के सामने पंगु और जटिल सिद्ध होती है। विषयों का इतना विस्तार और इतना विवेचन अयन्त्र कहीं भी देखने को नहीं मिला; पूर्णता की बात तो छोड़ ही देनी चाहिए। यदि विषय की व्यापकता तक ही बात सीमित होती, तो भी कुछ अधिक महत्त्वपूर्ण बात न थी। पर, लेखक का ध्यान खींचने का सबसे बड़ा और मूल कारण तो यह था कि वाक्यपदीय का रचयिता जिस मौलिक और नवीन दृष्टिकोण को लेकर चला है, वह दृष्टिकोण परम्परा की अन्धानुगामिता को लेकर चलने वाला कोई लेखक नहीं रख सकता। 'वाक्यपदीय' के अब तक के आलोचक और टीकाकार प्रायः उपलब्ध टीकाओं तक ही अपने को सीमित रखते रहे हैं। या फिर, उन्होंने किसी भी आने वाले विशिष्ट नाम को देखते ही, उसे विविध प्रकार के वादों के जाल में उलझता हुआ सिद्ध कर दिया।

'त्रिपदी' से तुलना

एक सत्य की उपेक्षा अब तक की जाती रही है, वह यह कि **वाक्यपदीय** और **त्रिपदी-महाभाष्य** एक ही लेखक की दो कृतियाँ है। उन दोनों का ही आधार भाषा है। उन दोनों को समानान्तर रखकर अध्ययन किये बिना मूल सत्य को पा सकना सर्वथा असम्भव है। सत्य यह है कि इस समय के ज्ञात संसार में बहुत कम

व्यक्तियों ने ही **त्रिपदी-महाभाष्य** का अवलोकन किया है; अध्ययन की तो बात ही किनारे रही। इस स्थिति में हमें सन्देह है (और यह सन्देह साधार है) कि वाक्यपदीय के समस्त अध्येता सत्य के मूल तक पहुँच भी पाये है या नहीं ? यह बात इसलिए अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाती है कि आज 'त्रिपदी-भाष्य' का जो अध्ययन हो रहा है, उसमें 'वाक्यपदीय' की उपेक्षा की जा रही है। परिणाम यह कि दोनों ही प्रकार के अध्ययन हमारे सामने अधूरे रूप में आते हैं। लेखक की यह दृढ़ धारणा है कि दोनों का समानान्तर अध्ययन इस बात को सिद्ध कर देगा कि वाक्यपदीय का मूल विषय **'भाषा का दर्शन'** या 'भाषा तात्त्विक अध्ययन' है। इसे ही हम **'भाषा के सिद्धान्त'** के रूप में भी कह सकते हैं। इस प्रबन्ध के प्रथम अध्याय में हमने यह बात अधिक सप्रमाण सिद्ध की है कि वस्तुतः 'वाक्यपदीय' का अपना अर्थ भी 'भाषा-तत्त्व' ही है। **वाक्य वाणी का आधार है और पद भाषा का** – गार्डिनर और ब्यूलर की यह उक्ति सम्भवतः वाक्यपदीय के अध्ययन पर ही, अप्रत्यक्षतः, आधारित है। यही कारण है कि भर्तृहरि ने प्रथम दो काण्डों में मुख्य विषय को समाप्त कर देने के बाद भी, पद का व्याख्यान – प्रकीर्णक के रूप में – तृतीय काण्ड में किया है।

विचारों की नवीनता

इस सब कथन का अभिप्राय यह है कि वाक्यपदीय संस्कृत में लिखी गई भाषा-तत्व की वह अपूर्वतम कृति है, जिसे पढ़े बिना आज की बहुत-सी भाषा-वैज्ञानिक समस्याएँ असमाहित रहेंगी, और जिसे पढ़कर हम बहुत-सी नई समस्याओं से जानकारी पा सकेंगे। यह आश्चर्य की बात है कि 'वाक्यपदीय' के रचयिता का ध्यान केवल दार्शनिक युक्तिक्रम की ओर नहीं रहा है। व्याकरण की परम्परागत और मान्य परिभाषाओं में तो वह यों भी नहीं उलझा है। उसका ध्यान यथार्थ पर आधारित भाषा के विश्लेषण पर अधिक रहा है। उसका दर्शन नितान्त व्यावहारिक है। यही कारण है। कि उसने भाषा की ऐन्द्रियक उत्पत्ति जैसे विषयों पर विचार करने में भी कमी नहीं की है। **भौतिक पक्ष, रचनात्मक पक्ष, या दार्शनिक पक्ष** – सभी – में भर्तृहरि ने कुछ ऐसे नवीन तथ्यों का उद्घाटन किया है, जिनसे आज के भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन को नवजीवन मिल सकता है। पर प्रश्न यही है कि क्या इस दिशा में आज के भाषाशास्त्री बढ़ना भी चाहेंगे ?

इस प्रबन्ध का बँटवारा देखने पर आपाततः यह प्रतीत होगा कि जैसे हठात् इसे भाषा-तात्विक कृति सिद्ध करने का यत्न किया गया है। पर तनिक धैर्यपूर्वक अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जायगा कि लेखक ने अपने मतों को मूल रचनाकार के मतों पर लादने का प्रयत्न नहीं किया हैं। एक प्रसिद्ध यूरोपीय भाषाशास्त्री ने लेखक के अंग्रेजी में अनूदित कुछ विचारों को पढ़कर यह आश्चर्य व्यक्त किया था कि

कदाचित् ऐसे आधुनिक और मौलिक विचार भर्तृहरि के न रहे होंगे। पर सत्य यह है कि यदि 'वाक्यपदीय' को पढ़ते हुए लेखक के युक्तिक्रम में कुछ भी मौलिकता या नवीनता आ पाई है, तो यह उसकी अपनी नहीं है। यह सम्भव है कि 'वाक्यपदीय' का युक्तिक्रम उसके मस्तिष्क पर इस प्रकार छा गया हो कि वह उलझनपूर्ण स्थलों पर स्वयं उसी युक्तिक्रम द्वारा अपना मार्ग निश्चित कर लेता हो। पर फिर भी, वह यह कहने का साहस नहीं कर सकता, और न उसकी ऐसी महत्वाकांक्षा ही है, कि इस प्रबन्ध में उसकी अपनी कुछ भी मौलिकता है। यह एक प्रयास मात्र है, जिसमें मूल वक्तव्य को अधिकाधिक समझने और ग्रहण करने का प्रयासकिया गया है। इसमें यदि कुछ भी मौलिकता है, तो वह यही कि इसके लेखक ने, परम्परागत टीकाओं या दार्शनिक धारणाओं के विश्लेषण में न जाकर, भर्तृहरि के वक्तव्य को भर्तृहरि के ही माध्यम से स्पष्ट करने का प्रयास किया है। इस विषय में उसने प्रथमबार त्रिपदी महाभाष्य में प्रस्तुत की गई युक्तियों का भी उपयोग किया है। ये युक्तियाँ 'वाक्यपदीय' की युक्तियों से सर्वथा अभिन्न है। हाँ, इनके द्वारा 'वाक्यपदीय' के युक्तिक्रम को समझने में अत्यधिक सहायता अवश्य मिलती है।

मुख्य विषय

हम उक्त दोनों कृतियों के तुलनात्मक अध्ययन के बाद एक बार स्पष्ट रूप में यह कह सकते है कि **वाक्यपदीय का मुख्य विषय भाषा-तत्व या भाषा-दर्शन है, जबकि त्रिपदी महाभाष्य का मुख्य विषय है व्याकरण-दर्शन**। इस पर भी दोनों का परस्पर कितना सम्बन्ध है, यह इससे ही स्पष्ट हो जाता है कि 'वाक्यपदीय' के तृतीय काण्ड में केवल व्याकरण की ही चर्चा प्रधान रही है, जब कि त्रिपदी महाभाष्य में स्थान-स्थान पर, महाभाष्य की ही भाँति, भाषा और वाणी के विविध पक्षों पर अधिक बल रहा है। इस प्रकार उन दोनों का परस्पर उपकारक रूप स्पष्ट ही है। इसलिए यदि प्रस्तुत प्रबन्ध के परिणामों से किन्हीं परम्परानुगामी विद्वानों की सहमति न हो, तो लेखक को कुछ आश्चर्य न होगा। इस पर भी उसका आग्रह इसी बात पर है कि वाक्यपदीय को **भाषा की सैद्धान्तिक विवेचना** का ग्रन्थ ही स्वीकार किया जाए।

प्रमुख धारणाएँ

शब्द ब्रह्म

भर्तृहरि की कुछ प्रमुख धारणाओं के विषय में कुछ कह देना यहाँ उचित ही रहेगा। सर्वप्रथम हमें उसकी शब्द-ब्रह्म की धारणा का साक्षात् होता है। अपने प्रथम श्लोक में ही भर्तृहरि ने शब्द-तत्व को 'ब्रह्म' कहा है। उनका यह कथन किसी दार्शनिक का कथन नहीं है। अगले कुछ श्लोकों में यह बात कई बार दार्शनिक के से

युक्तिक्रम में कही गई प्रतीति होने लगती है, पर सत्य यह है कि, भर्तृहरि ने जब शब्द को ब्रह्म से उपमित कर ही दिया, तब वह ब्रह्म की समस्त मान्यताओं को भी शब्द पर घटा कर दिखाते हैं। इस प्रकाश में देखने पर प्रथम काण्ड में आई हुई उनकी समस्त युक्तियाँ दर्शन के ब्रह्म पर ही घटती हुई दिखाई देंगी। परन्तु 'शब्द-ब्रह्म' का वास्तविक स्वरूप क्या है? इस बात को भली प्रकार हम तभी जान सकेंगे जब हम उनके **शब्द-सन्तान** और **प्रचयापचयात्मक** शब्दों को सही रूप में पढ़ लेंगे। इसमें शैवों या वेदान्तियों के किसी वाद की व्याख्या की आवश्यकता हमें अनुभव नहीं होती। यह एक व्यावहारिक कथन है। भर्तृहरि **प्रचय** और **अपचय** की व्याख्या स्वयं ही आगे चलकर करते हैं। उन्होंने यह स्वीकार किया है कि कोई शब्द आज जिस अर्थ में प्रचलित है, कल वह उस अर्थ से रहित भी हो सकता है और, फिर बाद में कभी, उसी अर्थ में पुनः रूढ़ भी हो सकता है। स्पष्ट है कि इसी भाँति उसमें नये अर्थ भी आ सकते हैं और कुछ अर्थ सदा के लिए उससे छूट भी सकते हैं। पर, इस पर भी शब्द बृंहणशील — **ब्रह्म** — ही रहता है। वह अपनी सीमाओं से आगे बढ़ता ही रहता है। उसकी सीमा — अल्प या महान् — स्फोटकाल या किसी अन्य ध्वनि आदि पर आधारित नहीं है, बल्कि उसकी सीमा का वास्तविक आधार अर्थ या भावना पर आधारित है। वास्तव में तो शब्द है ही इस अर्थ-भावना का नाम, जिसे हम अभिधेय, प्रतिपाद्य, शब्द-भावना, या अर्थभावना — कुछ भी — कह सकते हैं। इस अर्थ में निरन्तर गतिमयता, प्रसरणशीलता आदि रहती है। उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय की बात का जहाँ तक सम्बन्ध है, भर्तृहरि उसे भी घटा कर दिखाते हैं। शब्द के अन्दर तीन प्रकार की स्थिति को वे स्वीकार करते हैं। इन्हें हम उसकी शक्ति भी कह सकते हैं। ये है धारणा, विस्तार और प्रत्यावर्तन। 'धारणा' **स्थिति** का ही दूसरा नाम है। 'विस्तार' **प्रलय** का रूपान्तरण मात्र है। और, 'प्रत्यावर्तन' को हम **उत्पत्ति** का रूपान्तरण कह सकते हैं। **रिटेन्शन, एक्सपेन्शन** और **रिवाइवल** के रूप में शब्द की त्रिविध गति उसे ब्रह्म ही सिद्ध करती है। यही है भर्तृहरि के विवर्त का स्वरूप। उनकी व्याख्या विवर्तवाद के द्वारा करना उचित नहीं। जिस प्रकार ब्रह्म सर्वशक्तिमान् होकर भी स्वयं आकृतिहीन है, उसी प्रकार शब्द का वास्तविक रूप उसका बाहरी आकार नहीं है, बल्कि उसकी अन्तर्भावना या अन्तश्चेतना है। इस बात को भर्तृहरि ने अनेकत्र अत्यन्त बल के साथ दुहराया है।

यह 'शब्द-ब्रह्म' शब्द, संज्ञा, क्रिया या पद के रूप में कोई इकाई नहीं है। 'शब्द-तत्व' का अर्थ 'वाक्-तत्व' ही है। इसे भर्तृहरि ने इस प्रकार स्पष्ट किया है: 'यदि वाक् का माध्यम न हो तो कभी किसी की भावनाओं को प्रकाशित होने का अवसर न मिल पाये। संसार को आपस में जोड़ने वाली और पारस्परिक व्यवहार

की माध्यमभूता शक्ति भी यह वाक्-तत्व ही है।'

अभिव्यक्ति के चरण

वाक् की अभिव्यक्ति के सम्बन्ध में भी भर्तृहरि के कुछ मौलिक विचार है। इन विचारों को न समझने के कारण बहुत से व्याख्याताओं और टीकाकारों ने अनेक भ्रमों का सृजन कर दिया है इनमें से एक भ्रम यह है कि भर्तृहरि वाक् की अभिव्यक्ति के तीन चरण स्वीकार करते है। यह धारणा कितने भ्रम पर आधारित है, इसका अन्दाज़ हमें तभी होगा, जब हम उनके द्वारा गिनाये गये चरणों से पूर्व के वक्तव्य पर भी ध्यान दें। तब हम जान पायेंगे कि उन्होंने तीन चरण गिनाते हुए केवल इतना ही कहा है कि व्याकरण के क्षेत्र में इन तीन चरणों की ही विवेचना सम्भव है। दूसरे शब्दों में, व्याकरण की चर्चा करते हुए चौथे चरण की चर्चा अनावश्यक ठहरती है। सत्य यह है कि इन तीन् चरणों से परे चौथे चरण के विषय में भी भर्तृहरि ने बारबार बल दिया है। परन्तु वे उसे भाषा-विवेचन का मुख्य आधार नहीं स्वीकार करते।

लोक-भाषा का महत्व

इसी प्रकार का भ्रम एक और विषय में भी खड़ा किया गया है। यह माना गया है कि भर्तृहरि, अपभ्रंश शब्दों को उचित मान्यता न देकर, व्याकरणसम्मत शब्दों को ही मान्यता देते हैं। ऐसे आलोचकों ने व्याडि द्वारा दी गई अपभ्रंश की मान्यता का भी कुछ और ही अर्थ कर दिया है। उन्हें पतंजलि द्वारा लोक-भाषा के महत्व-वर्णन में भी कुछ और ही रहस्य दिखाई देता है। पर, एक और अविभक्त सत्य यह है कि भर्तृहरि, अपने पूर्वाचार्यों की भांति, लोक-भाषा के सबसे बड़े हामी थे। उन्होंने प्रथम बार जन-प्रचलित शब्दों को प्रधानता दी है। इसी कारण उन्होंने भाषा के विषय में, लोक के महत्व को पूरी तरह स्वीकार किया है। कुछ जगह उन्हें अत्यन्त बलपूर्वक यह घोषणा करनी पड़ी है कि व्याकरण किन्हीं साधु-शब्दों का निर्णायक नहीं है, बल्कि वह तो परम्परा की व्याख्या करने का एक साधन मात्र है। उससे हमें लोक प्रयोग की परम्परा जानने और समझने में आसानी भर हो जाती है, पर उससे भाषा की बढ़ती का नियन्त्रण नहीं किया जा सकता।

कुछ विशेष शब्द

इस प्रसंग में हमें एक भ्रम की ओर इंगित करना है। भर्तृहरि ने **श्रुति, स्मृति** और **आगम** शब्दों का प्रयोग बहुधा किया है। हमने भर्तृहरि की अपनी ही उक्तियों के आधार पर इनके कुछ अर्थ निश्चित किये हैं। एक मान्य विद्वान् ने हमारे इन अर्थों पर आपत्ति करते हुए उन्हें हमारी अपनी ही 'मौलिक खोज' कह देना उचित समझा है। सत्य यह है कि भर्तृहरि जब भी किसी सत्य को कहते हैं, तो उनके उस वक्तव्य

की स्पष्टता हमें उन्हीं द्वारा अन्यत्र भी कई स्थलों पर उद्घोषित मिल सकती है। उदाहरणार्थ हम यहाँ इन तीन परिभाषाओं पर संक्षेप में प्रकाश डालना उचित समझते हैं। भर्तृहरि ने श्रुति को 'अकर्तृका' माना है जबकि स्मृति को वे 'सनिबन्धना' स्वीकार करते हैं। यदि यहाँ हम इतना और स्पष्ट कर दें कि वे श्रुति की व्याख्या 'अनादि' और 'अव्यवच्छिन्ना' कह कर करते हैं, तब यह और भी स्पष्ट हो जाएगा कि 'अकर्तृका' का अर्थ क्या है। यह एक 'व्यवस्था' है। इसे हम परम्परा कह सकते हैं, या 'लोक-आगम'। 'स्मृति' वे व्याकरण का ही एक दूसरा नाम रखते हैं। 'सनिबन्धना' को अधिक स्पष्ट करते हुए उन्होंने 'शिष्टैर्निबध्यमाना' कहा है। इसका अर्थ हुआ कि शिष्टों के द्वारा कुछ नियम-विधान रच दिये जाते हैं, जिन्हें व्याकरण कहा जाता है। इसे ही उन्होंने 'साधुता के ज्ञान का स्रोत' कहा है। 'त्रिपदी-महाभाष्य' में भी भर्तृहरि ने व्याकरण को स्पष्टतः 'स्मृतिशास्त्र' कहा है। इन सब के अतिरिक्त 'आगम' परम्परा की मान्यता को ही पुष्ट करता है। ये सब परिभाषाएँ तब तक स्पष्ट नहीं हो सकतीं, जब तक हम भर्तृहरि के उक्त दोनों ही ग्रंथों में बार-बार प्रयुक्त इन शब्दों को न पढ़ें। इन्हें पढ़ने के बाद हम जान पाएँगे कि भर्तृहरि वास्तव में एक ही सत्य पर अनेक रूप में पूरी तरह प्रकाश डालते हैं। यही बात उनकी अन्य शब्दावली के विषय में है :

सापेक्ष दृष्टि

भाषा सम्बन्धी अन्य विचारों में से उनकी 'सापेक्ष दृष्टि' को भी समझ लेना आवश्यक है। इसे भी लेखक की अपनी ही कल्पना मान कर उपेक्षित न कर दिया जाए। उनकी यह दृष्टि, 'दर्शन' पर आधारित होकर भी, विशुद्ध दार्शनिक हीं नहीं है, यह नितान्त व्यावहारिक दृष्टि है। यह समझना नितान्त आवश्यक है कि वे इसके द्वारा किसी हठपूर्ण दृष्टिकोण अपनाने का निषेध करते हैं। यह एक ऐसी लचकीली दृष्टि है जिसमें विरोधी मतों को मान्यता देकर उन पर विचार किया जाता है। जब एक विचारक सभी विचारधाराओं पर विचार करने को तैयार हो जाए, तब वह किन्हीं दो परिस्थितियों को परस्पर विरोधी मानकर चल ही नहीं सकता। वह तो दो विरुद्ध दीखने वाली स्थितियों में भी सामञ्जस्य का सूत्र खोज ही निकालता है। उसके लिए कोई भी विरोधी स्थिति या दृष्टि एक ही सत्य को देखने का विविध उपाय होती है। व्याकरण को मार्ग या साधन स्वीकार करके भी भर्तृहरि उस की चर्चा आवश्यक मानते हैं। इसी प्रकार वे जन्म-मरण, भाव-अभाव, शब्द-अर्थ, जाति-व्यक्ति, नाम-आख्यात, पद-वाक्य आदि को परस्पर सापेक्ष संज्ञामात्र ही मानते हैं। इतना ही नहीं, अर्थ की गौण-मुख्य, वाच्य-अवाच्य, व्यंग्यलक्ष्य आदि स्थितियों को भी उन्होंने सापेक्षमात्र ही स्वीकार किया है। उनकी दृष्टि में **'सत्ता' एक है : 'नाम' उसके**

विविध रूप हैं। भावना एक है, उसकी पहचानें अलग-अलग हैं।

वर्णभाषा और वर्णान्तर सरूप

वाणी के अध्ययन के इस प्रसंग में उनकी ध्वनि-परक भौतिक अन्वेषण-शक्ति की चर्चा भी अप्रासंगिक न होगी। हमने अपने एक लेख में वर्ण-भागों की समस्या पर विस्तृत विचार किया है। हमें यह प्रेरणा भर्तृहरि से ही मिली है। वास्तव में पतंजलि ने पाणिनि के कुछ सूत्रों से सहायता लेकर **वर्णैकदेश** की कल्पना की थी। 'सन्ध्यक्षरों' की चर्चा करते हुए उन्होंने उनमें **पूर्व-पद** और **उत्तर-पद** की सत्ता को स्वीकार किया था। पाणिनि ने उन्हें 'गुण-स्वर' या 'वृद्धि-स्वर' के रूप में स्वीकार किया। इसका भी यही अर्थ था कि वे स्वर एक और मौलिक नहीं हैं, उनमें कुछ-न-कुछ मिश्रण या संयोग विद्यमान है। भर्तृहरि ने इस सिद्धान्त को पूरी तरह वैज्ञानिक बना दिया। उन्होंने यह स्पष्ट किया कि ऐसी स्थिति प्रायः प्रत्येक ध्वनि और शब्द में पाई जा सकती है। उन्होंने हमें **वर्णभाग** और **वर्णान्तरसरूप** के रूप में दो परिभाषाएँ दी हैं। ये दोनों ही उनकी विश्लेषण की अद्भुत शक्ति को स्पष्ट करती है। **ध्वनियाँ एक-दूसरे से मिलकर ही नहीं रहतीं, वल्कि बहुत-सी ध्वनियों में बहुत से समान अंश भी होते हैं** – ऐसी स्वीकृति नितान्त आधुनिक प्रतीत होती है। सच तो यह है कि पाणिनि ने जब **'सवर्ण'** संज्ञा का आविष्कार किया था, उस समय ही भारतीय धारणा में यह विचार बद्धमूल हो गया था कि ध्वनियों का निर्माण समान अंशों से मिल-जुलकर ही सम्भव हो पाता है। भर्तृहरि ने वर्णों में वर्ण-भागों की उपस्थिति को पूरी तरह स्वीकार करके, उनमें दूसरे वर्णों से मिलती-जुलती स्थिति – वर्णानान्तरसरूपता – की कल्पना की है। आज की वैज्ञानिक धारणाओं के आधार पर यह सर्वथा सत्य सिद्ध हो चुका है। अमरीकी भाषाविद् डॉ० जोसुहा व्हाट्माऊ ने इन्हीं परिणामों को संकेतित किया है।

वाक् की इकाई : वाक्य

ये सब बातें अधूरी रह जाएँगी, और कदाचित् हम भर्तृहरि के पूरे महत्व को न पहचान पाएँगे, यदि हम उनके 'वाक्यपदीय' के मूल वक्तव्य को पूरी तरह न समझ सकें। यह वक्तव्य वाक् या वाक्य के वास्तविक स्वरूप के सम्बन्ध में है। उन्होंने वाक् की एक अविभाज्य और सर्वतःपूर्ण **इकाई** के रूप में **वाक्य** को स्वीकार किया है। परन्तु, इतना कहते ही उनका वक्तव्य समाप्त नहीं हो जाता। आज के भाषा-विद् इस विषय में बहुत कम गहराई में उतरे हैं। गार्डिनर और उनकी तरह के कुछ अन्य विद्वानों ने वाक्य के स्वरूप की जितनी चर्चा की है, भर्तृहरि ने पहले ही उस सब पर पूरी तरह प्रकाश डाला है। भर्तृहरि की चर्चा उनसे भी अधिक व्यापक जा ठहरती है। भारतीय विचारकों ने भर्तृहरि से पहले **वाक् की इकाई** (वाक्य) के

सम्बन्ध में आठ विविध मत स्वीकार कर लिए थे। भर्तृहरि केवल उन सबकी सत्ता से ही परिचित नहीं थे, बल्कि उन्होंने उनका पूरा-पूरा विश्लेषण किया और इस बात को स्पष्ट किया कि ये मत मूलतः दो वर्गों में बाँटे जा सकते हैं। इन्हें हम क्रमशः वाणी का **खण्ड-पक्ष** और **अखण्ड-पक्ष** कह सकते हैं। **खण्ड-पक्ष** को उन्होंने पाँच विविध मतों के द्वारा स्पष्ट किया है और यह बताया है कि वास्तव में वाक्य के सभी खण्ड व्यावहारिक कल्पना मात्र हैं; विश्लेषण की गहराई में वे सही और सत्य नहीं ठहरते, इसके विपरीत **अखण्ड-पक्ष** में उन्होंने तीन प्रकार के विचारों का उल्लेख करके यह स्पष्ट किया है कि वाक् की मूल इकाई **वाक्य** ही ठहरती है, चाहे हम अर्थ की दृष्टि से देखें, चाहे भावना की दृष्टि से, और चाहे रचना की दृष्टि से ! यह इकाई तीनों ही दृष्टियों से एक और अविभाज्य सिद्ध होती है। भर्तृहरि की यह धारणा स्वयं में अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

नई व्याख्या

यहाँ हमें भर्तृहरि की मौलिकता और परम्परा की अस्वीकृति की ओर भी इंगित करना है। यास्क के निरुक्त का विद्यार्थी प्रायः इस भ्रम में पड़ जाता है कि औदुम्बरायण ने ध्वनियों को **इन्द्रियनित्य** माना है और इसी कारण वे पद-भेद या चार पदों की कल्पना के विरोधी हैं। उससे पाठक के मन पर प्रथम प्रभाव यह पड़ता है कि औदुम्बरायण वाणी की अर्थात्मकता को नहीं मानते थे। यदि भर्तृहरि अपने वाक्यपदीय में इस चर्चा को न छेड़ बैठते तो पाठक शायद कभी-भी यह न जान पाता कि औदुम्बरायण की इस मान्यता के पीछे प्रेरक कारण क्या था ? भर्तृहरि तो औदुम्बरायण को वाक्य की अखण्डता का सबसे बड़ा उद्घोषक स्वीकार करते हैं। उनका कहना यह है कि औदुम्बरायण ने चारों पदों की सत्ता को मानने से इसलिए निषेध कर दिया, क्योंकि वाक्य बुद्धिस्थ रूप में एक और अखण्ड होता है। यह सत्य जानने के बाद औदुम्बरायण के प्रति किसी भी भाषाविद् का सिर स्वयं झुक जाएगा। यह बात स्वयं पतंजलि भी स्पष्ट न कर सके थे। वाक्य के स्वरूप पर विचार करते हुए भर्तृहरि फिर एक नई बात कह जाते हैं : **"यह सर्वथा निराकांक्ष और स्वतःपूर्ण होता है; फिर भले ही यह एक वर्ण के रूप में क्यों न हो। वाक्य का उद्देश्य स्वयं वाक् के उद्देश्य से अभिन्न है : एक बुद्धि की भावना को दूसरी बुद्धि का विषय बना देना। यह भावना यदि एक वर्ण से ही पूरी हो जाए, तो फिर शब्दों की सार्थकता या निरर्थकता, अथवा पद-भेद आदि की बात पर विचार करना सर्वथा व्यर्थ हो जाता है।"** यही तो औदुम्बरायण का मत था।

'शब्द-शक्ति' का विरोध

बहुत से आलोचकों ने भर्तृहरि को कितना गलत समझा है, यह इस बात से

स्पष्ट हो जाएगा कि उन्होंने उन्हें शब्द-शक्तियों का पोषक स्वीकार किया है। जहाँ तक भर्तृहरि का सम्बन्ध है, इससे बड़ी भ्रान्त उक्ति उनके विषय में नहीं कही जा सकती। डा० कपिलदेव द्विवेदी तथा उनके वर्ग के अन्य आलोचकों की उक्त धारणा का विरोध, इसीलिये, श्री सूर्यनारायण शुक्ल जैसे परम्परानुगामी विद्वान् को भी करना पड़ा। वास्तव में भर्तृहरि तो 'अभिधा' नाम से जिस वस्तु को स्वीकार करते हैं, वह भी स्वयं शब्द-शक्ति की मान्यता की पहुँच में नहीं आती। उसे वे अभिधान और अभिधेय के बीच एक **नियम** स्वीकार करते हैं। उनकी दृष्टि में शक्ति कोई है ही नहीं। जहाँ तक अर्थ का सम्बन्ध है उसका वे केवल एक ही रूप स्वीकार करते हैं और वह है **वाच्य**। 'अर्थ' वाच्य के अतिरिक्त किही और रूप में रह ही नहीं सकता। शेष सभी तथाकथित अर्थ 'अवाच्य' ही समझे जाने चाहिए। परन्तु, इसका अर्थ यह नहीं कि 'अवाच्य' नाम अर्थ की किसी अन्य विधा को दे दिया जाए; क्योंकि अवाच्य होने की दशा में किसी भी चीज़ को अर्थ कहा ही नहीं जा सकता। 'अर्थ' का स्वयं अर्थ है **प्रयोजन**। जो 'अवाच्य' है वह 'प्रयोजन' कैसे हो सकता है? और, जो 'प्रयोजन' नहीं है, वह 'अर्थ' नहीं बन सकता। इसीलिए भर्तृहरि ने कहा कि, 'जिसे हम अवाच्य मानते हैं, वह भी तो जब हमारे सामने आता है तब वाच्य बनकर ही आ सकता है; किसी और रूप में नहीं।' इस प्रकार यह स्पष्ट है कि वाणी का अर्थ किसी शब्द-शक्ति जैसी मान्यता के द्वारा नहीं किया जा सकता। उसके लिए तो स्वयं वक्ता के मन तक पहुँचना बहुत आवश्यक है। और, वक्ता के इस मन तक पहुँचने का कार्य करती है **बुद्धि**। वक्ता बुद्धि के द्वारा ही किसी **अभिधेय** को वाणी का रूप देता है और श्रोता अपनी बुद्धि के द्वारा ही उस वाणी को फिर से अभिधेय के वास्तविक रूप में ही – **प्रतिपाद्य रूप में** – पा लेने का यत्न करता है। **'अर्थ' इस अभिधेय और प्रतिपाद्य के बीच की कड़ी को ही कह सकते हैं**। शब्द-शक्ति का अवकाश ही बीच में नहीं रहता। भर्तृहरि इस विषय में दो सत्यों पर बारबार बल देते हैं। उनकी दृष्टि में जो कुछ वक्ता कहता है, उसे समझना ही श्रोता का लक्ष्य होता है। यदि वह उसे नहीं समझ पाया, तो उसके लिए वाणी की सार्थकता या निरर्थकता में कोई भी अन्तर नहीं रह जाता। और, यदि वह उसे समझ गया है, तो भी उसके लिए एक वर्ण या शब्द-समूह में कोई अन्तर नहीं रह जाता। और, जब ऐसी बात है, तब शब्द-शक्ति की मान्यता का अवकाश ही कहाँ रह जाता है? क्योंकि 'अभिधा' के अतिरिक्त दोनों शक्तियों में बहुत कुछ अकथित और अनभिहित अंश को मानना पड़ता है। भर्तृहरि कहते हैं कि ऐसे किन्हीं भी शब्दों की कल्पना करके अर्थ तक पहुँचने की बात व्यवहार में सिद्ध नहीं होती। यह तो समझने वाले की अपनी अशक्ति या कमजोरी है कि वह केवल कहे हुए शब्दों से ही बात को नहीं समझ पाया, अन्यथा उसे किन्हीं दूसरे शब्दों की

बिना कल्पना किए ही यह बात पूरी समझ में आ जानी चाहिए। इसका अर्थ यह हुआ कि जो भी आलोचक लक्षणा या व्यंजना के द्वारा किन्हीं अन्तर्हित या अदृश्य शब्दों का आरोप किसी वाक्य पर स्वीकार करते हैं, भर्तृहरि उसे उचित नहीं समझते। दूसरे शब्दों में, भर्तृहरि शब्द-शक्तियों की किसी प्रकार की मान्यता के परम विरोधी हैं। कदाचित् उनके मौलिक चिन्तन का सबसे बड़ा प्रमाण उनकी इस धारणा में ही है। आलोचकों ने इसे ही किसी अन्य रूप में ले लिया।

पद-भेद

यहाँ पद-भेद के सम्बन्ध में भी एक तथ्य कह देना अधिक उचित होगा। भर्तृहरि स्वयं पद-कल्पना को निरर्थक मानते हैं। परन्तु जब विश्लेषण करने चल ही दिये, तब उसका वे पूरा वैज्ञानिक विश्लेषण किये बिना उन्हें चैन नहीं पड़ती। **उपसर्ग** और **निपात** की चर्चा करते हुए वे **कर्म-प्रवचनीय** की समानान्तर सत्ता पर विचार किये बिना नहीं रहते। इससे भी बढ़कर उनकी मौलिक चिन्तना **'नाम'** और **'आख्यात' के सम्बन्ध** में स्पष्ट हुई है। यहाँ उन्होंने इन दोनों शब्दों को परस्पर-सापेक्ष स्वीकार किया है। ये दोनों ही स्थितियाँ व्यावहारिक सुविधा के लिये स्वीकार की गई हैं। परन्तु, भर्तृहरि यहाँ यह भी स्पष्ट कर देते हैं कि दोनों के बीच केवल एक ही अंतर है : वह है **क्रम** का। वे क्रिया को 'साध्य' नाम देते हैं और संज्ञा को 'साधन'। **साध्य** का अर्थ यही हो जाता है कि उस अवस्था में कोई बात घटने की स्थिति में होती है, जिसका परिणाम हम बाद में अपेक्षित करते हैं। **साधन** में यह बात नहीं होती। इसे ही वे 'सिद्ध' नाम भी देते हैं। जहाँ घटने की वह स्थिति समाप्त होकर एक पूर्ण और घटित स्थिति सामने आ जाती है, तब 'क्रिया' की अवस्था समाप्त होकर 'नाम या संज्ञा' की अवस्था आ जाती है। यही है उनकी **सत्व** और **भाव** की व्याख्या। इस प्रकार 'पद-भेद' जैसे विषय को भी वे केवल रीति निभाने के लिए ही वर्णित नहीं करते, बल्कि उसके सम्बन्ध में भी अपने मौलिकतम सिद्धान्तों और अध्ययनों को वें प्रस्तुत करते हैं।

अर्थ : मुख्य और गौण

इस सम्बन्ध में वक्तव्य को समाप्त करने से पूर्व भर्तृहरि के अर्थ-सम्बन्धी वक्तव्य पर भी विचार कर लेना अभीष्ट होगा। इस विचार को देखने के बाद यह स्पष्ट समझ में आ जाएगा कि वे भाषा और लोक के परस्पर सम्बन्ध को किस दृष्टि से देखते हैं? वास्तव में उन्होंने **मुख्य और गौण** अर्थों की चर्चा करते हुए उन्हें 'लोक-प्रसिद्धि' पर आधारित माना है। स्पष्ट है कि लोक-प्रसिद्धि जन-प्रयोग और परम्परा पर आधारित रहती है। उनकी यह बात केवल **मुख्य और गौण** अर्थों पर ही समान रूप में लागू नहीं होती, बल्कि वे इसी युक्ति को **अपभ्रंश** और तथाकथित **साधु-भाषा**

पर भी लागू करते हैं। उनका कहना यह है कि समस्त अर्थ-पद्धति के निर्णय में ही परम्परा या लोक-प्रसिद्धि का हाथ रहता है। चाहे हम उसे बिगड़े हुए **अपभ्रंश-शब्द** के रूप में कह लें, **साधु-शब्द** के रूप में, अथवा **गौण या मुख्य अर्थ** के रूप में ! लोक-प्रसिद्धि इन सब में ही अर्थ-निर्धारण का कारण बनती है। जो अर्थ अप्रसिद्ध हुआ उसे हमने 'गौण' कह दिया और जो प्रसिद्ध हुआ उसे हम 'मुख्य' कह बैठते हैं। परन्तु यहाँ यह भी स्मर्त्तव्य है कि भर्तृहरि जब अर्थ की इस चर्चा को करते हैं, तब उनका आशय 'सिद्धि' से प्रसिद्धि का ही नहीं होता, बल्कि वे इसके द्वारा **अर्थ-प्राप्ति** की स्थिति को भी घोषित करते हैं। अर्थात्, जहाँ जो भी अर्थ-प्राप्ति हो जाती है वही **मुख्य** कहलाती है, और जो अर्थ-प्राप्ति नहीं हो पाती वह **गौण** बन जाती है। परन्तु अन्ततः गौण और मुख्य का यह भेद, उनके ही शब्दों में, केवल एक प्रकल्पनामात्र है !

उच्चारण और ग्रहण : समान चरण

अर्थ के रूप और उसकी उपलब्धि की चर्चा करते हुए भी भर्तृहरि ने एक मौलिक सत्य का उद्घाटन किया है। इससे पूर्व हम श्रोता और ग्रहीता में शब्द के प्रति एक-सी उत्सुकता और एक-से निश्चय की सूचना दे आये हैं। भर्तृहरि इससे भी आगे बढ़कर उन दोनों में एक समान प्रक्रिया को स्वीकृति देते हैं। उन्होंने जहां **वक्ता में**, इच्छा, मनोभाव, प्रयत्न और उच्चारण के रूप में, परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी के चरणों को मान्यता दी है, वहाँ वे **श्रोता में** वे इससे बिलकुल उलटे क्रम में नाद, स्फोट, ध्वनि (व्यक्ति) और स्वरूप को मान्यता देते हैं। ये चारों चरण क्रमशः ध्वनि-ग्रहण, प्रथम अर्थ-व्यक्ति, विश्लिष्ट-व्यक्ति और वास्तविक ग्रहण का प्रतिनिधित्व करते हैं। आधुनिक भाषाविद् गार्डिनर ने इनसे मिलते-जुलते चरणों को ही उभय पक्ष में स्वीकार किया है।

भाषा का कार्य : माध्यम

भाषा को दो बुद्धियों के बीच का व्यापार सिद्ध करते हुए येस्पर्सन ने जिस मौलिकता का परिचय दिया है, वह और अधिक चमक उठती यदि वह भर्तृहरि के ही वक्तव्य को दोहरा देता : "एक बुद्धि का आशय यदि दूसरी बुद्धि का आशय बन जाए तो भाषा का कार्य पूर्ण हो जाता है।" इसे ही अन्यत्र वे, कहते हैं, कि 'जिस प्रकार प्रयोक्ता की बुद्धि स्वयं को स्पष्ट करने के लिए भाषा को माध्यम रूप में चुनती है, उसी प्रकार श्रोता की बुद्धि भी वक्तव्य के आशतय तक पहुँचने के लिए भाषा का ही आश्रय लेती है' इसका अर्थ हुआ कि मुख्य चीज भाषा नहीं वक्ता का आशय है। इसीलिए मुख्य चीज, बोले हुए पद या शब्द नहीं, वक्ता के वे भाव हैं, जो शब्दों या भाषा के माध्यम से प्रकट होते हैं।

व्याकरण का सत्य

भर्तृहरि के ये वक्तव्य उनके परम वैज्ञानिक रूप को स्पष्ट करते हैं। परन्तु यह सब विचार अधूरा रहेगा यदि हम यह न जान लें कि भर्तृहरि ने व्याकरण के दार्शनिक विषयों को भी इस सम्बन्ध में छोड़ा नहीं है। प्रायः ही आलोचक उक्त सब बातों को 'दार्शनिक' कहकर टाल सकते हैं। उनकी दृष्टि में व्याकरण यथार्थ का विश्लेषण करता है; अतः उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। भर्तृहरि भी यह मानते हैं कि व्याकरण की उपेक्षा नहीं की जा सकती। परन्तु, साथ ही वे यह भी मानते हैं कि अन्ततः **व्याकरण का मुख्य कार्य परम्परा का विश्लेषण ही है।** किसी भी शब्द की साधुता-असाधुता अथवा उसके सत्य-असत्य के निर्णय में व्याकरण इतनी ही सहायता देता है कि वह सादृश्य अथवा एनॉलोजी आदि का उदाहरण देकर, अथवा प्रत्यय, प्रकृति आदि के रूप में उसे विभक्त करके, यह दिखा देता है कि वास्तविक परम्परा क्या है? इस दृष्टि से ही 'व्याकरण' का महत्व ठहरता है। परन्तु इतने से ही तो व्याकरण 'भाषा का नियामक' नहीं बन जाता। **वह तो शिष्टों द्वारा बाँधा गया एक नियम-विधान है, पर केवल स्मृति पर ही आधारित !** इसीलिए भर्तृहरि व्याकरण के विविध पहलुओं का विश्लेषण करके यह दिखा देना अधिक उचित समझते हैं कि काल, उपग्रह, लिंग, पुरुष, वचन, विभक्ति, आदि के रूप में हम जिन्हें व्याकरण के विषय समझ बैठे हैं, और व्याकरण द्वारा जिन्हें निश्चित करने का प्रयत्न करते हैं, वे सब विषय भी उतने ही दार्शनिक हैं, और भाषा के दर्शन-पक्ष से सम्बन्ध रखते हैं, जितने कि पूर्व-कथित विषय। अंतर यही है कि पहले दो काण्डों के विषय, जिनकी चर्चा इससे पूर्व हो चुकी है, 'वाणी' से सम्बन्ध रखते हैं; जब कि काल, उपग्रह आदि का सम्बन्ध वाणी से न होकर उसके अभिव्यक्त रूप – भाषा – से है। इस प्रकार तृतीय काण्ड के प्रायः सभी विषय भाषा के व्यक्त रूप से – उसके विश्लिष्ट पद-रूपों से – सम्बद्ध हैं। निश्चय ही वे व्याकरण के विषय हैं; किन्तु उनका वैज्ञानिक विश्लेषण यह सिद्ध कर देगा कि उनके विषय में भी जन-धारणा उतनी हठीली नहीं होती, जितनी कि व्याकरण के व्याख्याता मानकर चलते हैं। विविध नामकरणों के विषय में तो भर्तृहरि और भी उपेक्षापूर्ण हो उठते हैं। काल, संख्या, गुण, आदि के विषय में भर्तृहरि की दृष्टि अत्यन्त सयुक्तिक और साधार है। उसे किसी भी प्रकार से उपेक्षणीय नहीं ठहराया जा सकता। इसी प्रकार वे वचन आदि के विभाग को भी किन्हीं निश्चित सीमाओं में स्वीकार करने से इन्कार कर देते हैं। यह बात और भी कई दृष्टियों से अत्यधिक महत्वपूर्ण हो उठती है। 'लिंग' तक के विषय में विचार करते हुए भर्तृहरि ने परम्परागत सीमाओं की मान्यता का वास्तविक आधार पर विरोध किया है। परन्तु, ऐसा करते हुए भी वे कहीं अवैज्ञानिक अथवा अवास्तविक युक्तिक्रम पर नहीं बढ़े हैं।

कुछ दार्शनिक विचार—

'काल' पर विचार करते हुए वे पहले यह कहते हैं कि केवल भूतकाल ही प्रामाणिक कहा जा सकता है। परन्तु, बाद में उसे भी अप्रामाणिक और चंचल ठहरा देते हैं। जन्म-मरण, आविर्भाव-तिरोभाव, आदि की सत्ता को भी वे सापेक्ष-मात्र ही स्वीकार करते हैं। उनकी दृष्टि में काल-सत्ता एक है। उसके तीन विभाग केवल काल्पनिक हैं : व्यावहारिक सुविधा के साधनमात्र ! भर्तृहरि यह भी स्पष्ट करते हैं कि 'गुण' और 'संख्या' का अपना महत्त्व स्वतन्त्र रूप में नहीं है। 'विशेषण' वस्तुतः किसी विशेष्य पर ही आधारित होता है, वह स्वतन्त्र वस्तु नहीं है। इसलिये वे संख्या और गुण को द्रव्याश्रित धर्ममात्र स्वीकार करते हैं। यह बात विस्तृत विवेचना में पूर्ण वैज्ञानिक ठहरती है। उनसे पूर्व पतंजलि ने भी इसी धारणा को व्यक्त किया था। परन्तु, भर्तृहरि इस विषय में सर्वाधिक स्पष्टवादी सिद्ध हुए हैं। उनका दार्शनिक चिन्तन और उनकी व्याकरण की मूलवृत्ति इस बात में स्पष्ट हुई है कि उन्होंने अर्थ और शब्द – दोनों – का ही वास्तविक रूप 'जाति' या 'सामान्य' को ही स्वीकार किया। यह बात आरम्भ में अद्भुत प्रतीत हो सकती है, परन्तु आज के बड़े-से-बड़े भाषाविद् को भी यह तथ्य स्वीकार करना पड़ा है कि 'व्यक्तिवाचक संज्ञा' जैसी कोई चीज नहीं है, क्योंकि उसका भी आरम्भिक ग्रहण 'जातिवाचक संज्ञा' के रूप में ही होता है। परन्तु, यहीं भर्तृहरि आज के वैज्ञानिकों से आगे बढ़ जाते हैं। वे यह उद्घोषित करते हैं कि क्रिया भी तो केवल 'जातिवाचक' ही होती है, व्यक्तिवाचक नहीं। गुण, संख्या, दिशा आदि के द्वारा भी केवल 'सामान्य' अथवा 'जाति' का ही बोध होता है। अर्थ और शब्द पर समान रूप से इस बात को लागू करना उनकी इस धारणा का ही परिणाम था कि, **'पद-भेद की यह समस्त प्रतिक्रिया निरर्थक अथवा व्यर्थ है।'**

तीन कृतियों में सम्बन्ध—

भर्तृहरि के भाषा-वैज्ञानिक रूप की इस विवेचना के बाद स्वभावतः 'वाक्य-पदीय' का महत्त्व सामने आ जाता है। 'त्रिपदी-महाभाष्य' से तुलना करके पढ़ने के बाद उक्त परिणाम और भी स्पष्ट हो जाते हैं। इन परिणामों की विवेचना करने और इन्हें पूरी गहराई के साथ समझने में व्यग्र मन से यह आशा करना, कि वह भर्तृहरि के जन्म, जन्म-स्थान, तिथि, परिवार, स्वयं टीकाकार रूप, एवं अन्यान्य विषयों की चर्चा करे, व्यर्थ ही दीखता है। एक बात नितान्त स्पष्ट और निस्सन्दिग्ध है : **वह यह कि 'नीति-शतक', 'त्रिपदी-भाष्य' और 'वाक्यपदीय' का कर्त्ता भर्तृहरि एक ही है।** कुछ आलोचक उसे भिन्न-भिन्न सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। 'नीति-शतक' का सर्वप्रथम श्लोक उसके वाक्यपदीय की सर्वोत्कृष्ट और सबसे संक्षिप्त

व्याख्या भर है। दिशा और काल के विवेचन से 'नीति-शतक' को आरम्भ करने वाला भर्तृहरि ही 'वाक्यपदीय' के 'तृतीय काण्ड' में वर्णित दिशा और काल का भी व्याख्याता है। इस श्लोक के आशय से मिलते-जुलते ही भाव वाक्यपदीय के प्रथम तीन-चार श्लोकों में आये हैं। इतना ही नहीं, विषय को सरलता से समझाने तथा उपहासात्मक ढंग से विरोधियों की उक्तियों को सरलतापूर्वक अपास्त कर देने आदि के द्वारा भी हमें यही बात सम्पुष्ट होती दिखाई देती है। दूसरी ओर, 'त्रिपदी-महाभाष्य' और 'वाक्यपदीय' में तो पद-पद पर समानता है। 'त्रिपदी' का एक-एक वाक्य 'वाक्यपदीय' में किसी न किसी रूप में पूरी तरह व्याख्यात है। सत्य यह है कि 'वाक्यपदीय' में भर्तृहरि ने सर्वथा स्वतन्त्र और विवेचनात्मक ढंग अपनाया है और अपना उद्देश्य, दूसरों के मतों की विवेचना के साथ-साथ, अपने मतों को पूर्ण व्याख्या देना रखा है, जबकि 'त्रिपदी' में उनका उद्देश्य पतंजलि के 'महाभाष्य' के अस्पष्ट स्थलों और विचारों को स्पष्ट करना भर रहा है। इस पर भी 'त्रिपदी' में उनके मौलिक चिन्तन को पद-पद पर अभिव्यक्ति मिली है। यह बात उन ग्रन्थों के कर्त्ता की एकता को ही सिद्ध करती है। प्रायः दोनों ही ग्रन्थों में मिलते-जुलते शब्दों में ही एक ही सत्य को समझाने का यत्न किया गया है।

काल और विचारधारा—

काल-सीमा के विषय में हम किसी भी पचड़े में गये बिना इतना ही कह सकते हैं कि भर्तृहरि का समय सातवीं शती के आसपास ही बैठता है। इसका अर्थ यह हुआ कि जिस भर्तृहरि को नाथ-पन्थी और गोरखनाथ का समकालीन सिद्ध किया जाता है, वह इस भर्तृहरि से भिन्न ही होना चाहिये। नाथपन्थी सिद्धान्तों में जिस 'नाद-ब्रह्म' की उपासना की जाती है, भर्तृहरि का 'शब्द-ब्रह्म' उससे मिलता-जुलता अवश्य है; किन्तु यह स्मर्त्तव्य है कि उसका विश्लेषण शैव या नाथ-सिद्धान्तों तक ही सीमित नहीं है। 'वाक्यपदीय' और 'त्रिपदी' में भर्तृहरि ने वैदिक प्रयोगों की जितनी खुलकर विवेचना की है, उससे तो यही सिद्ध होता है कि वे वेदों के अप्रतिम विद्वान् थे। इससे उनको 'बौद्ध' स्वीकार करना भी असम्भव दिखाई देता है। उन्होंने सम्पूर्ण वैदिक साहित्य का कितना मन्थन किया था, यह बात केवल 'ऊह' के विषय में दिये गये उदाहरणों से ही, 'त्रिपदी-भाष्य' में, पूर्णतः स्पष्ट हो जाती है। वे वैदिक कर्मकाण्ड के रहस्य को भी पूरी तरह समझते थे।

'वाक्यपदीय' की अखण्डता—

सांख्य, न्याय और मीमांसा आदि के सिद्धान्तों की चर्चा अनेक स्थलों पर आई है। एकाध स्थान पर 'परमाणु' शब्द को देखकर आलोचकों ने 'उन्हें परमाणु-वाद' का प्रतिष्ठाता भी कहा है। परन्तु भर्तृहरि यह स्पष्ट करते हैं कि उन्होंने अपने

गुरु से केवल न्याय, प्रस्थान और दूसरे दार्शनिक विचारों को ही नहीं समझा, बल्कि गुरु के अपने दर्शन को भी -- उसकी अपनी मौलिक. विवेचना को भी – पूरी तरह हृदयंगम किया। भर्तृहरि केवल इतने से ही सन्तुष्ट नहीं हुए। इसीलिये उन्होंने, पहले दो काण्डों में अपने गुरु की मान्यताओं को पूरी तरह स्पष्ट करने के बाद, तीसरे काण्ड में अपनी स्वतन्त्र विवेचना को रखना उचित समझा। इसका अर्थ यह नहीं कि पहले दो काण्डों में उन्होंने अपने स्वतन्त्र मतों को अभिव्यक्ति नहीं दी। बल्कि इसका अभिप्राय इतना ही है कि जहाँ पहले दो काण्ड में उन्होंने समग्रतः सिद्धान्त-पक्ष को प्रस्तुत किया है, वहाँ तृतीय काण्ड में उन्होंने व्याकरण को दृष्टि में रखकर उसका विशद विवेचन और पर्यालोचन किया है। यह सब बात हमें इस लिये कहनी पड़ी कि कुछ आलोचकों ने ऐसा स्वीकार किया है कि भर्तृहरि का वास्तविक 'वाक्यपदीय' पहले दो काण्डों में ही समाप्त हो जाता है; और, तृतीय काण्ड का कर्त्ता, भर्तृहरि नहीं कोई और है। हम इस मान्यता के परम विरोधी हैं।

सहायता—

इस प्रबन्ध में जाने-अनजाने अनेक ऐसे ग्रन्थों से सहायता ली गई है, जिनका उल्लेख स्वतः सहायक ग्रन्थ-सूची में नहीं किया गया, और न ही जिनके लेखकों का नामोल्लेख कहीं अन्यत्र किया गया है। ऐसा किसी अकृतज्ञता की भावना से नहीं हुआ है; बल्कि इस कारण कि इस ग्रन्थ का समस्त वक्तव्य ही औरों का है, लेखक का उसमें अपना कहने को कुछ भी नहीं। इसलिये जहाँ उसे स्मरण आया उसने प्रमाण रूप में किसी का नामोल्लेख व्यक्तिगत रूप में, अथवा उसकी कृति के रूप में, कर दिया है। अन्यथा, वह उसे अविभक्त वक्तव्य का अंश मानकर आगे चल पड़ा है। यहाँ पर यह भी ध्यान दिला देना उचित होगा कि जिन ग्रन्थों का उल्लेख सहायक ग्रन्थ-सूची में किया है उन सब के ही उद्धरण प्रस्तुत प्रबन्ध में उद्धृत नहीं किये गये हैं। स्पष्टतः ऐसा किसी अनादर की भावना से नहीं हुआ है। यदि हम इतना अधिक तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करते, तो इस प्रबन्ध का आकार अत्यधिक बढ़ जाता। तब शायद भर्तृहरि का वक्तव्य दब जाता और अन्य ही बातों को प्रमुखता मिलती। इस प्रबन्ध का मुख्य उद्देश्य वाक्यपदीय और भर्तृहरि के ही मतों का विश्लेषण था, न कि अन्य मतों से उनका तुलनात्मक अध्ययन! फिर भी, हमने थोड़ा-बहुत प्रयास इस दिशा में किया है, जिससे भर्तृहरि के मतों का वैज्ञानिक और तुलनात्मक महत्व सामने आ सके। इन मतों की समीक्षा यह स्पष्ट कर देगी कि नवीनतम वैज्ञानिक अनुसन्धानों के सम्मुख भी भर्तृहरि के मत पुराने नहीं पड़े हैं।

आभार-स्वीकृति

लेखक इस प्रबन्ध की सज्जा में अनेक गुरुजनों और सहायकों का आभारी होने

गुरु से केवल न्याय, प्रस्थान और दूसरे दार्शनिक विचारों को ही नहीं समझा, बल्कि गुरु के अपने दर्शन को भी -- उसकी अपनी मौलिक. विवेचना को भी – पूरी तरह हृदयंगम किया। भर्तृहरि केवल इतने से ही सन्तुष्ट नहीं हुए। इसीलिये उन्होंने, पहले दो काण्डों में अपने गुरु की मान्यताओं को पूरी तरह स्पष्ट करने के बाद, तीसरे काण्ड में अपनी स्वतन्त्र विवेचना को रखना उचित समझा। इसका अर्थ यह नहीं कि पहले दो काण्डों में उन्होंने अपने स्वतन्त्र मतों को अभिव्यक्ति नहीं दी। बल्कि इसका अभिप्राय इतना ही है कि जहाँ पहले दो काण्ड में उन्होंने समग्रत: सिद्धान्त-पक्ष को प्रस्तुत किया है, वहाँ तृतीय काण्ड में उन्होंने व्याकरण को दृष्टि में रखकर उसका विशद विवेचन और पर्यालोचन किया है। यह सब बात हमें इस लिये कहनी पड़ी कि कुछ आलोचकों ने ऐसा स्वीकार किया है कि भर्तृहरि का वास्तविक 'वाक्यपदीय' पहले दो काण्डों में ही समाप्त हो जाता है; और, तृतीय काण्ड का कर्त्ता, भर्तृहरि नहीं कोई और है। हम इस मान्यता के परम विरोधी हैं।

सहायता—

इस प्रबन्ध में जाने-अनजाने अनेक ऐसे ग्रन्थों से सहायता ली गई है, जिनका उल्लेख स्वतः सहायक ग्रन्थ-सूची में नहीं किया गया, और न ही जिनके लेखकों का नामोल्लेख कहीं अन्यत्र किया गया है। ऐसा किसी अकृतज्ञता की भावना से नहीं हुआ है; बल्कि इस कारण कि इस ग्रन्थ का समस्त वक्तव्य ही औरों का है, लेखक का उसमें अपना कहने को कुछ भी नहीं। इसलिये जहाँ उसे स्मरण आया उसने प्रमाण रूप में किसी का नामोल्लेख व्यक्तिगत रूप में, अथवा उसकी कृति के रूप में, कर दिया है। अन्यथा, वह उसे अविभक्त वक्तव्य का अंश मानकर आगे चल पड़ा है। यहाँ पर यह भी ध्यान दिला देना उचित होगा कि जिन ग्रन्थों का उल्लेख सहायक ग्रन्थ-सूची में किया है उन सब के ही उद्धरण प्रस्तुत प्रबन्ध में उद्धृत नहीं किये गये हैं। स्पष्टतः ऐसा किसी अनादर की भावना से नहीं हुआ है। यदि हम इतना अधिक तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करते, तो इस प्रबन्ध का आकार अत्यधिक बढ़ जाता। तब शायद भर्तृहरि का वक्तव्य दब जाता और अन्य ही बातों को प्रमुखता मिलती। इस प्रबन्ध का मुख्य उद्देश्य वाक्यपदीय और भर्तृहरि के ही मतों का विश्लेषण था, न कि अन्य मतों से उनका तुलनात्मक अध्ययन! फिर भी, हमने थोड़ा-बहुत प्रयास इस दिशा में किया है, जिससे भर्तृहरि के मतों का वैज्ञानिक और तुलनात्मक महत्व सामने आ सके। इन मतों की समीक्षा यह स्पष्ट कर देगी कि नवीनतम वैज्ञानिक अनुसन्धानों के सम्मुख भी भर्तृहरि के मत पुराने नहीं पड़े हैं।

आभार-स्वीकृति

लेखक इस प्रबन्ध की सज्जा में अनेक गुरुजनों और सहायकों का आभारी होने

व्याख्या भर है। दिशा और काल के विवेचन से 'नीति-शतक' को आरम्भ करने वाला भर्तृहरि ही 'वाक्यपदीय' के 'तृतीय काण्ड' में वर्णित दिशा और काल का भी व्याख्याता है। इस श्लोक के आशय से मिलते-जुलते ही भाव वाक्यपदीय के प्रथम तीन-चार श्लोकों में आये हैं। इतना ही नहीं, विषय को सरलता से समझाने तथा उपहासात्मक ढंग से विरोधियों की उक्तियों को सरलतापूर्वक अपास्त कर देने आदि के द्वारा भी हमें यही बात सम्पुष्ट होती दिखाई देती है। दूसरी ओर, 'त्रिपदी-महाभाष्य' और 'वाक्यपदीय' में तो पद-पद पर समानता है। 'त्रिपदी' का एक-एक वाक्य 'वाक्यपदीय' में किसी न किसी रूप में पूरी तरह व्याख्यात है। सत्य यह है कि 'वाक्यपदीय' में भर्तृहरि ने सर्वथा स्वतन्त्र और विवेचनात्मक ढंग अपनाया है और अपना उद्देश्य, दूसरों के मतों की विवेचना के साथ-साथ, अपने मतों को पूर्ण व्याख्या देना रखा है, जबकि 'त्रिपदी' में उनका उद्देश्य पतंजलि के 'महाभाष्य' के अस्पष्ट स्थलों और विचारों को स्पष्ट करना भर रहा है। इस पर भी 'त्रिपदी' में उनके मौलिक चिन्तन को पद-पद पर अभिव्यक्ति मिली है। यह बात उन ग्रन्थों के कर्त्ता की एकता को ही सिद्ध करती है। प्रायः दोनों ही ग्रन्थों में मिलते-जुलते शब्दों में ही एक ही सत्य को समझाने का यत्न किया गया है।

काल और विचारधारा—

काल-सीमा के विषय में हम किसी भी पचड़े में गये बिना इतना ही कह सकते हैं कि भर्तृहरि का समय सातवीं शती के आसपास ही बैठता है। इसका अर्थ यह हुआ कि जिस भर्तृहरि को नाथ-पन्थी और गोरखनाथ का समकालीन सिद्ध किया जाता है, वह इस भर्तृहरि से भिन्न ही होना चाहिये। नाथपन्थी सिद्धान्तों में जिस 'नाद-ब्रह्म' की उपासना की जाती है, भर्तृहरि का 'शब्द-ब्रह्म' उससे मिलता-जुलता अवश्य है; किन्तु यह स्मर्त्तव्य है कि उसका विश्लेषण शैव या नाथ-सिद्धान्तों तक ही सीमित नहीं है। 'वाक्यपदीय' और 'त्रिपदी' में भर्तृहरि ने वैदिक प्रयोगों की जितनी खुलकर विवेचना की है, उससे तो यही सिद्ध होता है कि वे वेदों के अप्रतिम विद्वान् थे। इससे उनको 'बौद्ध' स्वीकार करना भी असम्भव दिखाई देता है। उन्होंने सम्पूर्ण वैदिक साहित्य का कितना मन्थन किया था, यह बात केवल 'ऊह' के विषय में दिये गये उदाहरणों से ही, 'त्रिपदी-भाष्य' में, पूर्णतः स्पष्ट हो जाती है। वे वैदिक कर्मकाण्ड के रहस्य को भी पूरी तरह समझते थे।

'वाक्यपदीय' की अखण्डता—

सांख्य, न्याय और मीमांसा आदि के सिद्धान्तों की चर्चा अनेक स्थलों पर आई है। एकाध स्थान पर 'परमाणु' शब्द को देखकर आलोचकों ने 'उन्हें परमाणु-वाद' का प्रतिष्ठाता भी कहा है। परन्तु भर्तृहरि यह स्पष्ट करते हैं कि उन्होंने अपने

व्याख्या भर है। दिशा और काल के विवेचन से 'नीति-शतक' को आरम्भ करने वाला भर्तृहरि ही 'वाक्यपदीय' के 'तृतीय काण्ड' में वर्णित दिशा और काल का भी व्याख्याता है। इस श्लोक के आशय से मिलते-जुलते ही भाव वाक्यपदीय के प्रथम तीन-चार श्लोकों में आये हैं। इतना ही नहीं, विषय को सरलता से समझाने तथा उपहासात्मक ढंग से विरोधियों की उक्तियों को सरलतापूर्वक अपास्त कर देने आदि के द्वारा भी हमें यही बात सम्पुष्ट होती दिखाई देती है। दूसरी ओर, 'त्रिपदी-महाभाष्य' और 'वाक्यपदीय' में तो पद-पद पर समानता है। 'त्रिपदी' का एक-एक वाक्य 'वाक्यपदीय' में किसी न किसी रूप में पूरी तरह व्याख्यात है। सत्य यह है कि 'वाक्यपदीय' में भर्तृहरि ने सर्वथा स्वतन्त्र और विवेचनात्मक ढंग अपनाया है और अपना उद्देश्य, दूसरों के मतों की विवेचना के साथ-साथ, अपने मतों को पूर्ण व्याख्या देना रखा है, जबकि 'त्रिपदी' में उनका उद्देश्य पतंजलि के 'महाभाष्य' के अस्पष्ट स्थलों और विचारों को स्पष्ट करना भर रहा है। इस पर भी 'त्रिपदी' में उनके मौलिक चिन्तन को पद-पद पर अभिव्यक्ति मिली है। यह बात उन ग्रन्थों के कर्त्ता की एकता को ही सिद्ध करती है। प्रायः दोनों ही ग्रन्थों में मिलते-जुलते शब्दों में ही एक ही सत्य को समझाने का यत्न किया गया है।

काल और विचारधारा—

काल-सीमा के विषय में हम किसी भी पचड़े में गये बिना इतना ही कह सकते हैं कि भर्तृहरि का समय सातवीं शती के आसपास ही बैठता है। इसका अर्थ यह हुआ कि जिस भर्तृहरि को नाथ-पन्थी और गोरखनाथ का समकालीन सिद्ध किया जाता है, वह इस भर्तृहरि से भिन्न ही होना चाहिये। नाथपन्थी सिद्धान्तों में जिस 'नाद-ब्रह्म' की उपासना की जाती है, भर्तृहरि का 'शब्द-ब्रह्म' उससे मिलता-जुलता अवश्य है; किन्तु यह स्मर्त्तव्य है कि उसका विश्लेषण शैव या नाथ-सिद्धान्तों तक ही सीमित नहीं है। 'वाक्यपदीय' और 'त्रिपदी' में भर्तृहरि ने वैदिक प्रयोगों की जितनी खुलकर विवेचना की है, उससे तो यही सिद्ध होता है कि वे वेदों के अप्रतिम विद्वान् थे। इससे उनको 'बौद्ध' स्वीकार करना भी असम्भव दिखाई देता है। उन्होंने सम्पूर्ण वैदिक साहित्य का कितना मन्थन किया था, यह बात केवल 'ऊह' के विषय में दिये गये उदाहरणों से ही, 'त्रिपदी-भाष्य' में, पूर्णतः स्पष्ट हो जाती है। वे वैदिक कर्मकाण्ड के रहस्य को भी पूरी तरह समझते थे।

'वाक्यपदीय' की अखण्डता—

सांख्य, न्याय और मीमांसा आदि के सिद्धान्तों की चर्चा अनेक स्थलों पर आई है। एकाध स्थान पर 'परमाणु' शब्द को देखकर आलोचकों ने 'उन्हें परमाणु-वाद' का प्रतिष्ठाता भी कहा है। परन्तु भर्तृहरि यह स्पष्ट करते हैं कि उन्होंने अपने

गुरु से केवल न्याय, प्रस्थान और दूसरे दार्शनिक विचारों को ही नहीं समझा, बल्कि गुरु के अपने दर्शन को भी -- उसकी अपनी मौलिक. विवेचना को भी – पूरी तरह हृदयंगम किया। भर्तृहरि केवल इतने से ही सन्तुष्ट नहीं हुए। इसीलिये उन्होंने, पहले दो काण्डों में अपने गुरु की मान्यताओं को पूरी तरह स्पष्ट करने के बाद, तीसरे काण्ड में अपनी स्वतन्त्र विवेचना को रखना उचित समझा। इसका अर्थ यह नहीं कि पहले दो काण्डों में उन्होंने अपने स्वतन्त्र मतों को अभिव्यक्ति नहीं दी। बल्कि इसका अभिप्राय इतना ही है कि जहाँ पहले दो काण्ड में उन्होंने समग्रत: सिद्धान्त-पक्ष को प्रस्तुत किया है, वहाँ तृतीय काण्ड में उन्होंने व्याकरण को दृष्टि में रखकर उसका विशद विवेचन और पर्यालोचन किया है। यह सब बात हमें इस लिये कहनी पड़ी कि कुछ आलोचकों ने ऐसा स्वीकार किया है कि भर्तृहरि का वास्तविक 'वाक्यपदीय' पहले दो काण्डों में ही समाप्त हो जाता है; और, तृतीय काण्ड का कर्त्ता, भर्तृहरि नहीं कोई और है। हम इस मान्यता के परम विरोधी हैं।

सहायता—

इस प्रबन्ध में जाने-अनजाने अनेक ऐसे ग्रन्थों से सहायता ली गई है, जिनका उल्लेख स्वत: सहायक ग्रन्थ-सूची में नहीं किया गया, और न ही जिनके लेखकों का नामोल्लेख कहीं अन्यत्र किया गया है। ऐसा किसी अकृतज्ञता की भावना से नहीं हुआ है; बल्कि इस कारण कि इस ग्रन्थ का समस्त वक्तव्य ही औरों का है, लेखक का उसमें अपना कहने को कुछ भी नहीं। इसलिये जहाँ उसे स्मरण आया उसने प्रमाण रूप में किसी का नामोल्लेख व्यक्तिगत रूप में, अथवा उसकी कृति के रूप में, कर दिया है। अन्यथा, वह उसे अविभक्त वक्तव्य का अंश मानकर आगे चल पड़ा है। यहाँ पर यह भी ध्यान दिला देना उचित होगा कि जिन ग्रन्थों का उल्लेख सहायक ग्रन्थ-सूची में किया है उन सब के ही उद्धरण प्रस्तुत प्रबन्ध में उद्धृत नहीं किये गये हैं। स्पष्टत: ऐसा किसी अनादर की भावना से नहीं हुआ है। यदि हम इतना अधिक तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करते, तो इस प्रबन्ध का आकार अत्यधिक बढ़ जाता। तब शायद भर्तृहरि का वक्तव्य दब जाता और अन्य ही बातों को प्रमुखता मिलती। इस प्रबन्ध का मुख्य उद्देश्य वाक्यपदीय और भर्तृहरि के ही मतों का विश्लेषण था, न कि अन्य मतों से उनका तुलनात्मक अध्ययन ! फिर भी, हमने थोड़ा-बहुत प्रयास इस दिशा में किया है, जिससे भर्तृहरि के मतों का वैज्ञानिक और तुलनात्मक महत्व सामने आ सके। इन मतों की समीक्षा यह स्पष्ट कर देगी कि नवीनतम वैज्ञानिक अनुसन्धानों के सम्मुख भी भर्तृहरि के मत पुराने नहीं पड़े हैं।

आभार-स्वीकृति

लेखक इस प्रबन्ध की सज्जा में अनेक गुरुजनों और सहायकों का आभारी होने

में अपना गौरव मानता है। निश्चय ही इनमें से प्रमुख स्थान डा० विश्वनाथ प्रसाद और डा० गोण्डा को दिया जा सकता है। प्रसाद जी ने इस प्रबन्ध का मार्ग-दर्शन स्वीकार करके पद-पद पर उत्साहित किया और, हजारों मील की दूरी की परवाह न करके भी, डा० गोण्डा ने पद-पद पर अपनी टिप्पणी और सम्मति देकर लेखक का ज्ञान-संवर्द्धन किया। परन्तु, डा० लुई रेणु का भी धन्यवाद किये बिना लेखक स्वयं को कर्त्तव्यमुक्त नहीं मान सकता। उन्होंने प्रत्यक्ष रूप में भी, और पत्रों द्वारा भी, लेखक के बहुत से निर्णयों को दृढ़ किया है और उसका अनेक बार उत्साबर्द्धन किया है। इस ग्रन्थ की भूमिका लिख कर डा० बाबूराम सक्सेना ने जो आभार लेखक पर किया है, उसे लेखक किस मुख से अस्वीकार कर सकता है! अपने व्यस्त समय में से इस प्रबन्ध को अक्षरशः पढ़ने का समय निकाल कर और उस पर अपनी विस्तृत समीक्षा देकर, उन्होंने जो कृपा की है लेखक उसे जीवन भर नहीं भूल सकेगा। परन्तु, यहीं पर डा० रामसुरेश त्रिपाठी का आभार स्वीकार करना भी उचित होगा, जिन्होंने अपने अप्रकाशित प्रबन्ध के ही दर्शन नहीं कराये, बल्कि अपने स्वतन्त्र लेख भी लेखक को पढ़ने के लिए दिये। उनके प्रबन्ध को अन्यत्र भी देखने का अवसर लेखक को मिला है। डा० लुई रेणु का आभार इसलिये भी है, कि उन्होंने तात्कालिक निवेदन पर ही सम्पति देना स्वीकार किया। इसके अतिरिक्त विद्वानों की एक और बड़ी श्रेणी है, जिसका नामोल्लेख किए बिना ही लेखक को आभार स्वीकार करना है।

पर यह प्रयत्न स्वयं में अन्तिम नहीं है। यह तो यहाँ से आरम्भ होने वाले प्रयत्नों की निरन्तर श्रृङ्खला की प्रथम कड़ीमात्र है। इस प्रयत्न में लेखक में इस विषयक अनुसन्धान के लिए जो जिज्ञासा जग गई है, वह निरन्तर बढ़ती ही जाएगी। इस दिशा में लेखक के अगले कुछ प्रयास अभी से आरम्भ हो गए हैं। 'त्रिपदी महाभाष्य' का स्वतन्त्र और 'वाक्यपदीय' के साथ तुलनात्मक अध्ययन तो अगले कदम हैं ही; व्याकरण की व्याख्या के कुछ स्वतन्त्र प्रयास भी लेखों के रूप में लेखक ने आरम्भ किए हैं। शीघ्र ही उसके ये प्रयास प्रकाशित रूप में सामने आयेंगे। इस दिशा में लेखक किसी भी कोने से किसी भी प्रकार के सुझाव का स्वागत करेगा।

यहाँ श्रीमती कृष्णा आफ़ताब राय को धन्यवाद देना आवश्यक है, जिनकी सामयिक सहायता के बिना यह पुस्तक प्रकाशित न हो पाती। 'प्रकाश प्रिंटिंग वर्क्स' के स्वामी को भी उनके अमूल्य सहयोग के लिए धन्यवाद देना है। अपने आत्मीय जनों को धन्यवाद बांटने का मैं विरोधी हूँ। अन्त में इस प्रबन्ध की सज्जा में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में जिसने भी जिस प्रकार भी सहायता दी हो उन सब के प्रति ही लेखक पुनः आभार प्रदर्शित करना अपना कर्त्तव्य समझता है।

७/३, अशोक नगर
नई दिल्ली-१८
दि० १-१-६४,

—सत्यकाम वर्मा

विषय-सूची

———

भाषातत्व और वाक्यपदीय

(पृष्ठ १ से २१७ तक)

"उत त्वः पश्यन्न ददर्श एनां, उत त्वः श्रृणन्न श्रृणोत्येनाम् ।
उतो त्वस्मै तत्वं विसस्त्रे, जायेव पत्य उशती सुवासाः ।"

—ऋग्वेद

"ये त्रिषप्ताः परियन्ति विश्वा रूपाणि बिभ्रतः ।"

"संश्रुतेन गमेमहि मा श्रुतेन विराधिषि ।"

—अथर्व वेद

"अनादि निधनं ब्रह्म, शब्द तत्वं यदक्षरम् ।
विवर्त्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः ॥"

"तद्व्याकरणमागम्य परं ब्रह्माधिगम्यते ॥"

—वाक्यपदीय

————

वाक्यपदीय का अध्ययन

१. **वाक्यपदीय की उपेक्षा – वाक्यपदीय** भर्तृहरि की विख्यात रचना है। हाल के कुछ वर्षों के भाषा-विषयक अध्ययनों में इस रचना से विभिन्न प्रकार से सहायता ली गई है। अनेक प्रबन्धों में इसके श्लोकों को उद्धृत किया गया है। कुछ प्रबन्धों का स्वतन्त्र आधार भी यह रचना बनी है। पर फिर भी इस कृति का पूर्ण मूल्यांकन अब तक नहीं हो पाया है। मुद्रित रूप में सम्पूर्ण कृति का एकत्र उपलब्ध न होना ही कठिनाई का कारण नहीं है; कठिनाई यह भी है कि इस के विषय को अब तक भी स्पष्ट रूप में निर्धारित नहीं किया जा सका। अब तक जो भी टीकायें या कार्य इस विषय पर उपलब्ध हुए हैं, उन सब में या तो इसे व्याकरण-ग्रन्थ सिद्ध करने का यत्न किया गया है, या फिर इसे दर्शन-ग्रन्थ के रूप में प्रस्तुत किया गया है। व्याकरण और दर्शन के सम्बन्ध में भारतीय धारणा में, परवर्त्ती-काल में, एक स्पष्ट अन्तर आ गया था। तब इन्हें स्पष्टतः परम्परानुगामी व रूढ़िबद्ध साधनमात्र समझ लिया गया था। **भाषा** की बंधी-बंधाई विश्लेषण-प्रक्रिया तक **व्याकरण** समझी गई और **ज्ञान** की बंधी-बंधाई विश्लेषण-प्रक्रिया को **दर्शन** नाम दिया गया। यह सब कुछ इसलिए हुआ कि परवर्त्ती अध्येताओं के पास भाषा और ज्ञान के विश्लेषण में देने के लिए कुछ भी अध्ययनगत मौलिकता अवशिष्ट न रह गई थी। अपनी--अपनी मति के अनुसार वे पुराने विचारों को ही सजाने, संवारने, या सुधारने में लगे हुए थे। अतः आज का अध्येता भी जब वाक्यपदीय को समझने के लिये उसे व्याकरण या दर्शन की इन्हीं रूढ़ परिभाषाओं में विचारने बढ़ता है, तो उसका विश्लेषण उन्हीं बारीकियों में उलझ कर रह जाता है, जिनकी अवास्तविकता ने मध्ययुग के टीकाकारों को उलझा दिया था।

पुरानी टीकाओं में केवल हरिवृषभ या हरि की टीका में ही वाक्य-पदीय की वक्तव्य-वस्तु को समझाने का प्रयास मिलता है। अन्यत्र व्याकरण-सूत्रों की गहरी उलझनों ने उस विषय को और भी उलझा दिया प्रतीत होता है। भर्तृहरि का **शब्द-ब्रह्म** वहां दर्शन का **ब्रह्म** बन गया है। काल, शब्द, वाक्य आदि के सम्बन्ध में उनकी धारणाएं विविध वादों के आधार पर जांची गई हैं। या, फिर उन के द्वारा की गई व्याकरण-प्रशंसा का कुछ और ही अर्थ ले लिया गया है। उसकी अपभ्रंश-प्रशंसा को बदल कर अपभ्रंश-निन्दा का रूप

दिया गया है। आधुनिक प्रयत्नों में केवल कुछ ही विद्वानों का ध्यान इधर गया है। एक ने **अपभ्रंश** की प्रशंसा का सही मूल्यांकन किया है।[१] किन्तु वे भी, आख्यात और पद आदि के सम्बन्ध में, भर्तृहरि की धारणाओं के अध्ययन में व्याकरण की उन बारीकियों में चले गये हैं, जहां जाना भर्तृहरि और उनके **वाक्यपदीय** की प्रकृति के विरुद्ध जान पड़ता है। भर्तृहरि की सत्य-दृष्टि को समझने के लिये हमें भर्तृहरि से पूर्वतर काल में व्याकरण और दर्शन के सम्बन्ध में व्याप्त सही दृष्टियों का अध्ययन करना होगा। तभी हम समझ सकेंगे कि वाक्यपदीय को केवल व्याकरण या केवल दर्शन की कोटि में न रख कर, इन दोनों कोटियों में साथ-साथ रखने अथवा तत्सम्बद्ध भ्रमजाल में फंसने का क्या कारण है ?

२. व्याकरण जन-मानस का विश्लेषण है – पाणिनि से बहुत पूर्व व्याकरण की एक सुदृढ़ परम्परा स्थापित हो चुकी थी। आपिशलि, गार्ग्य, काश्यप, स्फोटायन, औदुम्बरायण, गालव, शाकटायन, शाकल्य आदि अनेक आचार्यों ने एक सरणि तैयार की थी। सूत्रों की सत्ता का प्रथम आभास हमें यास्क के निरुक्त से मिलता है। **निरुक्त** व्याकरण-ग्रन्थ नहीं है। वस्तुतः पाणिनि से पूर्व भाषा का अध्ययन स्पष्टतः दो परम्पराओं में बंट चुका था। प्रथम परम्परा को हम **प्रातिशाख्य-परम्परा** कह सकते हैं, जिसमें भाषा, वाक्य एवं तत्सम्बद्ध विषयों की स्वतन्त्र विवेचना होती थी। विशेषकर ध्वनि की उत्पत्ति, विकास, विभाग और परिवर्तन की समस्याओं पर इनमें ध्यान दिया जाता था। इन ग्रन्थों में प्रतिपादित सिद्धान्त, आज भी, किसी भी भाषा के अध्ययन में, स्वतन्त्र रूप में, सहायक हो सकते हैं। दूसरी परम्परा को हम **सूत्र** या **व्याकरण-परम्परा** का नाम दे सकते हैं। इसमें, वैदिक और संस्कृत भाषा को सामने रखकर भी, भाषा-सम्बन्धी ऐसे सामान्य नियमों को खोज निकालने की व्यग्रता रहती थी, जिनसे उक्त भाषाओं का अध्ययन भली प्रकार किया जा सके। ऐसे प्रयत्न अपने-अपने समय व प्रदेश की भाषा को लेकर होते थे। इसलिये उनमें विशिष्ट लक्षणों की प्रमुखता रहनी अनिवार्य थी। किन्तु, इस पर भी उन अध्ययनों के माध्यम से कुछ सामान्य सिद्धान्त विकसित हो चुके थे। इसका एकमात्र कारण यह था कि **प्रातिशाख्य** या **शिक्षा** ग्रन्थों के प्रणेताओं की की भांति व्याकरण ग्रन्थ का प्रणेता भी, भाषा-विशेष की प्रकृति का अध्ययन न करके, जनमानस का अध्ययन करने में व्यग्र था। क्या होता है ? – इसका उत्तर तो उसे देना ही था, किन्तु इस उत्तर देने की जल्दी में वह जनमानस के

---

१. डा० रामसुरेश त्रिपाठी 'वाक्यपदीय में आख्यात-विवेचन' (अप्रकाशितप्रबन्ध)।

के अध्ययन की—क्यों होता है ? इस प्रश्न की—उपेक्षा न कर सकता था। जनमानस के अध्ययन के इस प्रकार के स्वतन्त्र ग्रन्थ **निरुक्त** कहलाये। यास्क का निरुक्त उसी दिशा का अप्रतिम निदर्शन है। किन्तु, व्याकरणकार की राह में निरुक्ति की प्रक्रिया एक सोपान-मात्र थी। इस निरुक्ति-प्रक्रिया के माध्यम से वह जन प्रकृति की निश्चित प्रवृत्तियों को पहचानने में व्यस्त था, जो किन्हीं निश्चित दिशाओं में निश्चित प्रकार से ही काम करती हैं। उन प्रवृत्तियों को भलीभाँति पहचान कर वह भाषा को, प्रकृति (मूल) और प्रत्यय (आवश्यकता-वश जोड़ा गया चिह्न) के दो भागों में, बांटने में समर्थ हो गया। **प्रकृति** उस के अध्ययन का आधार बनी और **प्रत्यय** कार्य। प्रत्ययों के सम्बन्ध में या उनके स्वरूप के विषय में प्रत्येक व्याकरणकार के कुछ भिन्न परिणाम हो सकते हैं। किन्तु उसके द्वारा मूल प्रकृति को पहिचान कर प्रत्ययों की पृथकता की स्वीकृति दिया जाना व्याकरण को जन-मानस की अध्ययन-प्रक्रिया का, स्वतः, एक अविच्छिन्न अंग सिद्ध करता है।

३. **सामान्य-सिद्धान्त और जन-प्रकृति** – उदाहरण के लिये **नीरोग** और **निर्ऋति** शब्दों में कोई भी समानता न होने पर भी **निर्** रूप को उपसर्ग में अलग स्वीकार कर लेना; अग्निचित्, सोमसुत् तथा सम्राट् में क्रमशः **चि**, **सु**, और **राज्** को धातु-रूप में स्वीकार करके, तीनों में समान रूप में, **क्विप्**, की प्रत्यय रूप में कल्पना करना तथा ए, ओ, ऐ,औ — स्वरों को अय्, अव्, आय्, आव् के रूप में स्थान्यादेश करने से पहले उन्हें **सन्ध्यक्षर**[1] संज्ञा देना, अथवा **उत्तरपदभूयः** कह कर उनमें इ, उ आदि की अन्तःस्थित किन्तु बलवती सत्ता को स्वीकार करना – आदि स्वतः जन-प्रकृति के अध्ययन के सब से बड़े प्रमाण हैं। इन्हें जन-प्रयोग और जनरुचि की परीक्षण-शालाओं में परीक्षित करके परिणाम रूप में उपलब्ध किया गया था। इनका सम्बन्ध किन्हीं विशिष्ट व्याकरणात्मक उपलब्धियों या नियमों से नहीं है। दीर्घ, आगम, लोप, विपर्यय, वृद्धि, आदेश आदि कहां और क्यों आवश्यक होते हैं ? इसका उत्तर जन-प्रकृति के अध्ययन द्वारा ही दिया जा सकता है। व्याकरण के विशिष्ट सूत्र किसी विशिष्ट भाषा पर इन अध्ययनों को घटा भर देते हैं। **नीरोग** में हम निर् उपसर्ग के र् को लुप्त एवं पूर्व ह्रस्व स्वर को दीर्घ कर लेते हैं; **सोमसुत्** और **अग्निचित्** में, अन्त में, तुक् का आगम कर लेते हैं तथा **सम्राट्** में **ज्** को **ष्**, **ढ्** आदि क्रम से **ट्** या **ड्** में बदल लेते हैं। **लोप, आगम** और **आदेश** आदि की यह मूल प्रक्रिया जनमानस के अध्ययन के बाद ही समझी जा सकती है।

---

१. महा० २. १. १ भाष्य शिवसूत्र ३-४.

४. निरुक्त, शिक्षा और व्याकरण : भाषा का विवेचन – इस प्रकार निरुक्ति-प्रक्रिया जहां **अर्थविज्ञान** का रूप धारण करती गई, वहां **शिक्षा** (प्रातिशाख्य-परम्परा) और **व्याकरण** का स्वतन्त्र विकास भी होता गया। वेदांगों में निरुक्त, शिक्षा और व्याकरण को तीन स्वतन्त्र विषय स्वीकार किया गया है। ये तीनों परस्पर अत्यधिक सम्बद्ध है, फिर भी स्वतन्त्र हैं। पाणिनि ने इसी रहस्य को समझ कर शिक्षा और व्याकरण के विषय में अपनी कृतियों को स्वतन्त्र रूप में प्रस्तुत किया था। शिक्षा [१] में उन्होंने वाक्-उत्पत्ति, ध्वनि-विभाग, स्वर-विभाजन आदि पर विचार व्यक्त किया है, जब कि उनके व्याकरण में भाषा-सम्बन्धी सामान्य अध्ययनों के आधार पर **वैदिक** एवं **संस्कृत** का विशिष्ट अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। पर, उनके समय तक निरुक्तों की परम्परा से एक अन्य समस्या सामने आ चुकी थी। कुछ शब्द ऐसे थे, जिन्हें प्रकृति-प्रत्यय के विभाग के द्वारा भी संस्कृत या वैदिक भाषाओं की सीमा में नहीं लाया जा सकता था। फिर भी, उन शब्दों के पीछे संस्कृत-परम्परा की कुछ धारणाएं बद्ध-मूल हो चुकी थीं। सम्भव है वे शब्द बाहर से आये हों, या जन-भाषा के विकास की एक स्वतन्त्र-दिशा के निर्देशक मात्र हों! पाणिनि ने इनका भी पूरा अध्ययन किया। उन शब्दों के इस अध्ययन को **उणादि-सूत्र** नाम दिया गया। कह सकते हैं कि उणादि-सूत्र, वैदिक और संस्कृत सम्बन्धी अध्ययन में, निरुक्त की कमी को पूरा करने का एक प्रयास मात्र हैं, अथवा जनभाषा के नित्य परिवर्धमान रूप के अध्ययन की स्वीकृति मात्र!

इनके अतिरिक्त ऐसे भी अनेक शब्द थे, जिनकी 'निरुक्ति' ज्ञात थी। यह भी विश्वास था कि वे स्वभाषा के ही हैं। किन्तु, उनका विकास इतने स्वतन्त्र रूप में हुआ था कि उन्हें व्याकरण के सामान्य नियमों की पकड़ में लाना असम्भव था। पाणिनि ने उन्हें **निपातन** नाम देकर **सिद्ध** मान लिया।[२] 'सिद्ध' नाम देना स्वतः जन-शक्ति के महत्व की मूक स्वीकृति है।

५. अन्य प्रयत्न : दर्शन और प्रातिशाख्य — निरुक्त, शिक्षा, और व्याकरण के अतिरिक्त अन्यत्र भी भाषा-विषयक अध्ययन के यत्न होते रहे। बात यह है कि इन तीनों ज्ञानांगों या वेदांगों की पृथक्ता के पूर्व से ही इस अध्ययन की प्रवृत्ति चली आ रही थी। यह प्रवृत्ति एक अलग ज्ञानांग का रूप अवश्य धारण नहीं कर पाई थी। इसका एक कारण था। वेदांगों की विकास-परम्परा से पहले का साहित्य पूर्णतया समन्वित है। उनमें प्रेक्षक की अनुभूति को तटस्थ

१. पाणिनीय शिक्षा। २. यहां 'निपातनात्सिद्धम्' की युक्ति की ओर इंगित है।

अभिव्यक्ति प्राप्त हुई है। यह अनुभूति किसी एक विषय तक ही सीमित नहीं है। किसी विषय पर विचार करते हुए, तत्सम्बद्ध जितनी भी बातें उसके सामने आईं, उन सभी पर अपनी अनुभूतियों को क्रमबद्ध कर देना प्रक्षेक ने अपना कर्त्तव्य माना। **वाक् की स्तुति** के प्रसंग में वेदों में वाणी की उत्पत्ति, अभिव्यक्ति एवं उस का ग्रहण आदि विभिन्न पक्षों पर अपनी अनुभूति को अभिव्यक्त करना अनिवार्य ही था। **दर्शनों** तक आते हुए यह प्रवृत्ति बढ़ गई। **मीमांसा** को छोड़ कर किसी भी दर्शन का कार्य सीधे-से भाषा का विवेचन नहीं रहा है। वहां भी वेदों की भाषा की समस्या को ही लिया गया है। वहां वाक्-उत्पति, भाषा-रचना, आदि पर स्वतन्त्र विचार नहीं हुआ। न्याय, सांख्य आदि दर्शनों में भी वाक्-उत्पत्ति, भाषा-विभाग, अभिव्यक्ति और ग्रहण आदि पर, प्रसंगतः, विचार हुआ है। प्रातिशाख्यों में व्यक्त विचारों से इन विचारों की स्वतन्त्रता स्पष्ट है। प्रातिशाख्यों का मुख्य विषय नादात्मक **ध्वनियों** का विनिश्चय एवं विभाजन था। केवल वाक्-उत्पत्ति का प्रसंग ही वहां यत्किंचित् पूर्णता ग्रहण कर पाया है। भाषा की इकाई, उसका विभाग, या अन्य विषयों का विवेचन वहां नहीं हुआ। दूसरी ओर, व्याकरण में प्रातिशाख्यों के इन विषयों का प्रासंगिक ग्रहण ही हुआ है। व्याकरण में निश्चय ही दृढ़तापूर्वक मतों की अभिव्यक्ति हुई है, किन्तु युक्ति-विस्तार का अवकाश वहां उतना अधिक नहीं।

इस प्रकार वेदों से लेकर दर्शनों तक वाक् और भाषा के सम्बन्ध में नानाविध युक्ति-क्रम और विचार सम्मुख आए। किन्तु, उन्हें भाषा का दार्शनिक-पक्ष समझ कर उन पर विचार करने की प्रवृत्ति को उपेक्षा की दृष्टि से ही देखा जाता रहा।

६. **पतंजलि का महत्व** – पतंजलि पहले व्यक्ति थे, जिन्होंने अपने से पूर्व ज्ञात **शिक्षा, निरुक्त, व्याकरण** और **दर्शन** के युक्तिक्रम को एकत्र किया और एक ही **विज्ञान** का रूप दिया। उनकी दृष्टि से इसे हम **शब्दानुशासन** नाम दे सकते हैं। आज की दृष्टि में यही **भाषा-तत्व** और **भाषा-विज्ञान** है। **भाषा** के समस्त पहलुओं पर उन्होंने विस्तृत विचार किया है। उनसे पूर्व कात्यायन और व्याडि ने जो भी परिणाम निकाले थे, पतंजलि ने उन पर भी पूर्णतः विचार किया। महाभाष्य के रूप में जिस स्वतन्त्र चिन्तन को उन्होंने जन्म दिया, वह सर्वथा मौलिक न होकर भी, मौलिक दिशा में एक समन्वित प्रयत्न अवश्य था।

७. **शब्दानुशासन : भाषा-प्रक्रिया की व्याख्या**—परन्तु, उनके अनुवर्ती टीका-कारों ने व्याकरण और शब्दानुशासन का अर्थ ही कुछ और ले लिया। पाणिनि और पतंजलि ने भाषा को, साध्य न मान कर, साधन स्वीकार किया था। इसीलिये उन्होंने शब्दों को सिद्ध करने का प्रयत्न न करके, उनकी

निर्माण प्रक्रिया की व्याख्या-भर करना अपना कर्तव्य समझा था। **अनुशासन का अर्थ है अन्वाख्यान** : किसी प्रक्रिया को पूरी तरह समझाना। व्याकरण का अर्थ भी कुछ इसी **प्रकार** से किया गया : **व्याक्रियन्ते अनेन अस्मिन् वा।** अर्थात शब्दों में प्रकृति-प्रत्यय का विनिश्चय करना ही **व्याकरण** है। व्याकरण को शब्दानुशासन नाम देने का प्रयोजन ही इस भ्रम को दूर करना प्रतीत होता है कि **व्याकरण भाषा का नियामक या निर्माता है**। पतंजलि, व्याडि और कात्यायन ने इसी धारणा को सम्पुष्ट करना चाहा था। कात्यायन ने भाषा का मूलाधार स्वीकार किया था लोक को : **लोकतः**।[1] और, व्याडि ने स्पष्टतः जनभाषा (अपभ्रंश) को भाषा की मूल प्रकृति कहा था : **शब्दप्रकृतिरपभ्रंशः**।[2] स्वभावतः, उनकी दृष्टि में, व्याकरण का कार्य लोक के माध्यम से आगत शब्द-राशि का विधिपूर्वक अन्वाख्यान है। किन्तु उनके उत्तर-वर्त्ती वैयाकरणों के पथभ्रष्ट होजाने एवं व्याडि का **संग्रह** लुप्त हो जाने पर ही पतंजलि को मसाभाष्य की रचना करनी पड़ी थी (वा० २.४८४, ४८५)।

८. **पतंजलि के बाद : पतन** – पतंजलि की उस समग्र और समन्वित दृष्टि को समझने वालों की भी उतनी ही कमी रही। बैजि, सौभव और हर्यक्ष आदि अनेक नवीन भाष्यकारों ने जीवन की उस व्यापक और समन्वित दृष्टि को न पाकर व्याकरण को एक शास्त्र बना दिया।[3] तब भाषा **साध्य** बन गई और व्याकरण **साधन**। 'शब्दों' के साधुत्व और 'असाधुत्व' अथवा 'शब्दत्व' और 'अपशब्दत्व' को लेकर विवाद पहले भी चला था। किन्तु, जिन शब्दों में अनुशासन का औचित्य खोज लिया गया, उन्हें ही **साधु** मान लिया गया था। शेष को अपभ्रंश कहकर भी, अनिवार्य रूप में, उपयोगी स्वीकार किया गया था। किन्तु, इन नवीन वैयाकरणों ने भाषा को निश्चित नियमों में जकड़ना आरम्भ कर दिया। व्याकरण का कार्य हो गया भाषा का नियन्त्रण—उसका नियम विधान। पाणिनि ने जिन शब्दों को **निपातन** और **उणादि** की कोटि में रख कर लोक प्रकृति के सम्मुख, व्याकरण के तथाकथित नियम-विधानों की असमर्थता स्वीकार की थी, इन आचार्यों ने, तर्कजाल में उलझ कर, उन्हें भी नियमों की कोटि में लाना चाहा। दर्शनों और शास्त्रों की भांति व्याकरण भी तर्क का क्रीड़ा-क्षेत्र रह गया। पतंजलि का मूल ग्रन्थ भी धीरे-धीरे दुर्लभप्राय हो गया। जिन दाक्षिणात्यों पास के ग्रन्थमात्र था भी, वे भी उसे समझने में असमर्थ रहे।[4]

---

१. महा १. १. १. वा० १.
२. हरिटीका, वा० १. १४८.
३. वा० २. ४८७.
४. वा० २. ४८८.

और, यह सब हुआ इसलिये कि ये आलोचक **महाभाष्य** की सरलतम व्याख्याओं के व्यापक प्रभावों का अध्ययन न करके, सामान्य बातों और वाद-विवादों में उलझ कर ही रह गये। उन्हें पतंजलि के वचन परस्पर विरोधी प्रतीत होने लगे। इसीलिये वे अनिश्चय की दशा में फंसकर रह गये।[१]

९. परम्परा और भर्तृहरि — और, तब आए भर्तृहरि : आचार्य वसुरात के शिष्य। एक मत के अनुसार, दक्षिण के महावैयाकरण रावण ने पतंजलि के के महाभाष्य पर एक स्वतंत्र टीका की रचना की थी। कहते हैं कि यह रचना उसी प्रदेश के किसी पर्वत पर खुदी हुई थी। परन्तु कुछ अन्य टीकाकार **पर्वत** का अर्थ पर्व्वताचार्य नामक महावैयाकरण से लेते हैं। उनके अनुसार यह कृति लिखी ही पर्व्वताचार्य ने थी। इसका रावण या पर्वत से किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नहीं। कुछ भी हो, चन्द्राचार्य आदि वैयाकरणों ने 'चान्द्र व्याकरण' आदि अपने बहुविध प्रयासों का मूलाधार इस नये भाष्य को ही बनाया।[२] आचार्य वसुरात ने इन सभी व्याकरणों का पूरा-पूरा अध्ययन किया। साथ ही उन्होंने न्याय आदि दर्शनों की युक्ति-सरणि का भी पूरा-पूरा अध्ययन किया। इन सबको ध्यान में रखकर उन्होंने अपने स्वानुभूत परिणामों की पूरी छानबीन की और उसके परिणाम से उपलब्ध ज्ञान भर्तृहरि को दिया। भर्तृहरि के **वाक्यपदीय** का मूलाधार यही ज्ञान बना। प्रथम और द्वितीय काण्डों में इस **आगम** या मूल-ज्ञान को ही उपस्थित किया गया है।[३] तृतीय काण्ड में उन्होंने जो कुछ भी लिखा है, वह पूर्ववर्ती काण्डों में स्थापित सिद्धान्तों का विस्तृत विवेचनमात्र ही है।[४]

१०. वाक्यपदीय और त्रिपदी भाष्य : परस्पर पूरक — वाक्यपदीय की इस उत्पत्ति और विकास-प्रक्रिया पर विचार करते हुए प्रायः एक तथ्य आंखों से ओझल कर दिया जाता है। पातंजल महाभाष्य पर भर्तृहरि की लिखी **त्रिपदी** टीका या भाष्य का उल्लेख यत्किंचित् मिला है। सौभाग्य से इसकी एक खण्डित प्रति उपलब्ध भी है।[५] उस प्रति को बिना पढ़े वाक्यपदीय का अध्ययन एक भ्रम की सृष्टि कर सकता है। हरिवृषभ की प्रथम काण्ड की टीका तथा पुण्यराज और हेलाराज की उत्तर काण्ड की टीकाओं में एक अन्तर स्पष्ट देखा जा सकता है। पुण्यराज और हेलाराज जहां प्रत्येक कदम पर महाभाष्य एवं व्याकरण की गहराइयों को सुलझाते चले हैं, वहां

---

१. वा० २. ४८६ २. २. ४८९ ३. वा० २. ४९० ४. वा० २. ३९९

५. यह कृति सम्प्रति काशी से डा० वासुदेवशरण अग्रवाल की देखरेख में शोध ग्रन्थ के रूप में मुद्रित हो रही है।

निर्माण प्रक्रिया की व्याख्या-भर करना अपना कर्तव्य समझा था। **अनुशासन का अर्थ है अन्वाख्यान** : किसी प्रक्रिया को पूरी तरह समझाना। व्याकरण का अर्थ भी कुछ इसी **प्रकार** से किया गया : **व्याक्रियन्ते अनेन अस्मिन् वा।** अर्थात शब्दों में प्रकृति-प्रत्यय का विनिश्चय करना ही **व्याकरण** है। व्याकरण को शब्दानुशासन नाम देने का प्रयोजन ही इस भ्रम को दूर करना प्रतीत होता है कि **व्याकरण भाषा का नियामक या निर्माता है**। पतंजलि, व्याडि और कात्यायन ने इसी धारणा को सम्पुष्ट करना चाहा था। कात्यायन ने भाषा का मूलाधार स्वीकार किया था लोक को : **लोकतः**।[1] और, व्याडि ने स्पष्टतः जनभाषा (अपभ्रंश) को भाषा की मूल प्रकृति कहा था : **शब्दप्रकृतिरपभ्रंशः**।[2] स्वभावतः, उनकी दृष्टि में, व्याकरण का कार्य लोक के माध्यम से आगत शब्द-राशि का विधिपूर्वक अन्वाख्यान है। किन्तु उनके उत्तरवर्त्ती वैयाकरणों के पथभ्रष्ट होजाने एवं व्याडि का **संग्रह** लुप्त हो जाने पर ही पतंजलि को मसाभाष्य की रचना करनी पड़ी थी (वा० २.४८४, ४८५)।

८. **पतंजलि के बाद : पतन** — पतंजलि की उस समग्र और समन्वित दृष्टि को समझने वालों की भी उतनी ही कमी रही। बैजि, सौभव और हर्यक्ष आदि अनेक नवीन भाष्यकारों ने जीवन की उस व्यापक और समन्वित दृष्टि को न पाकर व्याकरण को एक शास्त्र बना दिया।[3] तब भाषा **साध्य** बन गई और व्याकरण **साधन**। 'शब्दों' के साधुत्व और 'असाधुत्व' अथवा 'शब्दत्व' और 'अपशब्दत्व' को लेकर विवाद पहले भी चला था। किन्तु, जिन शब्दों में अनुशासन का औचित्य खोज लिया गया, उन्हें ही **साधु** मान लिया गया था। शेष को अपभ्रंश कहकर भी, अनिवार्य रूप में, उपयोगी स्वीकार किया गया था। किन्तु, इन नवीन वैयाकरणों ने भाषा को निश्चित नियमों में जकड़ना आरम्भ कर दिया। व्याकरण का कार्य हो गया भाषा का नियन्त्रण—उसका नियम विधान। पाणिनि ने जिन शब्दों को **निपातन** और **उणादि** की कोटि में रख कर लोक प्रकृति के सम्मुख, व्याकरण के तथाकथित नियम-विधानों की असमर्थता स्वीकार की थी, इन आचार्यों ने, तर्कजाल में उलझ कर, उन्हें भी नियमों की कोटि में लाना चाहा। दर्शनों और शास्त्रों की भांति व्याकरण भी तर्क का क्रीड़ा-क्षेत्र रह गया। पतंजलि का मूल ग्रन्थ भी धीरे-धीरे दुर्लभप्राय हो गया। जिन दाक्षिणात्यों पास के ग्रन्थमात्र था भी, वे भी उसे समझने में असमर्थ रहे।[4]

---

१. महा १. १. १. वा० १.
२. हरिटीका, वा० १. १४८.
३. वा० २. ४८७.
४. वा० २. ४८८.

और, यह सब हुआ इसलिये कि ये आलोचक **महाभाष्य** की सरलतम व्याख्याओं के व्यापक प्रभावों का अध्ययन न करके, सामान्य बातों और वाद-विवादों में उलझ कर ही रह गये। उन्हें पतंजलि के वचन परस्पर विरोधी प्रतीत होने लगे। इसीलिये वे अनिश्चय की दशा में फंसकर रह गये।[१]

९. परम्परा और भर्तृहरि — और, तब आए भर्तृहरि : आचार्य वसुरात के शिष्य। एक मत के अनुसार, दक्षिण के महावैयाकरण रावण ने पतंजलि के के महाभाष्य पर एक स्वतंत्र टीका की रचना की थी। कहते हैं कि यह रचना उसी प्रदेश के किसी पर्वत पर खुदी हुई थी। परन्तु कुछ अन्य टीकाकार **पर्वत** का अर्थ पर्व्वताचार्य नामक महावैयाकरण से लेते हैं। उनके अनुसार यह कृति लिखी ही पर्व्वताचार्य ने थी। इसका रावण या पर्वत से किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नहीं। कुछ भी हो, चन्द्राचार्य आदि वैयाकरणों ने 'चान्द्र व्याकरण' आदि अपने बहुविध प्रयासों का मूलाधार इस नये भाष्य को ही बनाया।[२] आचार्य वसुरात ने इन सभी व्याकरणों का पूरा-पूरा अध्ययन किया। साथ ही उन्होंने न्याय आदि दर्शनों की युक्ति-सरणि का भी पूरा-पूरा अध्ययन किया। इन सबको ध्यान में रखकर उन्होंने अपने स्वानुभूत परिणामों की पूरी छानबीन की और उसके परिणाम से उपलब्ध ज्ञान भर्तृहरि को दिया। भर्तृहरि के **वाक्यपदीय** का मूलाधार यही ज्ञान बना। प्रथम और द्वितीय काण्डों में इस **आगम** या मूल-ज्ञान को ही उपस्थित किया गया है।[३] तृतीय काण्ड में उन्होंने जो कुछ भी लिखा है, वह पूर्ववर्ती काण्डों में स्थापित सिद्धान्तों का विस्तृत विवेचनमात्र ही है।[४]

१०. वाक्यपदीय और त्रिपदी भाष्य : परस्पर पूरक — वाक्यपदीय की इस उत्पत्ति और विकास-प्रक्रिया पर विचार करते हुए प्रायः एक तथ्य आंखों से ओझल कर दिया जाता है। पातंजल महाभाष्य पर भर्तृहरि की लिखी **त्रिपदी** टीका या भाष्य का उल्लेख यत्किंचित् मिला है। सौभाग्य से इसकी एक खण्डित प्रति उपलब्ध भी है।[५] उस प्रति को बिना पढ़े वाक्यपदीय का अध्ययन एक भ्रम की सृष्टि कर सकता है। हरिवृषभ की प्रथम काण्ड की टीका तथा पुण्यराज और हेलाराज की उत्तर काण्ड की टीकाओं में एक अन्तर स्पष्ट देखा जा सकता है। पुण्यराज और हेलाराज जहां प्रत्येक कदम पर महाभाष्य एवं व्याकरण की गहराइयों को सुलझाते चले हैं, वहां

१. वा० २. ४८६ २. २. ४८९. ३. वा० २. ४९० ४. वा० २. ३९९.
५. यह कृति सम्प्रति काशी से डा० वासुदेवशरण अग्रवाल की देखरेख में शोध ग्रन्थ के रूप में मुद्रित हो रही है।

हरिवृषभ ने स्पष्टतः उस पद्धति से अपने को बचाया है। यही कारण है कि मम्मट, कैयट और नागेश भट्ट ने वाक्यपदीय के आगमकाण्ड के श्लोकों को उद्धृत करते हुए उनके रचयिता व टीकाकार हरि को एक ही स्वीकार किया है।[1] टीकाकार हरि प्रायः व्याकरणात्मक ग्रन्थियों में उलझने का यत्न नहीं करते। उन्होंने न्याय, मीमांसा, या अन्य दार्शनिक उलझनों में भी जाने का यत्न नहीं किया है। **ब्रह्म** सम्बन्धी आरम्भिक श्लोकों में भी शब्दब्रह्म की वैज्ञानिक परिभाषा इस बात को स्पष्ट कर देती है। उनका यह भेद इस बात को स्पष्ट कर देता है कि भर्तृहरि की दोनो कृतियों — महाभाष्य की त्रिपदी टीका एवं वाक्यपदीय — में परम्परागत पद्धति की अपेक्षा कुछ मौलिक अन्तर है, जिसे समझने में टीकाकारों ने कहीं-कहीं भ्रम किया है। महाभाष्य की उस अपूर्ण टीका में भी भर्तृहरि का क्रम अन्य टीकाकारों से भिन्न रहा है। वे वहां केवल टीका करने नहीं बढ़े हैं। पतंजलि के अस्पष्ट अर्थों को स्पष्ट करना उनका मुख्य उद्देश्य रहा है। वहां वे स्वयं पाणिनि के सूत्रों का अत्यधिक आश्रय लेते हैं। फिर भी, जहां भी सिद्धान्तालोचन का अवसर आता है, उनकी स्वतन्त्र प्रतिभा चल निकलती है। **चत्वारि पदजातानि** में 'कर्मप्रवचनीय' का उल्लेख करना वे नहीं भूलते।[2] इसी प्रकार के अनेकानेक स्थलों में वे अपनी स्वतन्त्र धारणाओं को स्पष्ट करने लगते हैं। पर, उनके वाक्यपदीय के टीकाकारों और पांतजल महाभाष्य के टीकाकारों के विवरणों से स्पष्ट होता है कि वे लोग **वाक्यपदीय** की सत्ता और भावना से अवश्य परिचित थे। किन्तु भर्तृहरि रचित महाभाष्य की **त्रिपदी-टीका** (या दीपिका टीका) से वे भी निकट-सम्पर्क में न थे। परिणामतः भर्तृहरि की उन दोनों उपस्थापना-शैलियों के मौलिक अन्तर को पहचानने में वे स्पष्टतः असमर्थ रहे। त्रिपदी टीका के उद्धरण कदाचित् ही कहीं उल्लिखित मिलते हैं, जब कि वाक्यपदीय के उद्धरण अनेकत्र उपलब्ध हो जाते हैं।

भर्तृहरि **त्रिपदी टीका** में एक लीक पर बंधकर चल रहे थे। वहां वे अपने मतों को अभिव्यक्त करने में पूरी तरह स्वतन्त्र न थे। विशेष कर सिद्धान्तों की स्थापना में वे उतने स्वतन्त्र न थे। **वाक्यपदीय** में उन्हें यह स्वतन्त्रता प्राप्त थी। त्रिपदी की एक-एक पंक्ति पढ़ते हुए वाक्यपदीय के श्लोकों का स्मरण आता है, किन्तु साथ ही दोनों के उपस्थापन-क्रम एवं विषय-क्रम का अन्तर भी स्पष्ट हो जाता है। वाक्यपदीय में वे व्याकरण की

---

१. महा० उद्योत टीका—'चत्वारि शृंगा त्रयो अस्य पादाः। तदुक्तं हरिणा'; तथा मम्मट के 'काव्य प्रकाश,' प्रथम उच्छ्वास में गौः शब्द की व्याख्या में गद्यभाग का उद्धरण 'उक्तं च वाक्यपदीये नहि गौः स्वरूपेण गौः' ...इत्यादि।

२. 'कर्मप्रवचनीयाः निपातेष्वन्तर्भूताः' ...(त्रिपदी १. १. १.)'।

बंधी-बंधाई लीक पर न चल कर स्वतन्त्र पथ पर बढ़े हैं। सारे वक्तव्य-विषय का विभाग उन्होंने नये सिरे से किया है। मुख्य वक्तव्य विषय को उन्होंने आरम्भ के दोनों काण्डों में समाप्त कर दिया है। तृतीय-काण्ड को उन्होंने स्वयं **प्रकीर्णक** प्रवृत्ति का माना है।[१]

यहां वे तृतीय काण्ड को स्पष्टतः पहले दो काण्डों से भिन्न सिद्ध कर रहे हैं। हेलाराज ने इसीलिए अपनी व्याख्या का नाम रखा है—**प्रकीर्ण-प्रकाश**। इस तृतीय काण्ड में भर्तृहरि ने उन सब विषयों को लिया है, जिन का सम्बन्ध स्पष्टतः रूपात्मक और व्याख्यात्मक व्याकरण से समझा जाता है। संख्या, लिंग, उपग्रह, जाति, द्रव्य, गुण, वृत्ति आदि सभी विषयों का इसमें अन्तर्ग्रहण हो जाता है। परन्तु भर्तृहरि ने इस विचार की पद्धति, व्याकरण की रूढ़ सरणि से सर्वथा स्वतन्त्र होकर, अपनाई है। स्पष्टतः वे भाषा के इन पक्षों की वैज्ञानिक और दार्शनिक परीक्षा पर बढ़ गए हैं। पाणिनि के सूत्रों की दार्शनिक और वैज्ञानिक परीक्षा इससे अधिक सम्भल कर कभी नहीं हुई। दूसरी ओर, **त्रिपदी टीका** में भर्तृहरि क्रम को तोड़ने में समर्थ नहीं हुए। पाणिनीय सूत्रों का क्रमबद्ध रूप में, महाभाष्य के अनुसार ही, सहारा लेकर उन्होंने अपने मन्तव्य को स्पष्ट किया है। इस अन्तर को एक और रूप में भी प्रस्तुत किया जा सकता है। **त्रिपदी टीका** में **पद** का व्याख्यान प्रधान रहा है। पद-सम्बन्धी सभी विचार वहां पूरी तरह गृहीत हुए हैं। किन्तु, **वाक्यपदीय** के विवेच्य आधार हैं — वाक् और वाक्य। इसीलिए टीकाकार तृतीयकाण्ड को मुख्य ग्रन्थ से पृथक् मानते हैं। उसका विषय पद है, वाक्य नहीं। अतः स्पष्ट है कि वाक्य-पदीय के अध्ययन के लिए भर्तृहरि के महाभाष्य की त्रिपदी टीका का अवलोकन और अध्ययन आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है। इस अध्ययन के बाद ही हम यह जानने में समर्थ हो पाएंगे कि वाक्यपदीय का विषय व्याकरण नहीं है।

११. **वाक्यपदीय की वैज्ञानिक दृष्टि** – व्याकरण के जिन दो पक्षों में अन्तर बढ़ता जा रहा था, वे थे व्यावहारिक एवं सैद्धान्तिक पक्ष। **महाभाष्य** व्याकरण के व्यावहारिक पक्ष का विवेचन प्रस्तुत करता है, जब कि **वाक्यपदीय** में उस की सैद्धान्तिक आधारभूमि को स्पष्ट किया गया है। वाक्यपदीय को हम **व्याकरण-दर्शन** नाम देकर भी पूरा न्याय न कर सकेंगे, और नाही उसे शुद्ध रूप में **अर्थ-विज्ञान** नाम देकर। आज की भाषा में जिसे भाषा-तत्व-शास्त्र और भाषा-विज्ञान कहा जाता है, वाक्यपदीय का विषय वही है। अन्तर इतना ही है कि दर्शन की तथाकथित गहराइयों को भी, वाक्यपदीय में, व्यावहारिक रूप में प्रस्तुत किया गया है। वहां इस वर्णन को, दार्शनिक के युक्तिक्रम में न लेकर,

१. वा० २. ४९०, ४९१.

वैज्ञानिक के तथ्य विश्लेषण के ढंग से लिया गया है। उदाहरणार्थ **काल** और उस के विभाग पर विचार करते हुए उन्हें व्यावहारिक आधार पर अवास्तविक सिद्ध किया गया है।[1] **भूत** और **वर्तमान** सापेक्ष शब्द हैं, नित्य इकाइयां नहीं। अतः उन्हें काल का नित्य-विभाग नहीं कहा जा सकता।[2] और, यदि ये दोनों नित्य इकाइयां नहीं हैं, तो **भविष्यत्** नाम का कोई काल ही नहीं ठहरता।[3] ऐसा ही युक्ति-क्रम जन्म-मरण अथवा आविर्भाव-तिरोभाव के विषय में भी है। इन शब्दों को उन्होंने व्यवहारिक आधार पर सापेक्ष स्वीकार किया है।[4] वैज्ञानिक आधार पर भी इनकी सत्ता सिद्ध नहीं होती।[5] इस प्रकार के सभी प्रसंगों में उनका युक्ति-क्रम दार्शनिक आधारभूमिमात्र को भी स्पर्श नहीं करता। क्रिया, नाम, संख्या और गुण आदि पर विचार करते हुए भी वे नितान्त व्यावहारिक रहे हैं। **क्रिया साधनावस्था है और नाम (संज्ञा) सिद्धावस्था**—यही है उन की भाव और सत्व की व्याख्या।[6] **संख्या और गुण द्रव्य के बिना रह ही नहीं सकते : उनका स्वतन्त्र आधार अचिन्त्य है**—इस सीधे से युक्ति क्रम से संख्यावाचक या गुणवाचक शब्दों की स्वतन्त्र सत्ता की स्थिति समाप्त हो जाती है।[7] शब्दार्थ के मुख्य और गौण अथवा प्रधान और अप्रधान अर्थों पर विचार करते हुए भी वे नितान्त व्यावहारिक रहे हैं। सबसे बढ़ कर उनकी व्यावहारिक बुद्धि का परिचय मिला है उनकी शब्द-ब्रह्म-विषयक धारणा में। नितान्त दार्शनिक दीखने वाली इस धारणा को नितान्त व्यावहारिक पहलू पर लाकर वे कह देते हैं : **परस्तु शब्दसन्तानः प्रचयापचयात्मकः** (वा० १. १०३)। अर्थात्, शब्द की स्फोटात्मक उपलब्धि के बाद ही उसके अर्थ के विस्तार और संकोच की प्रक्रिया उसे अनन्तता की सीमा तक ले जाती है।

और, ऐसा कहने वाला ग्रन्थ — वाक्यपदीय — किस प्रकार व्याकरण की परवर्ती रूढ़ परिभाषा में लाया जा सकता है ? उसके परिणामों को सिद्ध करने के लिए न दार्शनिक युक्तिक्रम की आवश्यकता है, न व्याकरण के सूत्रों के अध्ययन की ! महाभाष्य में उठाई समस्याओं को व्याकरण के सीमित दायरे से निकालकर उन पर व्यावहारिक एवं वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करना ही उन के ग्रन्थ का लक्ष्य रहा है। और, वे इसमें पूर्ण सफल रहे हैं। इसीलिए हमने आरम्भ में कहा जा चुका है कि उनके वाक्यपदीय को लेकर अनेकों भ्रान्त धारणाएं चल पड़ी हैं। इस सब के लिए वाक्यपदीय के विषय पर विचार कर लेना अधिक अभीष्ट एवं उचित होगा।

१२. वाक्यपदीय : सामान्य परिचय – वाक्यपदीय में कुल तीन काण्ड हैं। तीनों

१. वा० ३. ९. १, ४८.　　२. वा० ३. ९. ७९, ८५.　　३. वा० ३. ९. १०३.
४. वा० ३. ८. २५.　　५. वा० ३. ८. २७.　　६. वा० ३. ८. ४७.
७. 'पदभेद' अध्याय के १० और ११ अनुच्छेद।

में कुल श्लोक संख्या १९६४ (उन्नीस सौ चौंसठ) है। **प्रथमकाण्ड** में कुल श्लोक १५६ (एक सौ छप्पन) हैं। इस के दो नाम **आगम काण्ड** और **ब्रह्म-काण्ड** के रूप में मिलते हैं। **द्वितीय काण्ड** वाक्यकाण्ड कहलाता है और इसकी श्लोक संख्या ४९३ (चार सौ तिरान्नवे) है। बीच में से कुछ श्लोक अनुपलब्ध हैं। **तृतीय काण्ड** पदकाण्ड या प्रकीर्णक के नाम से ख्यात है। इसमें चौदह उपविभाग हैं, जिन्हें समुद्देश कहा गया है। इसकी कुल श्लोक संख्या १३२५ (तेरह सौ पच्चीस) है। इसमें अन्तिम विभाग — **वृत्तिसमुदेश** — सब से अधिक विस्तृत है। उसकी श्लोक संख्या ६२४ (छः सौ चौबीस) है।

तीनों काण्डों का विषय भी पृथक्-पृथक् है। भर्तृहरि का मुख्य वक्तव्य पहले दो काण्डों में पूर्ण हो गया है। तीसरे काण्ड में उन्होंने पहले दो काण्डों में आए प्राकरणिक विषयों को ही उठाया है।[1] वे विषय उनके, साध्य न होकर, साधन रहे हैं। **वाक्यपदीय** नामकरण का वास्तविक आधार द्वितीय काण्ड—**वाक्यकाण्ड**—ही प्रतीत होता है। वाक्य और पद अथवा वाक्यार्थ और पदार्थ की सापेक्ष सत्ता का यहीं साधार विवेचन हुआ है। भाषा की आधारभूत इकाई का निर्णय भी इसी प्रसंग में हुआ है। **प्रथम काण्ड** आगम या ब्रह्मकाण्ड के नाम से प्रसिद्ध है। उसमें ग्रन्थकार द्वारा अपनी आधारभूत मान्यताओं (आगम : प्रतिज्ञा) की घोषणा की गई है। इस घोषणा का व्यावहारिक विश्लेषण ही **द्वितीय काण्ड** में किया गया है। **तृतीय काण्ड** का कोई भी प्रसंग, प्रधान रूप में, प्रथम या द्वितीय काण्ड का विषय नहीं रहा है। फिर भी उसमें वर्णित सभी विषयों से द्वितीय काण्ड के वक्तव्य की ही सम्पुष्टि होती है। इसका एक मात्र कारण यह है कि उसमें उठाए गये सभी विषय **पद** की तथाकथित स्वतन्त्रता से सम्बन्ध रखते हैं। और, जब उन पदों की ही सत्ता किसी वाच्य का अंग बन कर रह जाती है, तब उन पदावयवों की सहज-सत्ता महत्वहीन हो जाती है। वे विशिष्ट उदेश्य के साधन-मात्र रह जाते हैं। इस प्रकार वाक्य-पदीय का विषय रह जाता है **वाक्य का विवेचन**। इसे हम भर्तृहरि की निरपेक्ष दृष्टि से कहें तो यह है **वाक्-विवेचन**। **वाक्य,** उनकी दृष्टि में, **वाक्** का व्यावहारिक रूप है : वाक् की अभिव्यक्त व्यावहारिक स्थिति-मात्र !

१३. प्रथम काण्ड : शब्द ब्रह्म—प्रथम काण्ड को हमने **प्रतिज्ञा (आगम) काण्ड** कहा है। यहां यह देख लेना उचित होगा कि भर्तृहरि की प्रतिज्ञा क्या है? उनकी शब्द-ब्रह्म-सम्बन्धी धारणा ही वस्तुतः उनकी प्रतिज्ञा या आधार-सूत्र है। प्रथम श्लोक से ही इस धारणा का उद्घोष होता है :

---

१. वा० २, ४९० तथा ४९१ में 'अयमागमसंग्रहः' तथा 'काण्डे तृतीये न्यक्षेण' की परस्पर तुलना।

अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्वं यदक्षरम् ।
विवर्त्तते ऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः ॥ वा० १. १ ॥

अर्थात्, यह शब्दतत्व ही है, जिसे वस्तुतः अनादि और अनन्त कहा जा सकता है, जो नित्य परिवर्धमान व बृंहणशील है तथा जो कभी क्षीण होने वाला नहीं है। यही वह मूल है, जिसकी (प्रचयापचयात्मक) अर्थभावना के विवर्त्त द्वारा ही जगत् की पारस्परिक व्यवहार की प्रक्रिया चलती रहती है। इसी बात को आगे चल कर इसी काण्ड के मध्य में फिर दोहराया गया है। वहां **शक्तिर्विश्वस्यास्य निबन्धिनी, तस्मादर्थविधाः सर्वाः शब्दमात्रासु निश्रिताः, शब्दस्य परिणामोऽयम्**, इत्यादि वाक्यों से यही स्पष्ट की गई है।[1] इनसे पहले एक स्थल पर इस बात को पूरी तरह स्पष्ट करते हुए उन्होंने **ब्रह्म** की वास्तविकता को इस तरह स्पष्ट किया है :

अल्पे महति वा शब्दे स्फोटकाला न भिद्यते ।
परन्तु शब्दसंतानः प्रचयापचयात्मकः ॥ वा० १. १०३ ॥

अर्थात्, शब्द छोटा हो या बड़ा उसकी स्फोटात्मक उपलब्धि समान रूप में और समान-काल मात्रा में ही होती है। वास्तव में शब्द का स्फोटात्मक ग्रहण ही अन्तिम नहीं होता। शब्द के अर्थ में प्रचय और अपचय की विधि के द्वारा उसका ग्रहण असीम विस्तार के रूप में होता रहता है। और तब, लगभग अन्त में, इस तथ्य का उपसंहार, शब्द को पुनः **ब्रह्म** कह कर, किया गया है : **तद्ब्रह्मामृतमश्नुते**।[2] इस प्रकार भर्तृहरि का शब्द-ब्रह्म, ठोस रूप में, भाषा वैज्ञानिक आधार भूमि पर स्थित है। उसे दर्शन के ब्रह्म का छायाभासमात्र नहीं कहा जा सकता।

१४. वाणी के चरण और बुद्धिस्थ शब्द – इससे सम्बद्ध अन्य समस्याओं पर भी भर्तृहरि ने यहां प्रासंगिक विचार किया है। वाक् तथा भाषा की उत्पत्ति, प्रवृत्ति, उसका मानसिक पक्ष, उसकी मूल-प्रकृति, व्याकरण का वास्तविक उद्देश्य आदि सभी प्रासंगिक विषयों को वे स्पष्ट करते चले हैं। वाक् की उत्पत्ति या उसके आविर्भाव के सम्बन्ध में ऋग्वेद के मन्त्रों में प्रथम बार विचार हुआ। तब से भर्तृहरि के समय तक दो धारणाएं स्थिर हो चुकी थीं। एक के अनुसार वाणी के चार पाद (चरण) थे और दूसरी के अनुसार पांच। परन्तु भर्तृहरि इस विषय में नितान्त वैज्ञानिक उठे हो हैं। उनकी दृष्टि में व्याकरण और भाषा-विज्ञान का विषय इच्छा नहीं है, भाषा है। और, भाषा का यह रूप प्रकृति-प्रत्यय के संयोग-विभाग पर आधारित है। प्रकृति-प्रत्यय के संयोग-विभाग की यह प्रक्रिया पश्यन्ती में ही होती है। अतः पश्यन्ती, मध्यमा और

---
१. वा० १. ११८ से १२०. २. वा० १. १३१.

वैखरी के रूप में, भर्तृहरि ने, व्याकरण का क्षेत्र वाणी के इन तीन चरणों तक ही स्वीकार किया है।[1] किन्तु, इसका अर्थ यह नहीं कि वे चतुर्थ चरणों की स्थिति ही स्वीकार नहीं करते। चतुर्थ चरण को वे व्याकरण का विषय अवश्य स्वीकार नहीं करते। अन्यथा, उसकी सत्ता मानने से उन्हें इन्कार नहीं है। शब्द और अर्थ का पारस्परिक सम्बन्ध क्या है? किस प्रकार शब्द, एक अर्थ में स्थिर रह कर भी, प्रचय-अपचय द्वारा विभिन्नार्थों का वहन - **विवर्त्त** - करता है? आदि प्रश्नों को उन्होंने यहीं स्पष्ट किया है।

भाषा के ग्रहण पक्ष पर विचार करते हुए उन्होंने उसके मानसिक-पक्ष को अधिक स्पष्ट किया है। वाणी का मूल रूप है **बुद्धिस्थ शब्द**। वही अनेक नादात्मक श्रुतियों या शब्द-रूपों का कारण होता है। यह बुद्धिस्थ शब्द आविर्भूत होने के बाद जब तक, ग्रहीता की बुद्धि में भी स्थिर होकर, गृहीत नहीं हो जाता, तब तक वाणी का उद्देश्य पूरा नहीं हो पाता।

तद्वच्छब्दोऽपि बुद्धिस्थः श्रुतीनां कारणं पृथक् ॥ वा० १. ४६ ॥

नादैराहितबीजायामन्त्येन ध्वनिना सह।

आवृत्तपरिपाकायां बुद्धौ शब्दोऽवधार्यते ॥ वा० १. ८४ ॥

इस प्रसंग में उन्होंने श्रोता और ग्रहीता में भाषा के इस आदान-प्रदान के चार चरण स्वीकार किये हैं। ग्रहीता में उन्हें क्रमशः नाद, स्फोट, ध्वनि (व्यक्ति) और स्वरूप कहा गया है। अर्थभावना और शब्द अपनी अभिव्यक्ति के लिए इन चार चरणों पर ही आधारित रहते हैं।

१५ शब्दप्रकृतिरपभ्रंशः — इस काण्ड का प्रासंगिक, किन्तु महत्वपूर्ण एवं क्रान्तिकारी, प्रतिपाद्य है भर्तृहरि की भाषा की मूल-प्रकृति-विषयक धारणा। पतंजलि तक सभी आचार्यों ने भाषा एवं शब्दार्थ-सम्बन्ध-सिद्धि का मूल-उत्स **लोक** को स्वीकार किया था। पर **अपभ्रंश** शब्दों को भाषा की मूल-प्रकृति कहने का साहस केवल आचार्य व्याडि ही कर सके थे—**शब्दप्रकृतिरपभ्रंशः**।[2] भर्तृहरि ने प्रथम बार अपभ्रंश की स्पष्ट व्याख्या की : उसे प्रकृत अथवा संस्कारविहीन शब्द कहा और साथ ही स्वीकार किया कि ऐसा शब्द किसी विशिष्ट अर्थ में पहले ही स्थिर हो चुका होता है।

शब्दः संस्कारहीनो यो गौरिति प्रयुयुक्षिते।

तमपभ्रंशमिच्छन्ति विशिष्टार्थविनिवेशिनम् ॥ वा० १. १४८ ॥

इतना ही नहीं, वे स्पष्ट उद्घोष करते हैं कि विशिष्ट निमित्त के कारण कोई भी शब्द, चाहे वह अपभ्रंश ही हो, साधु (व्याकरण-सम्मत) गिना

---

१. 'वैखर्याः मध्यमायाश्च पश्यन्त्याश्चैतदद्भुतम्।
अनेकतीर्थभेदायास्त्रय्या वाचः परं पदम् ॥ वा० १. १४३ ॥

जाता है। इस प्रकार उनकी दृष्टि में अपभ्रंश शब्द भी साधु शब्दों से कम महत्वपूर्ण नहीं है : **निमित्तभेदात्सर्वत्र साधुत्वं च व्यवस्थितम्** (वा० १.१४९)।

सच यह है कि जब परम्परा द्वारा इन शब्दों को स्थिरता प्राप्त हो जाती है, तो इनके द्वारा अभिप्रेत अर्थ को किसी साधु शब्द द्वारा भी व्यक्त नहीं किया जाता। परम्परा इन्हें ही साधु बना देती है। वहां व्याकरण-सिद्ध साधु शब्दों का प्रयोग नहीं होता।

पारम्पर्यादपभ्रंशा विगुणेष्वभिधातृषु।

प्रसिद्धिमागता येषु तेषां साधुरवाचकः ॥ वा० १. १५४ ॥

इस प्रकार प्रथम बार वैज्ञानिक आधार देकर उन्होंने **जन-परम्परा** एवं **लोक-भाषा** को भाषा के मूल-उत्स या उसकी मूल-प्रकृति के रूप में, स्वीकार किया।

१६. **व्याकरण-दृष्टि**—व्याकरण-विषयक उनकी मान्यता भी अत्यन्त स्पष्ट है। वे व्याकरण के आश्रयणीय आधार के रूप में दो बातों को प्रधानता देते हैं : **प्रकृति** (अकृतकं शास्त्रम्) तथा **परम्परा** (स्मृतिश्च सनिबन्धना)। इन दोनों को आधार बना कर ही शब्दों का अन्वाख्यान अथवा उनका **प्रवृत्ति-विवेचन** सम्भव हो पाता है (वा० १.४३)। उनकी दृष्टि में, व्याकरण है भी परम्परा की पुष्टि का परिणाम ही। हम किसी शब्द को देखकर उसकी साधुता का निर्णय परम्परा के पर्यवलोकन द्वारा ही कर सकते हैं (वा० १.१४)। वस्तुतः व्याकरण शब्द-ब्रह्म की उपलब्धि का साधन मात्र है। भाषा के व्यावहारिक रूप में हम जिस शब्द-ब्रह्म का विविधतामय प्रयोग करते हैं, उसकी परीक्षाजन्य उपलब्धि इसी व्याकरण के माध्यम से होती है।

यदेकं प्रक्रियाभेदैर्बहुधा प्रविभज्यते।

तद् व्याकरणमागम्य परं ब्रह्माधिगम्यते ॥ वा० १. २२ ॥

अपनी महाभाष्य की त्रिपदी टीका में भी भर्तृहरि ने व्याकरण की व्याख्या में अपना मत देते हुए लिखा है : **उच्यते स्मृतिशास्त्रमिदं। तत्र यदाकश्चिदेवं ब्रूयात् अयं शब्द इति, सोऽवश्यं पृच्छेत्, कथमस्माभिः प्रत्येतव्यमिति। यदि स्मृतिसूत्रमाह सन्धीयते, अन्यथा प्रलापस्तस्य गृह्यते** (त्रिपदी टीका १. १. १)। अर्थात्, 'व्याकरण स्मृतिशास्त्र है। **यह शब्द है**— ऐसा कहने पर प्रश्न उठता है, कैसे विश्वास करें ? विश्वास तभी जग सकता है, यदि उत्तर में स्मृतिसूत्र (उदाहरण-प्रत्युदाहरणादि)[1] उद्धृत किया जाय। अन्यथा वह प्रलाप मात्र समझा जायगा।' इस बात को ही वह दूसरी प्रकार से भी कहते हैं :

---

१. वा० १. १४८ (हरि टीका)। २. 'उदाहरणं प्रत्युदाहरणं वाक्याध्याहारः इत्येतसमुदितं व्याख्यानं भवति' इति (महा० १. १. १)।

ते लिङ्गैश्च स्वशब्दैश्च शास्त्रेऽस्मिन्नुपवर्णिताः ।
स्मृत्यर्थमनुगम्यन्ते केचिदेव यथागमम् ॥ वा १. २६ ॥

१७. **द्वितीय काण्ड : भाषा की इकाई :**– द्वितीय काण्ड का मुख्य प्रतिपाद्य विषय 'भाषा की इकाई' कहा जा चुका है। भर्तृहरि ने भाषा की इकाई 'वाक्य' को स्वीकार किया है। उनसे पूर्व यह बात किसी ने इतने बल पूर्वक नहीं कही थी। पाणिनि ने पदों की प्रकृति 'संहिता'[२] मानी थी। कात्यायन और पतंजलि ने सीधे और स्पष्ट शब्दों में अपना मत व्यक्त नहीं किया। फिर भी, पतंजलि ने 'वाक्य' को तथा कात्यायन ने 'पद' को ही इकाई माना प्रतीत होता है। 'न्याय-दर्शन' ने शब्दों की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार कर 'पदवाद' की मान्यता स्वीकार की थी। 'मीमांसा-दर्शन' ने वाक्य को भाषा की इकाई अवश्य माना, किन्तु विच्छेद्य : **अर्थैकत्वादेकं वाक्यं, साकाक्षं चेद्विभागे** स्यात् (मीमांसा २.१.४६)। इस अन्तःविरुद्ध परिभाषा ने, अभिहितान्वयवाद और अन्विताभिधानवाद के रूप में, दो परस्पर विरोधी सिद्धान्तों को जन्म दिया। फिर भी, दोनों में **पद** की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार की गई। भर्तृहरि 'पद' या 'पदार्थ' की किसी प्रकार को भी स्वतन्त्र मान्यता के परम विरोधी थे। वे इस काण्ड का विषय स्वयं उद्घोषित करते हैं: **'वाक्यं प्रति मतिर्भिन्ना बहुधा न्यायवादिनाम्** (वा०२.२)। इस विषय में उनकी प्रतिज्ञा है कि, 'नादों द्वारा अभिव्यज्यमान आन्तरिक शब्द ही बाह्य रूप में श्रूयमाण शब्द कहलाता है।' इस दृष्टि से सम्पूर्ण 'वाक्य' ही एक शब्द है।

'यदन्तःशब्दतत्वं तु नादैरेकं प्रकाशितम् ।
तमाहुरपरेशब्दं तस्यवाक्ये तथैकता ॥ वा० २.३० ॥'

वाक्यार्थ और पदार्थ की तुलनात्मक समीक्षा में वे कहते हैं :–

'लक्षणाद् व्यवतिष्ठन्ते पदार्था न तु वस्तुतः ।
उपकारात्स एवार्थः कथंचिदनुगम्यते ॥ वा० २.४४ ॥
वाक्यार्थे योऽभिसंबन्धो न तस्यात्मा क्वचित्स्थितः ।
व्यवहारे पदार्थानां तमात्मानं प्रचक्षते ॥ वा० २.४४५ ॥

अर्थात्, 'पदार्थों की सत्ता वास्तविक न होकर लाक्षणिक ही ठहरती है। यह केवल व्यावहारिक सुविधा की ही बात है कि हम पदार्थ को एक इकाई स्वीकार करते हैं।' अन्यथा वाक्य की एकता और अविभाज्यता तो हर प्रकार स्पष्ट है : **'एकार्थत्वं हि वाक्यस्य मात्रयाऽपि प्रतीयते** (वा० २४४८)।

इसीलिये वे स्पष्ट रूप में कहते हैं :

२. समर्थः पदविधिः । पा० २.१.१ ।

नित्यत्वे समुदायानां, जातेर्वा परिकल्पने ।
एकस्यैवार्थतामाहुर्वाक्यस्याव्यभिचारिणीम् ॥ वा० २. ५७ ॥
पदप्रकृतिभावश्च वृत्तिभेदेन वर्ण्यते ।
पदानां संहिता योनिः संहिता वा पदाश्रया ॥ वा० २. ५६ ॥

अर्थात्, 'किसी भी स्थिति में वाक्य एकार्थक ही ठहरता है। उसकी अर्थात्मक एकता को समझने के बाद यह स्पष्ट हो जाएगा कि पद और प्रकृति का विचार अर्थ परिवर्त्तन के विश्लेषण की दृष्टि से ही महत्वपूर्ण है, अर्थ की इकाई की दृष्टि से नहीं। वास्तव में, महत्व, पदों का न हो कर, 'संहिता' या 'एकवाक्यता' का है। यदि पदों की पृथक् सत्ता स्वीकार कर ली जाए, तब तो विभाजन की एक अनन्त प्रक्रिया चल पड़ेगी। वर्णों के अर्थ का प्रश्न उठेगा। और, वर्णों में भी वर्णभाग होते हैं। उनका भी अर्थ होना चाहिये।

पदानि वाक्ये तान्येव वर्णास्ते च पदे यदि ।
वर्णेषु वर्णभागानां भेदः स्यात् परमाणुवत् ॥ वा० २. २८ ॥
भागानामनुपश्लेषान्नवर्णो न पदं भवेत् ।
तेषामव्यपदेश्यत्वात्किमन्यदपदिश्यताम् ॥ वा० २. २६ ॥

और, ऐसे एक और अखण्ड वाक्य के प्रति भेदवादियों ने विविधतामय आठ मत स्थिर कर लिए।

१८. अर्थ और शब्दशक्ति — वाक्यार्थ की एकता स्वीकार करने का अर्थ है पदार्थ की सत्ता को केवल काल्पनिक या व्यावहारिक समझ लेना। फिर, यह अर्थ भी दो प्रकार से रह सकता है : **मुख्य** बन कर या **गौण** बन कर। मुख्यार्थ और गौणार्थ का यह भेद इसी काण्ड में दिखाया गया है। इस सम्बन्ध एक बात अत्यधिक महत्वपूर्ण है। भर्तृहरि शब्दशक्तियों की बहुमान्य धारणा को कहीं भी स्वीकार करते नहीं दीखते। वे मूलतः किसी भी अर्थ को गौण या मुख्य स्वीकार नहीं करते। अर्थ-विनिश्चय के आधार हैं वाक्य, प्रकरण, अर्थ, साहचर्य आदि। मुख्यार्थ भी उन से ही प्रगट होता है और गौणार्थ भी। तब अभिधा, लक्षणा और व्यंजना के भेदों की मान्यता का अवकाश ही कहां है? वस्तुतः किसी भी अर्थ का विनिश्चय प्रतिभा, अभ्यास, विनियोग और लोक-प्रयोग (परम्परा) के द्वारा होता है। शब्द-कोषों में लिखे, या प्रकृति-प्रत्ययादि विभाग द्वारा प्राप्त, अर्थों से कुछ भी निश्चय नहीं हो सकता।

१९. तृतीय : पदकाण्ड—तृतीय काण्ड को **पदकाण्ड या प्रकीर्णक** के नाम से कहा गया है। यद्यपि भाषा-सम्बन्धी अध्ययन पूर्वोक्त तथ्यों के परिज्ञान से पूर्ण हो जाता है, तब भी भाषा के पदरूप कल्पितांगों का अध्ययन आव-

श्यक है ही। पदार्थ और पद की सत्ता कल्पित मान कर भी उनके विविध संयोजक तत्वों का परिज्ञान आवश्यक हो जाता है। पाणिनि ने पद की परिभाषा **सुप्तिङन्तं पदम्**[1] के रूप में की है। सुबन्त और तिङन्त की पद संज्ञा कह देने से ही पद-सम्बन्धी जिज्ञासा पूरी नहीं हो जाती। तिङन्त और सुबन्त कहते ही दोनों से सम्बद्ध बहुत सी अन्य बातें उठ पड़ती हैं। 'आख्यात' या तिङन्त के साथ उपग्रह-पुरुष, काल आदि के सम्बन्ध का प्रश्न उठता है। **नाम** या सुबन्त के साथ विभक्ति, संख्या, लिंग, द्रव्य, वृत्ति, जाति आदि का प्रश्न उठता है। **जाति** और **सम्बन्ध** का अध्ययन पद-मात्र के लिये आवश्यक है। इन सब बातों का विस्तृत अध्ययन इसी काण्ड में किया गया है। ये सभी विषय शास्त्रीय एवं दार्शनिक प्रतीत होते हैं। किन्तु, भर्तृहरि इन सब को ही अत्यन्त वैज्ञानिकता से लेकर चलते हैं। उन्होंने 'पद' की सत्ता को लोक-कल्पना-सुलभ माना है। फिर, पद से सम्बद्ध इन सब बातों की रूढ़ि को वे अविकल मान्यता कैसे देते? उनकी दृष्टि में सत्य एक और अविभाज्य है। उसे हम अपनी सुविधा के लिए भले ही बांट लें, मूलतः वह एक ही रहता है। उनकी इस दृष्टि ने प्रत्येक विचार को सरल एवं ग्रह्य बना दिया है। इस काण्ड में चौदह समुद्देश हैं। हेलाराज के अनुसार दो समुद्देश इस में से अप्राप्य हैं। वे हैं बाधा और लक्षण-समुद्देश। उनका युक्तिक्रम मीमांसा-दर्शन में वर्णित 'लक्षण' और 'बाधा' को ध्यान में रख कर निश्चित किया जा सकता है, क्योंकि ऐसे प्रसंग में भर्तृहरि मीमांसा के युक्तिक्रम का उत्तर देने में ही व्यस्त रहे हैं।

२०. **सामान्य और विशेष**—इस काण्ड का प्रथम अंश **जाति-समुद्देश** है। इस समुद्देश में भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से एक महत्वपूर्ण बात उठाई गई है। हम जो भी शब्द उच्चारण करते हैं, उसका आरम्भिक ग्रहण हमें किस रूप में होता है: **सामान्य** के रूप में या **विशेष** के रूप में? भाषा-ग्रहण के मानसिक पक्ष की विवेचना के बाद भर्तृहरि स्पष्ट करते हैं: **स्वा जातिः प्रथमं शब्दैः सर्वैरेवाऽभिधीयते** (वा ०३. १.६)। अर्थात्, शब्दमात्र का प्रथम ग्रहण जाति (सामान्य) रूप में ही होता है। यहां तक कि संज्ञा-शब्दों से भी आपाततः जाति का ही रूप-ग्रहण होता है। लिंगवचनादि का संयोग इसी 'जातीयता' का परिचायक होता है। अतः कोई भी वस्तु या द्रव्य जातीयता से विहीन नहीं रह सकता: **न तदुत्पद्यते किंचिद् यस्य जातिर्न विद्यते** (वा ०३. १. २५)। संख्या, लिंग, गुण आदि भी इस में गृहीत होते हैं। 'क्रिया' या 'आख्यात' तो सदा ही जातिरूपा होती है। **इस**

१. पा० १.४.१४.

'सामान्य' के बाद ही 'विशेष' का रूप स्पष्ट होने लगता है।

२१. **शब्द में द्रव्य क्या है** ?—इस काण्ड का द्वितीय अंश 'द्रव्यसमुद्देश' है। इसमें भर्तृहरि का शुद्ध वैज्ञानिक रूप प्रगट हुआ है। यहां वे आत्मा, वस्तु, तत्व, शरीर, आदि को 'द्रव्य' रूप में एक ही मानते हैं: एक दूसरे के पर्याय।[1] एक चेतावनी वे अवश्य देते हैं: 'शब्द के आकार मात्र से भ्रम में न पड़ जाना चाहिए। आकार असत्य हो सकते हैं। सत्य शब्द वही है, जो आकृति के मिट जाने के बाद भी हमारे सामने स्पष्ट रहता है' (वा० ३. २. ११)। इस आधार पर उन्होंने आत्मा और शरीर को एक ही अर्थ का वाहक कहा है। शब्द का 'अर्थ' (भावना : आत्मा) और उसका 'बाह्य रूप' कभी भी परस्पर विरुद्ध हो कर नहीं रह सकते। न उनमें से एक नश्वर हो सकता है और न दूसरा अविनश्वर। यदि असत्य हैं तो दोनों, और यदि सत्य हैं तब भी दोनों ही। इसका अर्थ यह है कि यदि शब्द की बाह्याकृति और उसकी भावना में विरोध दीखता है, तो भावना के अनुकूल ही उसके रूप को समझना चाहिए। वे दोनों परात्पर अविभाज्य हैं।[2]

२२. **शब्दार्थ-सम्बन्ध : शब्दशक्ति की मान्यता अनावश्यक** - तृतीय अंश 'सम्बन्ध-समुद्देश' है। इसमें शब्द और अर्थ के पारस्परिक सम्बन्ध पर विचार किया गया है। वे सम्बन्ध स्वाभाविक व नित्य हैं। उन्हें युक्तियों द्वारा सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं। सम्बन्ध के विविध प्रकारों एवं आधारों की विवेचना के बाद भर्तृहरि एक ही परिणाम पर पहुंचते हैं कि शब्द और अर्थ का एक ही वास्तविक सम्बन्ध है: वाच्य-वाचक सम्बन्ध (वा० ३. २. २०-२१)। और, जब अर्थ केवल 'वाच्य' ही रह सकता है, कुछ और नहीं, तब **शब्द-शक्तियों** जैसी किसी सत्ता की मान्यता की आवश्यकता ही नहीं रह जाती। आलंकारिकों ने अभिधा, लक्षणा, व्यंजना एवं ध्वनि के रूपमें जो शब्द-शक्तियां स्वीकार की हैं, भर्तृहरि के युक्तिक्रम में, उनका अवकाश ही नहीं बैठता। शब्दों के अर्थ-विनिश्चय में दो सत्ताधर्म कार्य करते हैं: **उपचार** और **प्रतिचार**। 'उपचार-सत्ता' शब्द को किसी विशिष्ट अर्थ में स्थिर रखती है,[3] जब कि 'प्रतिचार-सत्ता' किसी अनिष्ट अर्थ के प्रतिषेध के लिये प्रवृत्त होती है।[4] इन दो सत्ताओं की कल्पना को भर्तृहरि की **सापेक्ष-दृष्टि** का परिणाम कहा जा सकता है। उनकी इस 'सापेक्ष दृष्टि' ने उलझनभरी दार्शनिक गुत्थियों को भी, सरलतम रूप में, सुलझा कर रख दिया है। इस दृष्टि के अनुसार कोई भी दो विरोधी दीखने वाले तथ्य, परस्पर विरोधी न होकर, दृष्टि की दो परस्पर-सापेक्ष अवस्था-मात्र

१. वा० ३.२.१; २.वा० ३.२.१२-१३; ३. वा० ३.३.३९.५०; ४. वा० ३.३.४२;

होते हैं। जन्म-मरण, भाव-अभाव, सत्-असत् आदि नाम हमने अपनी सुविधा के लिये घड़ लिये हैं। अन्यथा, परस्पर एक दूसरे में उनकी परिणति सर्वथा असम्भव है। एक से दूसरे का परिणमन या निर्माण सम्भाव्य ही नहीं है। हम आगे देखेंगे, यह युक्तिक्रम नितान्त वैज्ञानिक है।

२३. **रूपात्मक व्याकरण का आधार** – अगले समुद्देशों में गुण, साधन, क्रिया, काल, संख्या, लिंग, पुरुष, उपग्रह एवं वृत्ति आदि को लेकर इसी प्रकार के मौलिक, किन्तु सरल, विचार प्रगट किये गये हैं। गुण व संख्या के विषय में एक ही विशिष्ट युक्ति दी गई है : शुद्ध संख्या या शुद्ध गुण जैसी कोई वस्तु है ही नहीं। गुणात्मक और संख्यात्मक संज्ञाएं किसी न किसी द्रव्य के आधार पर ही अपनी अभिव्यक्ति देने में समर्थ हो पाती हैं। **साधन-समुद्देश** में विभक्तियों के लोक-प्रयुक्त विशिष्ट प्रयोगों को सयुक्तिक मान्यता दी गई है। **क्रिया-समुद्देश** में क्रिया या आख्यात के वास्तविक स्वरूप को प्रगट किया गया है। क्रिया के विषय में भर्तृहरि की **आश्रितक्रमरूपत्वात्** की युक्ति अत्यधिक महत्वपूर्ण है। **आख्यात** में क्रम-प्रक्रिया आवश्यक हो जाती है, जबकि **नाम** या संज्ञा में इस प्रकार की कोई बात आवश्यक नहीं होती। वहां क्रम की स्थिति समाप्त हो चुकी होती है।[1] काल अविभाज्य और अखण्ड है। उसका विभाग केवल व्यावहार-सापेक्ष ही स्वीकार किया गया है। भूत और वर्तमान की सत्ता यदि स्वीकार कर भी ली जाये, तब भी भविष्यत् जैसा नाम किसी विशिष्ट काल-सीमा को न दिया जा सकेगा। वह एक निरन्तर परिवर्तमान संज्ञामात्र रह जायगी। यही बात 'वर्तमान' के साथ भी है। इस दृष्टि से काल का केवल एक विभाग ही स्पष्टतः पृथक् रह सकता है—**भूतकाल**। पर, वह भी स्थिर रूप में एक काल सीमा के लिए रूढ़ नहीं कहा जा सकता। उपग्रह, पुरुष, लिंग और वृत्ति-प्रकरणों में भी इसी सापेक्ष-दृष्टि के आधार पर विचार किया गया है और उनका वैज्ञानिक स्वरूप निश्चित करने का प्रयास किया गया है।

२४. **वाक्यपदीय : भाषा-तत्व-शास्त्र**— इस प्रकार इन तथ्यों पर विचार करने के बाद एक सीधा-सा प्रश्न यह उठता है कि वाक्यपदीय का सही स्वरूप क्या है? इसका उत्तर ऊपर की पंक्तियों से भलीभांति स्पष्ट हो चुका है। वाक्यपदीय न तो कोई दार्शनिक कृति है और न व्याकरणात्मक। **व्याकरण का दर्शन** केवल उसके तृतीय काण्ड को ही कह सकते हैं। किन्तु, समग्र रूप में, आधुनिक दृष्टि से, उसे **भाषा-तत्व-शास्त्र** की अपूर्व कृति कहना ही अधिक उपयुक्त ठहरता है। ध्वनियों के वर्गीकरण जैसे कुछ विषय उसमें छूट गये हैं। किन्तु,

---

१. वा० ३.८.१, २८-२६.

ऐसा जानबूझ कर हुआ है। भर्तृहरि और भारतीय परम्परा उन्हें शिक्षा का विषय मानते हैं। भाषा के अध्ययन से उनका सीधा सम्बन्ध नहीं। व्याकरण की उलझनों से तो इस ग्रन्थ में वे इतना बचे हैं कि उनके उपस्थित होते ही **पृथग्भाष्येनिर्दर्शिताः** या इसी प्रकार की अन्य कोई उक्ति कह देते हैं। ऐसे स्थानों पर, पतंजलि के महाभाष्य की ओर उनका संकेत न होकर, स्पष्टतः केवल अपनी ही **त्रिपदी भाष्यटीका** की ओर संकेत होता है। अपनी टीका में उन्होंने ऐसे स्थलों को खुल कर स्पष्ट किया है। दुर्भाग्य है कि यह 'त्रिपदी-भाष्य' पूर्णरूप में उपलब्ध नहीं है। शब्द और वाक्य के सन्बन्ध में चलने वाला इसका आरम्भिक युक्तिक्रम भी काल की भेंट चढ़ गया है। फिर भी, उनकी इन दोनों कृतियों का परस्पर-उपकारक रूप स्पष्ट ही है। इस सत्य को न समझ पाने का ही कारण था कि टीकाकार इस विषय में अनेक स्थलों पर भटक कर रह गये। वर्तमान समय के प्रमुख अध्येताओं में से कुछ ने वास्तविक तथ्य को छूने का प्रयास किया है, किन्तु कुछ उसे बिल्कुल विपरीत दिशा में भी ले गये हैं। एक विद्वान्ने भृंतहरि को शब्द-शक्तियों का पोषक सिद्ध किया है,[1] तो दूसरे विपरीत विचार रखते हैं।[2] इस विषय में सत्य ऊपर कहा गया है। एक अन्य विद्वान् ने व्याकरण की बारीकियों में जाकर भी भर्तृहरि की इस मान्यता को स्पष्ट किया है कि **अपभ्रंश ही भाषा का मूल है।**[3] कुछ अन्य विद्वानों ने तृतीय काण्ड के विषयों पर स्वतन्त्र विचार भी किया है। कुछ ने उसके दार्शनिक दृष्टिकोण को स्पष्ट करने का प्रयास किया है।

२४. (अ) **ध्वनिशास्त्री भर्तृहरि** — यहां अब तक के एक उपेक्षित सत्य की ओर इंगित कर देना भी उचित रहेगा। भर्तृहरि ने वर्णभाग[4] और वर्णान्तर-सरूप[5] नाम की दो स्थितियों की चर्चा है। ये दोनों नाम उनके भाषावैज्ञानिक अध्ययन के चरम उत्कर्ष के द्योतक हैं। आजके ध्वनिशास्त्री **अनवशिष्ट ध्वनि**, **अस्पष्टोच्चरित ध्वनि**, अथवा **अश्रुत ध्वनि** आदि नामों से अन्तर्वर्ती अदृश्य ध्वनि के जिस रूप की व्याख्या करते हैं, भर्तृहरि ने उसी की चर्चा प्रासंगिक रूप में की है। 'आत्मा' से 'आप' शब्द के विकास की प्रक्रिया पूर्ण होने से पूर्व ही, प्रातिशाख्य-परम्परा में, इस सत्य को पहचान लिया गया था कि 'त्' 'म्' ध्वनियों के बीच 'प्' की एक अश्रुत-ध्वनि भी विद्यमान है। कालान्तर में यह

---

१. डा० कपिलदेव द्विवेदी—'अर्थ-विज्ञान और व्याकरण-दर्शन', अध्याय, 'शब्द-शक्ति'।

२. वाक्यपदीय : आगमकाण्ड, श्री सूर्यनारायण शुक्ल, भूमिका पृ० १७।

३. डा० रामसुरेश त्रिपाठी : 'वाक्यपदीय में आख्यात-विवेचन' (अप्रकाशित प्रबंध)।

४. वा० २.११.२८. ५. वा० २.११.

ध्वनि ही इतनी प्रबल हो गई कि शेष दोनों अनमेल ध्वनियों का स्थान भी इसीने लेलिया। स्पष्ट है कि पहले यह ष् की ध्वनि पूर्ण विकसित नहीं थी और बाद में यह पूर्ण हो गई। इस प्रकार की अपूर्ण विकसित ध्वनि को, वर्ण न कह कर, वर्णभाग ही कहा जा सकता है। इसको ही दूसरा नाम भर्तृहरि ने, वैज्ञानिक दृष्टि से, 'वर्णान्तर-सरूप' दिया है। जिह्वामूलीय और उपध्मानीय ध्वनियों की सत्ता बता रही है कि कुछ ध्वनियां, ध्वनिभागों के रूप में रहकर, बहुत सी अन्य ध्वनियों से मिलती-जुलती सी प्रतीत हो सकती हैं। जिह्वामूलीय ध्वनि सारे कवर्ग के लिए रूढ़ हो सकती है। उपध्मानीय की सत्ता से भी ओष्ठ्य ध्वनियों के लिए समान रूप में स्वीकार की जा सकती है। पाणिनि ने कुक्, टुक्,[1] धुट्[2] आदि आगमों की कल्पना इसी आधार पर की है। सन्ध्यक्षरों की चर्चा करते हुए पतंजलि उनमें भी वर्णैकदेश की सत्ता को स्वीकार करते हैं। 'उत्तरपदभूयस्त्व' का तो प्रश्न ही इस वर्णान्तरसरूपता पर आधारित है। ऋ और लृ को स्वर स्वीकार करके भी उनमें र् और ल् अंशों को स्वीकार करना इसी मान्यता की मूक स्वीकृति है। इस पर भी मज़ा यह कि भर्तृहरि इतनी बड़ी बात की चर्चा केवल प्रासंगिक रूप में ही करते हैं, किसी बड़ी भारी खोज के रूप में नहीं।[3]

किन्तु, इस सब के अन्त में हमें इतना ही कहना है कि, भर्तृहरि के शब्दों में ही, शुष्कतर्कानुसारी बनकर हम भी उसके युक्तिक्रम को महत्वहीन और निष्प्राण न कर दें। इसके विपरीत हमें चाहिए कि भाषा-वैज्ञानिक और भाषातात्विक युक्तिक्रम को समझ कर हम वाक्यपदीय का सही और तुलनात्मक मूल्यांकन करने में प्रवृत्त हों।

---

१. 'ङ्णोः कुक् टुक् शरि,' पा० ८.३.२८. २. 'डः सि धुट्', पा० ८.३.२९:

३. विस्तृत विचार लेखक के लेख—'अस्पष्टोच्चारितध्वनियां अथवा वर्णभाग'—'भारतीय साहित्य' के जनवरी, १९६१ के अंक में किया गया है।

ऐसा जानबूझ कर हुआ है। भर्तृहरि और भारतीय परम्परा उन्हें शिक्षा का विषय मानते हैं। भाषा के अध्ययन से उनका सीधा सम्बन्ध नहीं। व्याकरण की उलझनों से तो इस ग्रन्थ में वे इतना बचे हैं कि उनके उपस्थित होते ही **पृथग्भाष्येनिर्दर्शिताः** या इसी प्रकार की अन्य कोई उक्ति कह देते हैं। ऐसे स्थानों पर, पतंजलि के महाभाष्य की ओर उनका संकेत न होकर, स्पष्टतः केवल अपनी ही **त्रिपदी भाष्यटीका** की ओर संकेत होता है। अपनी टीका में उन्होंने ऐसे स्थलों को खुल कर स्पष्ट किया है। दुर्भाग्य है कि यह 'त्रिपदी-भाष्य' पूर्णरूप में उपलब्ध नहीं है। शब्द और वाक्य के सम्बन्ध में चलने वाला इसका आरम्भिक युक्तिक्रम भी काल की भेंट चढ़ गया है। फिर भी, उनकी इन दोनों कृतियों का परस्पर-उपकारक रूप स्पष्ट ही है। इस सत्य को न समझ पाने का ही कारण था कि टीकाकार इस विषय में अनेक स्थलों पर भटक कर रह गये। वर्तमान समय के प्रमुख अध्येताओं में से कुछ ने वास्तविक तथ्य को छूने का प्रयास किया है, किन्तु कुछ उसे बिल्कुल विपरीत दिशा में भी ले गये हैं। एक विद्वान्ने भृतहरि को शब्द-शक्तियों का पोषक सिद्ध किया है,[1] तो दूसरे विपरीत विचार रखते हैं।[2] इस विषय में सत्य ऊपर कहा गया है। एक अन्य विद्वान् ने व्याकरण की बारीकियों में जाकर भी भर्तृहरि की इस मान्यता को स्पष्ट किया है कि **अपभ्रंश ही भाषा का मूल है।**[3] कुछ अन्य विद्वानों ने तृतीय काण्ड के विषयों पर स्वतन्त्र विचार भी किया है। कुछ ने उसके दार्शनिक दृष्टिकोण को स्पष्ट करने का प्रयास किया है।

२४. (अ) **ध्वनिशास्त्री भर्तृहरि** — यहां अब तक के एक उपेक्षित सत्य की ओर इंगित कर देना भी उचित रहेगा। भर्तृहरि ने वर्णभाग[4] और वर्णान्तर-सरूप[5] नाम की दो स्थितियों की चर्चा है। ये दोनों नाम उनके भाषावैज्ञानिक अध्ययन के चरम उत्कर्ष के द्योतक हैं। आजके ध्वनिशास्त्री **अनवशिष्ट ध्वनि, अस्पष्टोच्चरित ध्वनि,** अथवा **अश्रुत ध्वनि** आदि नामों से अन्तर्वर्ती अदृश्य ध्वनि के जिस रूप की व्याख्या करते हैं, भर्तृहरि ने उसी की चर्चा प्रासंगिक रूप में की है। 'आत्मा' से 'आप' शब्द के विकास की प्रक्रिया पूर्ण होने से पूर्व ही, प्रातिशाख्य-परम्परा में, इस सत्य को पहचान लिया गया था कि 'त्' 'म्' ध्वनियों के बीच 'प्' की एक अश्रुत-ध्वनि भी विद्यमान है। कालान्तर में यह

---

१. डा० कपिलदेव द्विवेदी—'अर्थ-विज्ञान और व्याकरण-दर्शन', अध्याय, 'शब्द-शक्ति'।

२. वाक्यपदीय : आगमकाण्ड, श्री सूर्यनारायण शुक्ल, भूमिका पृ० १७।

३. डा० रामसुरेश त्रिपाठी : 'वाक्यपदीय में आख्यात-विवेचन' (अप्रकाशित प्रबंध)।

४. वा० २.११.२८.

५. वा० २.११.

वाक् भाषा और व्याकरण

२५. **वाक् और भाषा**—भाषा और वाक् शब्दों का प्रयोग हमें अनेकत्र उलझा हुआ दिखाई देता है। इन दोनों को क्रमशः **लैंग्वेज** और **स्पीच** के रूप में ग्रहण किया जाता है। 'भाषा' है जनव्यवहृत रूप, जो कि देश, काल, वक्ता आदि के आधार पर भिन्न-भिन्न हो जाता है। उसका विकास स्वतन्त्र होता है और उसके लिए सार्वभौमिक और सार्वत्रिक नियम-विधान बनाने असंभवप्राय समझे जाते हैं। 'वाक्' को सामान्यतः 'वाणी' कहा जाता है। संसार की समस्त भाषाएं इसी माध्यम से प्रयुक्त होती हैं। **वाणी का अर्थ है मुख से उच्चारण प्रक्रिया द्वारा व्यक्त शब्दावली।**[1] भाषा या भाषण आदि शब्दों की व्युत्पत्ति 'भाष' धातु से मानी गई है। धातुपाठ में धातुवृत्तिकार ने **भाष व्यक्तायां वाचि** पाठ पढ़ा है : अर्थात् 'भाषा' का अर्थ है 'व्यक्त वाक्'। दूसरी ओर, **वाक्** शब्द की व्युत्पत्ति **वच परिभाषणे** धातु से मानी गई है। 'वाक्' का अर्थ हुआ **भाषण का माध्यम**। इस प्रकार 'भाषा' और 'वाक्' एक ही वस्तु के दो पहलू हैं। परन्तु, 'वाक्' शब्द का व्यवहार अधिक व्यापक भी रहा है। उसे स्पष्टतः 'भाषा' के अर्थ में भी प्रयोग किया जाता रहा है। **ऋग्वेद** के वागाम्भृणीय सूक्त (१०. १२५) में वाक् शब्द 'भाष' के ही अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। **चत्वारिवाक्परिमिता पदानि** (ऋ० १. १६४. ४५) में जो पद-विभाग वर्णित किया गया है, उसका अर्थ पतंजलि **नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्च** के रूप में करते हैं। स्पष्टतः ये विभाग, 'वाणी' के न होकर, भाषा के ही संभव हैं। **अथर्ववेद** के प्रथम सूक्त के प्रथम मन्त्र से भाषा पक्ष पर ही विचार मुख्य अभिप्रेत माना जाता है[2]; यद्यपि बाद के तीनों मन्त्रों में वाणी पक्ष की

---

१. "Speech is thus a universally exerted activity, having at first utilitarian aims. In describing this activity we shall discover that it consists in the application of a universally produced science, namely the science, which we calllangu-age." (Sp. & lg. pp 62,* 20.)

२. 'ये त्रिषप्ताः' (अथ० १.१.१.) इस में त्रि, सप्त रूप और वाचस्पति शब्दों पर ध्यान देना चाहिये।

प्रधानता है। इसके विपरीत ऋग्वेद का १०.७१ सूक्त समग्रतः वाणी को लक्ष्य करके लिखा गया है। 'भाषा' शब्द का विविध रूपों में, लोकभाषा के अर्थ में, प्रयोग हमें **निरुक्त, अष्टाध्यायी** और **महाभाष्य** में मिलता है। व्याडि और कात्यायन ने भी इसका प्रयोग किया है। इन सब में यह प्रयोग स्पष्टतः वैदिक भाषा और लोक भाषा में अन्तर दिखाने के लिये हुआ है। किन्तु, मीमांसा दर्शन, कात्यायन के वार्त्तिकों, एवं महाभाष्य में **लोक** और **वेद** की भाषा के भेद को स्पष्ट करने के लिये 'लौकिक' और 'वैदिक' शब्दों का प्रयोग किया गया है। इस प्रकार निरुक्त और अष्टाध्यायी में 'भाषा' या 'विभाषा' के द्वारा जो अभिप्रेत है, इसे ही इन ग्रन्थों में 'लोक' या 'लौकिक' शब्दों के द्वारा कहा गया है। 'वाक्' शब्द का प्रयोग, इस बीच, 'भाषा' के लिये अप्रचलित होता गया दीखता है। भर्तृहरि ने ही इतने कालव्यवधान के बाद फिर से इसे शब्द का 'भाषा' के अर्थ में प्रयोग किया है। वे 'भाषा' के लिये तो सर्वत्र 'वाक्' शब्द का प्रयोग करते ही हैं, किन्तु 'वाणी' के लिये भी वे इसी शब्द का प्रयोग करते हैं। उदाहरणार्थ :

प्राप्तरूपविभागायाः यो वाचः परमो रसः।
यत्तत्पुण्यतमं ज्योतिस्तस्य मार्गोऽयमाञ्जसः॥ वा० १. १२॥

रूप-विभाग का सम्बन्ध 'भाषा' से ही है। फिर, 'व्याकरण' का क्षेत्र तो है ही भाषा। अतः यहां 'वाक्' का प्रयोग 'भाषा' के लिये हुआ है

वाग्रूपता चेदुत्क्रामेदवबोधस्य शाश्वती।
न प्रकाशः प्रकाशेत सा हि प्रत्यवमर्शिनी॥ वा० १. १२४॥

यहां 'वाणी' और 'भाषा' दोनों अर्थों में 'वाक्' का प्रयोग हुआ है। प्रत्यवमर्श 'भाषा' के माध्यम से ही सम्भव है। **'दैवी वाग्व्यतिकीर्णेयमशक्तैः'** (वा० १. १५५), में भी 'वाक्' का प्रयोग 'भाषा' के अर्थ में ही हुआ है। वाक् की इकाई भर्तृहरि ने **वाक्य** को माना है। स्वभावतः 'वाक्य' किसी **भाषा** की ही इकाई होता है। इससे भी 'वाक्' का भाषार्थक प्रयोग पुष्ट होता है। आजकल के **बोली, लिंग्वा, लैंग्वेज,** आदि शब्द भी इसी परम्परा को पुष्ट करते हैं कि 'वाक्' और 'भाषा' शब्द का एक दूसरे से सम्बन्ध है।

२६. **शब्द : भाषा**—परन्तु वाणी और भाषा के अर्थ में ही भर्तृहरि एक दूसरा शब्द भी प्रयोग करते हैं, वह है 'शब्द'। 'शब्द' धातु का अर्थ धातुवृत्तिकार ने किया है **'भाषणे, उपसर्गादाविष्कारे च'**। 'भाषण' जहां 'शब्द' को 'भाषा' का पर्यायवाची स्थिर करता है, वहां 'आविष्कार' उसे वाणी के अर्थ में स्थिर बताता है। अपनी 'महाभाष्य' की 'त्रिपदी' टीका में 'शब्द' की व्याख्या

करते हुए भर्तृहरि कहते हैं — **'यस्तु लौकिकः शब्दोऽसावेवाश्रीयते'**।[1] लौकिक या लोक प्रयुक्त शब्द 'भाषा' का ही अंग है। पतंजलि ने **'प्रतीतपदार्थको हि लोके ध्वनिः शब्दः'** कह कर भी **'तस्मात् ध्वनिः शब्दः'**[2] कहा। उससे केवल-मात्र उच्चरित 'वाणी' का भ्रम होना सम्भव था। इसीलिये भर्तृहरि ने उसे स्पष्ट करते हुए अपनी त्रिपदी टीका में कहा — **'ध्वनिशब्दयोरन्यत्वे प्रयोजनाभावात् एकत्वेन व्यपदेशः'**[3]। स्पष्टतः 'शब्द' शब्द से, 'वाणी' और 'भाषा' के रूप में, दोनों अर्थ उन्हें स्वीकार्य थे। इसीलिये जब वे भाषा की विवेचना अपने **वाक्यपदीय** के प्रथमकाण्ड में करते हैं तब 'शब्द' का प्रयोग बहुधा भाषा-स्थानीय करते हैं। ऐसा करते हुए वे बहुधा उसे बहुवचनान्त प्रयुक्त करते हैं। वस्तुतः 'शब्द' का इस अर्थ में प्रयोग **'न्याय' व 'सांख्य'** आदि दर्शनों में भी हुआ है। भर्तृहरि भाषा पर विचार करते हुए उसके लिए 'शब्द' शब्द को लेकर ही चलते है।[4] इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि वे, 'पद' रूप में, 'शब्द' को भाषा की इकाई भी मानते हैं। **पद** और **शब्द** सर्वथा भिन्न स्थितियां हैं। अतः जब 'शब्द' का प्रयोग भाषा के अर्थ में होता है, तो उसका अर्थ भाषा की वैज्ञानिक इकाई के विनिश्चय से ही नहीं होता। 'शब्द' का प्रयोग इसलिये भी उन्होंने किया है कि व्याकरण का क्षेत्र ही 'शब्द' है। 'साधुता-असाधुता' का प्रश्न ही शब्द के विषय में उठता है। इससे 'भाषा' की प्रकृति का निर्णय होता है। **शब्देष्वेवाश्रिता**' (वा० १.११८), **'शब्दस्य परिणामोऽयं** (वा० १. १२०), **इतिकर्तव्यता लोके सर्वा शब्दव्यपाश्रया** (वा० १. १२१), **'अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते'** (वा० १. १२३), **'तस्माद् यः शब्दसंस्कारः'** (वा० १. १२१), इत्यादि समस्त प्रसंगों में **शब्द** का अभिप्राय पद (वर्ड) से न होकर शब्द-क्रम या शब्द-मात्र से होता है। और, यह अर्थ 'भाषा' के अर्थ से भिन्न है। यह प्रसंग तब और अधिक स्पष्ट होता है, जब हम अमभ्रंश सम्बन्धी उनके विचारों को पढ़ते हैं। पतंजलि ने 'भूयांसोऽपशब्दाः'[5] कह कर 'अपभ्रंश' के प्रति जिस ध्यान को खींचा था, भर्तृहरि ने उसे सीधे से **अपभ्रंश** कह कर ही विचार किया है। उस प्रसंग में सर्वत्र **शब्द** का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रयोग **भाषा** की सूचना के लिये ही हुआ है, किसी विशिष्ट 'इकाई' की सूचना के लिये नहीं। फ्रैंच शब्द Parole इस विषय में स्मर्त्तव्य है, उसका अर्थ 'शब्द' (वर्ड) और 'वाक्' (स्पीच) दीनों रूप में होता है।

यह सब इस लिये कहना पड़ा कि भर्तृहरि के भाषा-सम्बन्धी विचारों

१. त्रिपदी टी० १.१.१. २. महा १. १. १. ३. त्रि० टी० १.१.१.
४. वा० १. १४८ से १५५ ५. महा १.१.१.

का अध्ययन करते हुए इन दोनों—**वाक्** और **शब्द**—शब्दों का प्रयोग हमें भ्रम में डाल सकता है। इन दोनों के प्रयोग को बिना समझे हम भर्तृहरि की भाषा-सम्बन्धी विचार धारा को भली प्रकार से हृदयंगम न कर सकेंगे।

२७. **भाषा और अपभ्रंश**—मीमांसा, निरुक्त, पाणिनीय अष्टाध्यायी, कात्यायन के वार्त्तिक, एवं महाभाष्य में लोक और वेद की भाषा का अन्तर स्पष्ट किया गया है। उसे हम **लोकवेदयोः** (मीमांसा) के द्वारा कहें, **लौकिकवैदिकेषु** (वार्त्तिक, महाभाष्य) के द्वारा या, फिर **छन्दसि** (पाणिनि) और **भाषायाम्** (निरुक्त) के द्वारा : वेद और लोक की भाषा में स्पष्ट अन्तर तब तक अनुभव किया जा चुका था। वेद की भाषा रूढ़ हो चुकी थी, तथा जनभाषा के रूप में संस्कृत स्वतन्त्र विकास पा रही थी। परन्तु, पाणिनि के बाद कात्यायन और पतंजलि ने एक और अन्तर अनुभव किया था। संस्कृत का प्रयोग अधिकाधिक व्याकरणसम्मत होते जाने के कारण **जनभाषा** व्याकरण के नियमों से मुक्त रह कर अपना स्वतन्त्र विकास ग्रहण करती जा रही थी। इस भाषा में संस्कृत या शिष्ट भाषा से पर्याप्त अन्तर आ चुका था। कात्यायन ने इसे 'प्राकृत' नाम दिया। किन्तु एक अन्तर वे भी स्पष्ट न कर सके थे। कुछ शब्द प्राकृत और संस्कृत में ऐसे आते जा रहे थे, जिन्हें उन्हीं के मूल-उत्स से उद्धृत न कह कर 'बाह्य' कहना अधिक उचित था। ऐसे शब्दों में न तो प्रकृति-प्रत्यय-विभाग ही और न अर्थ-परिवर्तन ही संस्कृत-प्राकृत के आधार पर हुआ था। पाणिनि ने इन्हें **निपातनात्सिद्धम्** के रूप में सिद्ध शब्द माना था। परन्तु, पाणिनि के ही परवर्ती शिष्यों ने ऐसे शब्दों को 'अपभ्रंश' कह डाला। अपभ्रंश वे इसी अर्थ में थे कि उनका व्याकरणात्मक-ढांचा परम्परा के विशिष्ट क्रम में नहीं रहा था। अन्यथा अर्थ को वहन करने, एवं जनता के दैनिक व्यवहार में प्रयोग आने के कारण ये सभी भाषा में ही अन्तर्गृहीत होते थे। पतंजलि के समय तक इन शब्दों की बाढ़ अवश्य आ गई थी,[१] किन्तु भाषा का मूल ढांचा संस्कृत के अनुकूल ही रहा था। प्राकृत भी इसी व्यापक ढांचे में अन्तर्गृहीत हो जाती थी। भर्तृहरि का समय पतंजलि से भी सात-आठ सौ वर्ष बाद ठहरता है। तब तक जनभाषा का सामान्य स्वरूप ही **अपभ्रंश** हो चुका था। अपभ्रंश भाषा में साहित्य-निर्माण भी उनके समय तक आरम्भ हो चुका था। स्वभावतः, संस्कृत के व्याकरणात्मक ढांचे के उपयुक्त बनाकर, इन शब्दों का, शिष्टों द्वारा, प्रयोग होने लगा था। **एक ओर** प्रयोग की यह दशा थी, **दूसरी ओर** शुद्धतावादी वैयाकरण इस प्रवृत्ति का जी-जान से विरोध करना चाहते थे। उन्होंने भाषा

१. भूयांसो ह्यपशब्दाः अल्पीयांसः शब्दाः। एकैकस्य शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः।
महा० १.१.१. (६ वा०)।

के क्षेत्र में शिष्ट-अशिष्ट एवं साधु-असाधु का एक विवाद खड़ा कर दिया था। व्याकरण-सम्मत शब्दों को ही वे साधु मानते थे और उन्हें ही शिष्ट जनों के प्रयोगार्ह मानते थे। किन्तु भर्तृहरि देख रहे थे कि बड़े से बड़ा वैयाकरण भी व्यवहारानुगत इन अपभ्रंश शब्दों को प्रयोग किये बिना नहीं चल सकता। सच कहा जाय, तो **साधु शब्दों** की मूल प्रवृत्ति चलती ही इन तथाकथित असाधु या **अपभ्रंश शब्दों** से है। उनके शब्दों में :

अथवाऽभ्युपाय एवापशब्दज्ञानं शब्दज्ञानस्य। यश्च यस्याऽभ्युपाय: तमन्तरेण तस्याप्रवृत्तिरेव इति। तदपि तस्याङ्गमेव भवति। यथाश्वमेधादिष्वभ्युदय एव हिंसाधर्मस्य एवमिदमपशब्दज्ञानानुषक्तं शब्दज्ञानं इति। नास्याधर्मेण सम्बन्ध:। एवं स्मृति: समर्थिता भवति। एवमानर्थक्यं न भवति स्मृते:।
(महाभाष्य, त्रिपदी टीका १.१.१, वार्तिक सूत्र ६)।

अर्थात्, 'अपभ्रंश शब्दों के ज्ञान का अधर्म से कोई सम्बन्ध नहीं। प्रत्युत, उनका ज्ञान अनिवार्य एवं अपरिहार्य है। परम्परा-संगत बात भी यही है। परम्परा की रक्षा भी इसी ज्ञान से होती है।' यह बात व्याडि के वचन - **शब्दप्रकृतिरपभ्रंशः** - का सहेतुक और सयुक्तिक विवेचन है। स्मृति या परम्परा यदि साधु शब्दों के अर्थ-विनिश्चय का कारण है, तो तथाकथित अपभ्रंश शब्दों का अर्थ-विनिश्चय भी इसी परम्परा के कारण होता है। और, परम्परा का यह प्रभाव इतना व्यापक होता है कि एक बार अपभ्रंश शब्दों के किसी अर्थ में रूढ़ हो जाने पर, उस अर्थ के वाहक तथाकथित साधु शब्द भी उस अर्थ के वाहक नहीं रह जाते :

पारम्पर्यादपभ्रंशा विगुणेष्वभिधातृषु।
प्रसिद्धिमागता येषु साधुस्तेषामवाचक:। वा० १.१५४॥

और, यह सत्य है कि इस प्रकार का अपभ्रंश शब्द किसी व्याकरणसम्मत शब्द का ही स्थान ले लेता है; क्योंकि उसका अर्थ व्याकरणसम्मत शब्द के अर्थ का स्थान ग्रहण कर लेता है। इस प्रकार **रूढ़ साधु** शब्द भी **रूढ़ अपभ्रंश** शब्द के लिए प्रयोग का अवकाश छोड़ देता है।

एवं साधौ प्रयोक्तव्ये योऽपभ्रंशः प्रयुज्यते।
तेन साधुव्यवहितः कश्चिदर्थोऽभिधीयते॥ वा० १.१५३॥

२८. **साधु-असाधु** — इस बात का कारण विवेचन करते हुए भर्तृहरि इस परिणाम पर पहुंचे हैं कि 'अपभ्रंश'-शब्द का, सामान्य शब्दों से, यहीं अन्तर होता है कि साधु शब्दों में प्रकृति-प्रत्यादि विभाग नितान्त स्पष्ट होता है, जबकि अपभ्रंश शब्दों में यह विभाग उतना स्पष्ट नहीं होता। **प्रत्यय शब्द**

के संस्कार या साधुत्व का कारण होता है। जब शब्द परम्परागत प्रत्ययों से भिन्न, और अपरिचित प्रत्ययों के साथ प्रयोग किये जाते हैं, तब वे **अपभ्रंश** अथवा संस्कार-विहीन कहलाते हैं। पर वे किसी न किसी विशिष्ट अर्थ में स्थिर अवश्य होते हैं।

शब्दः संस्कारहीनो यो गौरिति प्रयुयुक्षिते ।
तमपभ्रंशमिच्छन्ति विशिष्टार्थविनिवेशिनम् ॥ वा० १.१४८ ॥

इस प्रकार, यदि सिद्ध ही करना हो तो, 'अपभ्रंश' शब्दों को भी खींच-तान कर व्याकरण-सम्मत सिद्ध किया जा सकता है। उदाहरणार्थ 'अस्व' शब्द को ले लें। वस्तुतः किसी विशिष्ट प्रदेश के निवासी 'अश्व' का शुद्ध उच्चारण न कर पाने से 'अस्व' कह बैठते हैं। किन्तु, 'व्याकरण' के अनुशासन में चलने वाला व्यक्ति 'स्व' का अर्थ 'धन' मान कर 'अस्व' का अर्थ 'निर्धन' मान लेगा। और, इस प्रकार विषयान्तर में, इसे ही नियमित व परम्परागत (साधु) सिद्ध करने का प्रयास करेगा। परन्तु यह साधुत्व 'घोड़ा' अर्थ में भी निश्चित ही मानना चाहिए ।

अस्वगोण्यादयः शब्दाः साधवो विषयान्तरे ।
निमित्तभेदात्सर्वत्र साधुत्वं च व्यवस्थितम् ॥ वा० १.१४९ ॥

अतः भर्तृहरि का यह कथन उपयुक्त ही है कि 'साधुत्व' किसी एक निश्चित प्रक्रिया का नाम नहीं है। वह तो निमित्त भेद के अनुसार सर्वत्र ही ढूंढ़ा जा सकता है। अन्तर इतना ही है कि, 'अनेक शब्द शिष्टों की परम्परा से न आकर जन-परम्परा से आते हैं। शिष्ट-परम्परा के शब्दों को हम **साधु** कह देते हैं और उससे भिन्न स्रोत से आने वाले शब्दों को **असाधु** !'

शिष्टेभ्य आगमात्सिद्धाः साधवो धर्मसाधनम् ।
अर्थप्रत्यायनाभेदे विपरीतास्त्वसाधवः ॥ वा० १.२७ ॥

परन्तु, साधु और असाधु शब्दों को भी परस्पर-सापेक्ष कहा जा सकता है। वे दोनों अपने-अपने विशिष्ट सम्बन्धों में बंधे होते हैं। शब्दार्थ-सम्बन्ध की व्यवस्था भी उनमें एक समान ही होती है।

कार्यकारणभावेन योग्यभावेन च स्थिताः ।
धर्मे ये प्रत्यये चाङ्गं सम्बन्धाः साध्वसाधुषु ॥ वा० १.२५ ॥

साधु-असाधु के इस विभेद का यह अर्थ नहीं कि 'असाधु' शब्द बनावटी या कृत्रिम हैं — अतएव त्याज्य हैं। नाही, इस प्रकार के शब्दों को अनर्थक या निरर्थक कहा जा सकता है। प्राणि-जगत् की ही भांति शब्द-जगत् की साधु-असाधु की यह परस्पराश्रित व्यवस्था भी नित्य व सार्थक है। शिष्ट लोग कुछ शब्दों को लम्बी परम्परा के आधार पर (व्याकरण-सम्मत आधार

पर) साधु मान लेते हैं। इससे सामान्य-परम्परा के बोध में सहायता ही मिलती है। परम्परा से भिन्न - असाधु - शब्दों का इससे निषेध नहीं हो जाता।

नित्यत्वे कृतकत्वे वा तेषामादिर्न विद्यते।
प्राणिनामिव सा चैषा व्यवस्थानित्यतोच्यते ॥ वा० १. २८ ॥
नानर्थिकामिमां कश्चिद् व्यवस्थां कर्त्तुमर्हति।
तस्मिन्निबध्यते शिष्टैः साधुत्वविषया स्मृतिः ॥ वा० १. २९ ॥

और, भाषा है भी क्या ? लोक-प्रसिद्धि के आधार पर एक परम्परा स्थिर हो जाती है। उसे हम 'लोकागम कहें या 'लोक-परम्परा' उसे किसी तर्क या युक्ति से न सिद्ध किया जा सकता है, और न बाधित किया जा सकता है। सत्य तो यह है कि शिष्ट पुरुष तो क्या ऋषियों तक का ज्ञान भी इस 'आगम' या 'लोकगत-रूढ़ि' का उल्लंघन नहीं कर सकता। इस प्रकार 'शास्त्र' की अपेक्षा 'लोक-प्रसिद्धि' ही बलवती है।

न चागमादृते धर्मस्तर्केण व्यवतिष्ठते।
ऋषीणामपि यज्ज्ञानं तदप्यागमपूर्वकम् ॥ वा० १. ३० ॥
धर्मस्य चाव्यवच्छिन्नाः पन्थानो ये व्यवस्थिताः ॥
न ताँल्लोकप्रसिद्धत्वात्कश्चित्तर्केण बाधते ॥ वा० १.३१ ॥

और, लोक परम्परा के इस अनवबद्ध और अनवरुद्ध प्रवाह को ही उन्होंने 'अपभ्रंश' नाम दिया। इस प्रकार उनके भाषा-सम्बन्धी सिद्धान्त, किसी व्याकरणनिष्ठ भाषा पर ही आधारित न होकर, जन-प्रवृत्ति का भी ध्यान रखते हुए बने हैं।

२९. भाषा-विकास में परम्परा और आत्म-चेतना - 'अपभ्रंश' की इस मान्यता के साथ ही, भाषा के विकास और उसकी वृद्धि के सम्बन्ध में भर्तृहरि की धारणा भी स्पष्ट हो जाती है। उनके मत में भाषा न तो किसी प्रकार का कृत्रिम प्रयत्न है और ना ही उसे किसी एक विशिष्ट दिन से आरम्भ माना जा सकता है। जिस प्रकार प्राणि-सृष्टि का विकास और विनाश होता रहता है, पर फिर भी वह एक प्रकार की नित्य व्यवस्था है, उसी प्रकार भाषा का भी आदि या आरम्भ विनिश्चय नहीं किया जा सकता। वह एक नैत्यिक प्रक्रिया है, अपने प्रवाह में बढ़ती चलने वाली (वा० १. २९)। वस्तुतः भाषा में किसी शब्द के चल निकलने और भाषा का अंग बन जाने का एकमात्र कारण है **लोकप्रसिद्धि**। जनता में जो शब्द प्रचलित है, वही साधुवत् मान लिया जाता है। और, 'लोक-प्रसिद्धि' के बाद कोई तर्क या युक्ति उसके प्रचलन को रोक नहीं सकती (वा० १. ३१)।

यह लोक प्रसिद्धि कई आधारों पर सरलता से प्राप्य भी हो जाती है और उन्हीं आधारों पर दुष्प्राप्य भी। ये आधार हैं अवस्था, देश, काल आदि के। इन सब का प्रभाव भाषा की वृद्धि व विकास पर पड़ता है। जो प्रदेश भी केन्द्रीय महत्व को प्राप्त कर लेगा, उसी की शब्दराशि का प्रभाव चारों ओर पड़ने लगता है। यही बात अवस्था, काल आदि के साथ है। ये सब प्रभाव भाषा पर, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में पड़कर, उसके निर्माण व विकास पर प्रभाव डालते हैं। इनका कोई सीधा नियम-विधान निश्चित नहीं किया जा सकता (वा० १. ३२)। इस प्रसिद्धि का सब से बड़ा कारण है **अभ्यास**। **प्रयोग** अभ्यास के द्वारा ही सम्पुष्ट होता है और प्रसिद्धि पाता है। भाषा की पहचान में भी यही 'अभ्यास' महत्वपूर्ण भाग ग्रहण करता है (वा० १. ३६)। अतः भर्तृहरि भाषा की विकास-प्रक्रिया को अनादि और अव्यवच्छिन्न मानते हैं। उनकी दृष्टि में भाषा-विकास का आधार श्रुति-परम्परा या 'लोक-परम्परा' पर है। इसे हम भाषा-सम्बन्धी आधुनिक विकास-मत की तुलना में रख कर पढ़ें, तो इस मत का महत्व भली भांति स्पष्ट होगा। इस लोक-परम्परा के नियमन के लिये ही 'व्याकरण' आदि स्मृतियों का विधान किया जाता है।

अनादिमव्यवच्छिन्नां श्रुतिमाहुरकर्तृकाम्।
शिष्टैर्निबध्यमाना तु न व्यवच्छिद्यते स्मृतिः॥ वा० १. १४५॥

व्याकरण से भाषा-रचना मानने का सिद्धान्त, इस दृष्टि से, सर्वथा अव्यावहारिक है। **परम्परा के केवल अनुकरण** के सिद्धान्त को भी भर्तृहरि के यहां मान्यता प्राप्त नहीं है। अनुकरण में **अनुमान** की प्रधानता रहती है। और, अनुमान बहुधा अंधकार की ओर ले जाता है :

हस्तस्पर्शादिवान्धेन विषमे पथि धावता।
अनुमानप्रधानेन विनिपातो न दुर्लभः॥ वा० १.४३॥

वाणी या भाषा 'प्रत्यक्ष' का विषय है। 'प्रत्यक्ष' का अर्थ है **स्वानुभूति**। इसे भी **अभ्यास** द्वारा दृढ़ किया जाता है। स्वानुभूति के द्वारा ही भाषा अपनी वस्तु (अपना दर्शन) बन जाती है। ऋषि हो या चाण्डाल, वह उसका प्रयोग किसी शास्त्र या कोष की सहायता से न करके, स्वाभाविक उपलब्धि और अभ्यास के बल पर करता है। वही उसका **प्रत्यक्ष** है।

यो यस्य स्वमिव ज्ञानं दर्शनं नातिशंकते।
स्थितं प्रत्यक्षपक्षे तं कथमन्यो निवर्तयेत्॥ वा० १.३९॥
इदं पुण्यमिदं पापम् इत्येतस्मिन्पदद्वये।
आचण्डालं मनुष्याणामल्पं शास्त्रप्रयोजनम्॥ वा० १.४०॥

अतः जिस प्रकार पाप-पुण्य का निश्चय मनुष्य की चेतना पर निर्भर करता है, उसी प्रकार वाक्-प्रयोग के औचित्यानौचित्य के विनिश्चय में मानव अपनी चेतना पर ही निर्भर करता है। उदाहरणार्थ 'अश्व' का घोड़ा होता है। किन्तु 'क' प्रत्यक्ष जोड़कर 'अश्वक' शब्द बनने का अर्थ ही है, उसमें कुछ अन्तर आ जाना। अश्वक का अर्थ है—मिट्टी का घोड़ा या चित्रस्थित घोड़ा।[1] निश्चय ही इसमें 'क' का अर्थ 'मिट्टी' नहीं है, फिर भी उसके जुड़ते ही इस शब्द में वैसी कुछ भावना आ जाती है। यह जनरुचि और जन-चेतना ही कारण ही होता है।

३०. दैवी-वाक् - इस प्रकार भाषा-विकास के जिस सिद्धान्त को भर्तृहरि स्वीकार करते हैं, उसमें उत्पत्तिवाद, अनुकरणवाद, व्याकरणात्मक-उत्पत्ति, जैसे मतों को कोई अवकाश नहीं है। उसमें 'लोक' को भाषा का **मूल-उत्स** स्वीकार किया गया है। ऐसी दशा में उन द्वारा प्रयुक्त शब्द **दैवी-वाक्** को लेकर यह सिद्ध करना कि संस्कृत या वैदिक भाषा की उत्पत्ति परमात्मा से है और उसका सम्बन्ध वेद या उपनिषद् के वचनों से जोड़ना सर्वथा अनुचित है।

दैवी वाग्व्यतिकीर्णेयमशक्तैरभिधातृभिः।
अनित्यदर्शिनां त्वस्मिन्वादे बुद्धिविपर्ययः॥ वा० १. १५५॥

वाक् दैवी है, इन्द्रिय-जन्य होने के कारण भी, मनुष्य की दैवीय प्रतिभा की उत्कृष्टतम कृति होने के कारण भी! उसमें प्रमादवश या प्रजोजनवश अनेक 'अ-साधु' या 'अ-शक्त' शब्द-प्रयोग समाविष्ट हो जाते हैं। परन्तु, न उससे भाषा की शक्ति क्षीण होती है और न ही उसकी दिव्यता में कमी आती है। प्रत्युत, भाषा की विकास-प्रक्रिया का यह एक अनिवार्य अंग है। इस प्रकार के शब्दों से भी भाषा विकास ही ग्रहण करती है।

३१. भाषा और प्रादेशिकता—भाषा-विकास के सम्बन्ध में कुछ अवधेय तथ्यों पर भी भर्तृहरि ने ध्यान दिया है। ऊपर देश, काल, इत्यादि की चर्चा की गई है। पाणिनि ने इस प्रकार के भाषा-शब्दों को **विभाषा** में ग्रहण किया है। 'विभाषा' की परिभाषा पाणिनि देते हैं **'न वेति विभाषा'** (अष्टा० १.१.४४)। महाभाष्य और भर्तृहरि की त्रिपदी-टीका में इस पर पर्याप्त विचार किया गया है। अन्ततः वे दोनों इस बात पर सहमत हैं कि जहां व्याकरण सम्मत दृष्टि से एक ही रूप प्राप्त होना चाहिये, किन्तु प्रयोग में उसके प्रतिकूल भी रूप उपलब्ध होता हो, उसे 'विभाषा' कहते हैं। 'न' और 'वा' का अर्थ-भेद इतना ही है कि जहां सामान्य विधि प्राप्त हो किन्तु उसका उल्लंघन पाया जाए

१. पा० ५.३.९६ सूत्र का उदाहरण।

उसे 'न', और जहां कोई सामान्य विधि प्राप्त होने की दशा न हो तब भी वहां वह पाई जाय तो उसे 'वा' कहना चाहिये।[1] इसका अर्थ यह हुआ कि भाषा की अन्तर्वर्त्तिनी विधियों में प्रादेशिक और अन्य आधारों पर फेर-बदल होता रहता है : 'सादृश्य' (एनालोजी) के आधार पर एक प्रदेश की जनता उसका एक रूप बना बैठती है, जब कि दूसरे प्रदेश की जनता किसी अन्य 'सादृश्य' के आधार पर उसका दूसरा रूप बना बैठती है। प्रादेशिक भाषाओं के विकास का दूसरा संकेत '**निपातन**' को माना जा सकता है। पाणिनि तथा परवर्त्ती आचार्यों ने कुछ ऐसे शब्दों को स्वीकार किया है, जो व्याकरण के सामान्य प्रकृति-प्रत्यय विभाजन की प्रक्रिया में ठीक नहीं बैठते, फिर भी वे किन्हीं निश्चित मूलानुगामी (धात्वर्थयुक्त) अर्थों में स्थिर हैं। ये शब्द देशकालादि कारणों से, 'विशिष्ट' संस्कारों को प्राप्त करने के कारण, सामान्य प्रक्रिया से बाहर हो जाते हैं। इन्हें हम प्रादेशिक भाषाओं से आगत शब्द कह सकते हैं। इनके साथ ही शब्दों की एक तीसरी कोटि है, जिसे पाणिनि ने 'उणादि' कहा है। इस प्रकार के शब्दों के आगमन का मूल उत्स भी नहीं पता चलता। 'निपातन' में प्रत्यय-संस्कार प्रत्यक्ष अवश्य था, यद्यपि वह सामान्य प्रक्रिया से भिन्न था। 'उणादि' में प्रत्यय-संस्कार भी स्पष्ट नहीं रहता। परन्तु इस पर भी उसकी अर्थभावना अवश्य मूल-रूप में सुरक्षित रहती है। परिणामतः **मूल** या **धातु** को खोजना उसमें सम्भाव्य रहता है। कई बार यह **मूल** भी अनुमानाश्रित ही रहता है। वास्तविकता यह है कि इन 'उणादि' शब्दों का अर्थ इस **मूल** या **धातु** पर ही आधारित माना जाता है। पर, जो भी प्रत्यय-विभाग कल्पित किया जाता है, वह किसी भी अर्थ-विशेष को वहन नहीं करता। यह बात पाणिनि, पंतजलि एवं भर्तृहरि की मूल भावना के विरुद्ध है। उन्होंने प्रत्यय को विशिष्ट अर्थ का वाहक माना है। 'उणादि' सूत्रों में प्रत्यय को 'स्वार्थ' का वाहक माना गया है। वास्तविकता यह है कि वे प्रत्यय 'कल्पित' हैं, और उन शब्दों का **मूल** भी सही-सही निर्णीत नहीं किया जा सका है। केवल उनके मूलार्थ की रक्षामात्र हो सकी है। स्वभावतः ऐसे शब्द बाहर से आए हैं, या बाहरी शब्दों के सादृश्य पर उनमें प्रत्ययात्मक फेर-बदल हुआ है।

भर्तृहरि इन सब को 'अपभ्रंश' या 'असाधु' नाम देकर भी इन्हें निमित्त-भेद से विषयान्तर में 'साधु' या 'नियमित' मान लेते हैं (वा० १.१४९)। ये शब्द हैं विविध देशभाषाओं के—प्रादेशिक विशेषताओं को लिए हुए।

३२. भाषा क्या है ? — तब प्रश्न उठता है 'भाषा' की परिभाषा का। इस

१. महा० और त्रिपदी टीका १.१.६.४४.

परिभाषा के निर्धारण में, पाणिनि और पतंजलि की भांति, भर्तृहरि भी सीधे से नहीं उलझे हैं। फिर भी, दो महत्वपूर्ण तथ्य उन्होंने 'शब्द' की उत्पत्ति और उसके ग्रहण के सम्बन्ध में कहे हैं।

शब्दः कारणमर्थस्य स हि तेनोपजन्यते।
तथा च बुद्धिविषयादर्थाच्छब्दः प्रतीयते ।। वा० ३.३.३२ ।।
बुद्ध्यर्थादेव बुद्ध्यर्थे जाते तदपि दृश्यते ।। वा० ३.३.३३ ।।

अर्थात्, शब्द अर्थ का कारण है और बुद्धिस्थ अर्थ शब्द का कारण है। एक-दूसरे से एक-दूसरे की प्रतीति व उपलब्धि होती है। शब्द के अर्थ की पूर्णता तभी होती है, जब जिस बुद्धिस्थ अर्थ को लेकर वह प्रयोग किया गया है, उसी **बुद्धिस्थ** अर्थ की अभिव्यक्ति में वह समर्थ भी हो जाय। इन दोनों तथ्यों का सार एक ही है—'**शब्द-व्यापार या भाषण-प्रक्रिया दो बुद्धियों के बीच आदान-प्रदान का एक माध्यम है**।' एक वक्ता की बुद्धि जो कुछ कहना चाहती है, जब तक उसी भावना को ग्रहीता की बुद्धि भी नहीं पा लेती, भाषा का उद्देश्य पूर्ण नहीं होता। भर्तृहरि की भाषा के सम्बन्ध में यह उक्ति आजकल के भाषा-वैज्ञानिकों की दृष्टि में भी सर्वोत्कृष्ट ठहरती है। उदाहरणार्थ, अपनी पुस्तक 'स्पीच एण्ड लैंग्वेज' में गार्डिनर कहते हैं — 'वाणी (भाषा) दो मनों के बीच आदान-प्रदान की माध्यम है।'[1] येस्पर्सन अपनी कृति 'दि फिलासफी आफ् ग्रामर' में लिखते हैं — 'भाषा का महत्व है मानवीय सक्रियता। एक व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति के सम्मुख स्वयं को स्पष्ट करने के लिए क्रियाशील होता है और वह दूसरा व्यक्ति भी पहले को समझने के लिए अधिक सक्रिय होता है'[2] प्रो० जोसुहा व्हाट्माऊ अपनी रचना 'लैंग्वेज' में 'भाषा' को, येस्पर्सन के अनुकरण पर ही, एक **सक्रियता** मानते हैं।[3] उनकी सक्रियता की परिभाषा व्यापक है। भाषा की सही व्याख्या की दृष्टि से गार्डिनर और येस्पर्सन की परिभाषाएं एक दूसरे की पूरक ठहरती हैं। भारतीय काव्यशास्त्र के पण्डितों ने **साधारणीकरण** की एक अवस्था स्वीकार की है, जिसमें वक्ता और श्रोता, अथवा कवि और पाठक, के बीच एक सक्रियता उत्पन्न होती है

1. "... that the act of speech is a social act, seeing that it necessarily involves two persons, and may possibly involve more, if there is a number of listners."
(Sp. & lg. pp.64,* 22 p.)
2. "The essence of language is human activity ....."
(Ph. of Gr., pp.17.)
3. See, Language, NAL edition, pp.156.

और वे दोनों एक दूसरे के स्तर तक पहुंच कर 'निर्वैयक्तिक' हो जाते हैं। इसे काव्यशास्त्रीय परिभाषा में हम 'भावकत्व-व्यापार' कहते हैं। किन्तु, भर्तृहरि और उक्त भाषा-वैज्ञानिकों की दृष्टि में यह वक्ता और ग्रहीता की 'बुद्धि' की सक्रिय अवस्था है, जिसमें ग्रहीता की बुद्धि वक्ता की बुद्धि के अर्थ (प्रयोजन) को ग्रहण करने का यत्न करती है। उस 'बुद्ध्यर्थ' का ग्रहण होते ही वक्ता का सम्पूर्ण अभिप्राय स्पष्ट हो जाता है : भाषा का उद्देश्य पूर्ण हो जाता है।

३३. **अभिव्यक्ति के सहायक** — परन्तु, इतने से ही भर्तृहरि की दृष्टि में 'भाषा' या 'वाक्' को केवल एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रियामात्र समझ लेना भी भ्रामक होगा। निश्चय ही वाक् की उत्पत्ति और ग्रहण में मनोवैज्ञानिक-प्रक्रिया का बड़ा भारी हाथ होता है। फिर भी वाक् की उत्पत्ति में अन्य बहुत से तत्व भी भाग लेते हैं। देश, काल, अवस्था आदि की चर्चा ऊपर की जा चुकी है। अन्य तत्वों की चर्चा भी यथा स्थान की जायगी। यहां हमारा अभिप्रेत इतना ही है कि भाषा एक **माध्यम** है। उसे निरा **प्रतीक** (सिम्बल) भी नहीं कहा जा सकता। यह प्रतीक की अपेक्षा अधिक सार्थक है। परन्तु, वह **सार्थक शब्दों का समूहमात्र** भी नहीं है। शब्दों के समवेत होने पर उस में कुछ **अधिक अर्थ** भी आ जाता है, जो प्रकरण, स्थिति, वक्तव्य, श्रोता आदि पर निर्भर करता है। निश्चय ही, शब्दों से भी अधिक, वक्ता और श्रोता के मन का सहयोग अर्थ की पूर्णता के लिये आवश्यक है। अतः भाषा और वाग्व्यापार की पूर्णता के लिये **वक्ता, श्रोता, अभिधेय** (बुद्धि), और **शब्द** (भाषा) के रुप में चार आधारों की अनिवार्यता मानी जाती है।[1] देशकाल, आदि **अभिधेय** को ही स्पष्ट करते हैं।[2]

३४. **व्याकरण का प्रयोजन** — भाषा-सम्बन्धी अध्ययन को समाप्त करने से पूर्व व्याकरण और भाषा के पारस्परिक सम्बन्ध पर विचार कर लेना भी प्रासंगिक होगा। इस विषय में भर्तृहरि के विचार अत्यन्त स्पष्ट हैं। उन्हें हम नितान्त 'आधुनिक' कह सकते हैं। पाणिनि, कात्यायन, पतंजलि और भर्तृहरि सभी शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को नित्य मानते हैं। कात्यायन के वार्तिक सूत्र **'नित्ये शब्दार्थ सम्बन्धे लोकतोऽर्थप्रयुक्ते'** से सीधा निष्कर्ष ही यह निकलता है कि भाषा-प्रक्रिया का विकास लोक से सहज-सिद्ध होता है। भाषा

---

१. वा० १.५४ (तुलनीय, कार्लब्यूलर एवं गार्डिनर, Sp. & lg. pp.7; & p. 20, at pp.62)।

२. वा० २.३१६, ३१७.

किसी भी वैयाकरण या विशेषज्ञ के घड़ने से नहीं बनती। इसीलिये पतंजलि ने व्याकरण की सीमा को स्पष्ट करते हुए कहा : **न तद्वच्छब्दान् प्रयुयुक्षमाणो वैयाकरणकुलं गत्वाह कुरु शब्दान् प्रयोक्ष्य इति ; तावत्येवार्थमुपादाय शब्दान्प्रयुञ्जते।**[1] अर्थात्, शब्द वैयाकरण द्वारा घड़े नहीं जाते। कात्यायन ने भी स्पष्ट किया : **लोकतोऽर्थप्रयुक्ते शब्दप्रयोगे धर्मनियमः** (महा १.१.१. वा १) अर्थात्, शास्त्र किसी नयी वस्तु का निर्माण नहीं करता, प्रत्युत प्रयुक्त वस्तु के विवेचनजन्य परिणामों को ही प्रस्तुतमात्र करता है। धर्म-नियम का अर्थ है **सत्ता एवं व्यवहार का नियम**। 'व्याकरण' है उस स्वाभाविक नियम विधान को पहचान कर उसे ही फिर से स्पष्ट कर देने का एक माध्यम। भर्तृहरि इसे ही दूसरे रूप में कहते हैं :

अर्थप्रवृत्तितत्वानां शब्दा एव निबन्धनम्।
तत्वावबोधः शब्दानां नास्ति व्याकरणादृते ॥ वा० १.१३ ॥

अर्थात्, व्याकरण शब्द और अर्थ के सम्बन्ध का विनिश्चयायक भी नहीं है और नाही नियामक। 'वह तो शब्दों की रचना-प्रवृत्ति, और उनके व्यवहार-धर्म व्याख्या भर कर सकता है। अपने अर्थ-नियमन आदि में शब्द स्वयं समर्थ है।' इस प्रकार व्याकरण का कार्य कठिन भी है और सरल भी। कठिन इसलिए कि उसमें विशाल पर्यालोचन सर्वेक्षण की आवश्यकता होती है। सरल इसलिए कि उसकी विवेच्य आधारभूमि पहले से प्रस्तुत है। इस सत्य को समझ कर स्पष्ट हो सकता है कि व्याकरण का मार्ग टेढ़ा क्यों है? भाषा तो लोक प्रवृति से बनती है, बढ़ती है। लोग नियम-विधान सोच कर शब्द-प्रयोग नहीं करते। फिर भी उनका अन्तर्ज्ञान या उनकी अन्तश्चेतना जाने-अनजाने एक निश्चित प्रक्रिया का आधार लेकर बढ़ती है। **उस प्रक्रिया को पढ़ लेना और नियम के रूप में उसका उद्घोष करना ऐसा ही है, जैसे प्रकाश की उपलब्धि के लिए अन्धकार का मार्ग पार करना। अन्ततः प्रकाश अवश्य उपलब्ध होता है। उपलभ्य है भी प्रकाश ही, किन्तु। उस प्रकाश को पाने के लिए 'व्याकरण' का दुरूह अध्ययन अन्धकारमय मार्ग के समान है उसे पार करके ही प्रकाश मिलता है :**

प्राप्तरूपविभागायाः यो वाचः परमो रसः।
यत्तत्पुण्यतमं ज्योतिस्तस्य मार्गोऽयमाञ्जसः ॥वा० १.१२ ॥
प्रत्यस्तमितभेदायाः यद्वाचो रूपमुत्तमम्।
यदस्मिन्नेव तमसि ज्योतिः शुद्धं विवर्त्तते ॥ वा० १.१८ ॥

---

१. महा० १.१.१.

३६. **वाणी के तीन पद ही क्यों ?**– इस प्रसंग को समाप्त करने से पहले भर्तृहरि व्याकरण के क्षेत्र के विषय में एक और सत्य का उद्घोष करते हैं। 'वाणी' के **चार पाद**, सामान्यतः, **परा**, **पश्यन्ती**, **मध्यमा** और **वैखरी** के रूप में, माने गये हैं। वाक्य-विवेचन या 'वाक्यपदीय' में उन चारों का विवेचन अपेक्षित हो सकता है। किन्तु, 'व्याकरण' के क्षेत्र में उनमें से 'परा' का ग्रहण नहीं हो सकता। 'व्याकरण' निश्चय ही 'वाणी का परमपद' है, किन्तु उसके क्षेत्र में वाणी के तीन ही चरण आते हैं। 'पद-विभाग' की प्रक्रिया इन्हीं तीन चरणों में पूरी होती है। ये तीनों चरण हैं – 'पश्यन्ती', 'मध्यमा' और 'वैखरी' के रूप में :

> **वैखर्या मध्यमायाश्च पश्यन्त्याश्चैतदद्भुतम् ।**
> **अनेकतीर्थभेदायास्त्रय्या वाचः परं पदम् ॥ वा० १.१४३ ॥**

यहां यह स्मर्त्तव्य है कि प्रसंग व्याकरण' का ही है।

इस प्रकार, स्पष्टतः, भर्तृहरि व्याकरण को भाषा का नियामक न माकनर, उसे अन्वाख्यान या व्याख्यान का साधनमात्र मानते हैं। भाषा और व्याकरण के सम्बन्ध में उनकी युक्ति-पद्धति का अधिकाधिक अनुशीलन अपेक्षित है।

---

१. वा० १.१

किसी भी वैयाकरण या विशेषज्ञ के घड़ने से नहीं बनती। इसीलिये पतंजलि ने व्याकरण की सीमा को स्पष्ट करते हुए कहा : **न तद्वच्छब्दान् प्रयुयुक्षमाणो वैयाकरणकुलं गत्वाह कुरु शब्दान् प्रयोक्ष्य इति ; तावत्येवार्थमुपादाय शब्दान्प्रयुञ्जते।**[1] अर्थात्, शब्द वैयाकरण द्वारा घड़े नहीं जाते। कात्यायन ने भी स्पष्ट किया : **लोकतोऽर्थप्रयुक्ते शब्दप्रयोगे धर्मनियमः** (महा १.१.१. वा १) अर्थात्, शास्त्र किसी नयी वस्तु का निर्माण नहीं करता, प्रत्युत प्रयुक्त वस्तु के विवेचनजन्य परिणामों को ही प्रस्तुतमात्र करता है। धर्म-नियम का अर्थ है **सत्ता एवं व्यवहार का नियम।** 'व्याकरण' है उस स्वाभाविक नियम विधान को पहचान कर उसे ही फिर से स्पष्ट कर देने का एक माध्यम। भर्तृहरि इसे ही दूसरे रूप में कहते हैं :

अर्थप्रवृत्तितत्वानां शब्दा एव निबन्धनम्।
तत्वावबोधः शब्दानां नास्ति व्याकरणादृते ॥ वा० १.१३ ॥

अर्थात्, व्याकरण शब्द और अर्थ के सम्बन्ध का विनिश्चयायक भी नहीं है और नाही नियामक। 'वह तो शब्दों की रचना-प्रवृत्ति, और उनके व्यवहार-धर्म व्याख्या भर कर सकता है। अपने अर्थ-नियमन आदि में शब्द स्वयं समर्थ है।' इस प्रकार व्याकरण का कार्य कठिन भी है और सरल भी। कठिन इसलिए कि उसमें विशाल पर्यालोचन सर्वेक्षण की आवश्यकता होती है। सरल इसलिए कि उसकी विवेच्य आधारभूमि पहले से प्रस्तुत है। इस सत्य को समझ कर स्पष्ट हो सकता है कि व्याकरण का मार्ग टेढ़ा क्यों है ? भाषा तो लोक प्रवृति से बनती है, बढ़ती है। लोग नियम-विधान सोच कर शब्द-प्रयोग नहीं करते। फिर भी उनका अन्तर्ज्ञान या उनकी अन्तश्चेतना जाने-अनजाने एक निश्चित प्रक्रिया का आधार लेकर बढ़ती है। **उस प्रक्रिया को पढ़ लेना और नियम के रूप में उसका उद्घोष करना ऐसा ही है, जैसे प्रकाश की उपलब्धि के लिए अन्धकार का मार्ग पार करना। अन्ततः प्रकाश अवश्य उपलब्ध होता है। उपलभ्य है भी प्रकाश ही, किन्तु। उस प्रकाश को पाने के लिए 'व्याकरण' का दुरूह अध्ययन अन्धकारमय मार्ग के समान है उसे पार करके ही प्रकाश मिलता है :**

प्राप्तरूपविभागायाः यो वाचः परमो रस :।
यत्तत्पुण्यतमं ज्योतिस्तस्य मार्गोऽयमाञ्जसः ॥वा० १.१२ ॥
प्रत्यस्तमितभेदायाः यद्वाचो रूपमुत्तमम्।
यदस्मिन्नेव तमसि ज्योतिः शुद्धं विवर्तते ॥ वा० १.१८ ॥

---

१. महा० १.१.१.

'आञ्जसः' और 'तमसि' के मूलगत भाव ऐक्य को स्पष्ट करने में इससे अगला वचन अधिक सहायक होगा। उसमें 'मूर्तिव्यापार - दर्शन' या 'आकृति-विज्ञानात्मक व्याकरण' को 'वैकृत' कहा गया है। भर्तृहरि ने भी यही कहा है कि वाणी का सार या तज्जन्य ज्योति व्याकरण के इस 'प्रकाश' अथवा 'अन्धकार' को पार करके ही पाई जा सकती है :

वैकृतं समतिक्रान्ता मूर्तिव्यापारदर्शनम् ।
व्यतीत्यालोकतमसी प्रकाशं यमुपासते ॥ वा० १.१६ ॥

और, ऐसा व्याकरण शब्द और अर्थ का सम्बन्ध स्थापित करने में कितना असमर्थ है ? यह इस उक्ति से स्पष्ट है :

नित्या : शब्दार्थसम्बन्धास्तत्राम्नाताः महर्षिभि : ।
सूत्राणां सानुतन्त्राणां भाष्याणां च प्रणेतृभिः ॥ वा० १.२३ ॥

शब्द और अर्थ के सम्बन्ध नित्य और स्वाभाविक हैं। व्याकरण उन्हें न निश्चित करता है, न नियमित। प्रकृति और प्रत्यय का विभाजन भी व्याकरण से न होकर प्रयोग-समीक्षा से ही होता है। इस सत्य को महाभाष्य टीका-में भर्तृहरि यूं कहते हैं : **'शिष्टप्रयोगमभिसमीक्ष्य प्रकृतिरूहितव्या प्रत्ययश्च'** ।[१] और, इसे दूसरे शब्दों में कह लें तो—**स्मृतिशास्त्रमिदम्** । व्याकरण है लोक-प्रवृत्ति का आलोचन और अवलोकन। इसे ही वे फिर कहते हैं : **तत्रायं व्याकरण-शब्दः किं ब्रूते ? आश्रीयते इति अनेन द्वारेण शब्दप्रवृत्तिनिमित्तमाचिख्यासन्नु-पन्यासं करोति ।**[२] व्याकरण का कार्य उस प्रवृत्ति-निमित्त का इंगित करना भी है, जिससे शब्द अवस्थाभेद में अर्थभेद को ग्रहण करता है : **'शब्दो हि कश्चित्तुल्यरूपः प्रवर्तमानो भिन्नार्थं भिन्ननिमित्तः ।'**[४]

३५. व्याकरण का क्षेत्र — व्याकरण की इस परिभाषा के बाद व्याकरण के क्षेत्र की विवेचना कर लेना भी उचित होगा। इसके लिये सर्वप्रथम शब्द के 'आश्रय' या 'आधारों, का परिगणन अधिक उचित होगा। भर्तृहरि की दृष्टि में ये आधार दो हैं : **श्रुति** और **स्मृति** । **श्रुति** का दूसरा पर्याय है **लोक-आगम** या **अ-कृतक आगम** और **स्मृति** का विशेषण है **सनिबन्धना या शिष्ट-निबद्धा'** । इन्हें हम क्रमशः 'आत्मप्रकाश' और 'परम्परानुशीलन' भी कह सकते हैं। अपनी प्रतिभा और अनुभूति के आधार पर हम जो कुछ प्राप्त करते हैं वह है श्रुति। अपने वातावरण और समाज व उसकी परम्परा के अनुदर्शन और पर्यालोचन (व्याकरण) से जो कुछ प्राप्त करते हैं वह है स्मृति। इन दोनों के आधार पर ही व्याकरण का कार्य आरम्भ होता है। भाषा के विकास में

१. त्रिपादी टीका १.१.१
२. वही १.१.१
३. वही १.१.१
४. वही १.१.१

श्रुति भी भाग लेती है, और स्मृति भी। भाषा व्यष्टि चेतना व समष्टि चेतना के पारस्परिक आदान-प्रदान से उपलब्ध परिणाम है। व्याकरण भाषा के आदि-कारणों - 'इन्हीं' श्रुति, स्मृति का - आधार लेकर आगे बढ़ता है।[१] 'स्मृति' का सम्बन्ध विश्लेषण और पर्यालोचन से है। विश्लेषण के बिना परम्परा का विनिश्चय नहीं हो सकता। विश्लेषण कार्य है शिष्टों का। परम्परा का **अनुगमन** व्यक्ति नैत्यिक प्रयोग में अनजाने भी करता ही है, किन्तु उसका विश्लेषण दीक्षित पुरुष ही कर सकते हैं। 'स्मृति' के उस विश्लेषण को ही 'स्मृतिशास्त्र' (व्याकरण) कहा गया है :

भावतत्त्वं तु विज्ञाय लिङ्गेभ्यो विहिता स्मृतिः ॥ वा० १.१४६ ॥

अर्थात्, विशिष्ट लिङ्गों के आधार पर 'स्मृति' का विधान तभी होता है, जब पहले 'भावना' समझ ली जाय। और, इसे ही महाभाष्य टीका में भर्तृहरि ने अधिक स्पष्ट करके कहा है :

'उच्यते, स्मृतिशास्त्रमिदम्। तत्र यदा कश्चिदेवं ब्रूयात् 'अयं शब्द' इति। सोऽवश्यं पृच्छेत्, कथमस्माभिः प्रत्येतव्यमिति। यदि स्मृतिसूत्रमाह सन्धीयते, अन्यथा प्रलापस्तस्य गृह्यते' (त्रिपदी टीका १. १. १)।

अर्थात्, 'व्याकरण स्मृतिशास्त्र है। जब कोई कहता है 'यह शब्द है', तब शंका होती है, कि कैसे विश्वास करें ? उस समय विश्वास दिलाने के लिए यदि परम्परा-सूत्र को उद्धृत किया जाय तो उस शब्द की प्रामाणिकता सिद्ध हो जाती है। अन्यथा, परम्परा से असम्पुष्ट रहने पर, वह प्रलापमात्र ही समझा, जायगा।' परन्तु इस उक्ति में जिसे 'शब्द' कहा गया है, उस पर अधिक विचार आवश्यक है। व्याकरण का विषय 'वाक्' होकर भी, 'वाक्य' नहीं है। व्याकरण का क्षेत्र है—**पद**। भर्तृहरि ने इस तथ्य को पहचान कर ही महाभाष्य टीका में पद-विवेचन तक ही अपने कार्य को सीमित समझा। उसका विद्रोह या उसकी अभाव-पूर्ति व्यक्त हुई वाक्य विवेचना के लिये रचे गये **वाक्यपदीय** में। **वाक्यपदीय** के आरम्भ में ही वे व्याकरण के इस अन्तर को स्पष्ट करके कहते हैं - **इदमाद्यं पदस्थानम्** (वा० १.१६)। अर्थात्, व्याकरण का क्षेत्र 'पद' है। इसे ही हम प्रकृति-प्रत्यय विभाग के रूप में भी कह सकते हैं। यह बात पहले भी स्पष्ट की जा चुकी है। 'साधुत्व' का प्रश्न भी 'शब्द' या 'पद' के लिए ही उठता है। व्याकरण रूपी स्मृति का कार्य शब्द की उसी 'साधुता' की जांच करना ही है :

साधुत्वज्ञानविषया सैषा व्याकरणस्मृतिः।
अविच्छेदेन शिष्टानामिदं स्मृतिनिबन्धनम् ॥ वा० १.१४२ ॥

३६. **वाणी के तीन पद ही क्यों ?**– इस प्रसंग को समाप्त करने से पहले भर्तृहरि व्याकरण के क्षेत्र के विषय में एक और सत्य का उद्घोष करते हैं। 'वाणी' के **चार पाद**, सामान्यतः, **परा**, **पश्यन्ती**, **मध्यमा** और **वैखरी** के रूप में, माने गये हैं। वाक्य-विवेचन या 'वाक्यपदीय' में उन चारों का विवेचन अपेक्षित हो सकता है। किन्तु, 'व्याकरण' के क्षेत्र में उनमें से 'परा' का ग्रहण नहीं हो सकता। 'व्याकरण' निश्चय ही 'वाणी का परमपद' है, किन्तु उसके क्षेत्र में वाणी के तीन ही चरण आते हैं। 'पद-विभाग' की प्रक्रिया इन्हीं तीन चरणों में पूरी होती है। ये तीनों चरण हैं – 'पश्यन्ती', 'मध्यमा' और 'वैखरी' के रूप में :

वैखर्या मध्यमायाश्च पश्यन्त्याश्चैतदद्भुतम् ।
अनेकतीर्थभेदायास्त्रय्या वाचः परं पदम् ॥ वा० १.१४३ ॥

यहां यह स्मर्त्तव्य है कि प्रसंग **व्याकरण**' का ही है।

इस प्रकार, स्पष्टतः, भर्तृहरि व्याकरण को भाषा का नियामक न माकनर, उसे अन्वाख्यान या व्याख्यान का साधनमात्र मानते हैं। भाषा और व्याकरण के सम्बन्ध में उनकी युक्ति-पद्धति का अधिकाधिक अनुशीलन अपेक्षित है।

---

१. वा० १.१४२.

वाक् उच्चारण और ग्रहण

३७. **भर्तृहरि की मौलिकता**—रूढ़ि को तोड़कर मौलिक-चिन्तन की दिशा में कदम रखनेवाले भर्तृहरि की सबसे मौलिक देन **वाक्** के आविर्भाव और ग्रहण के सम्बन्ध है। वेद-मन्त्रों में सर्वप्रथम इस विषय का मौलिक चिन्तन हुआ और तब से प्रायः सभी शिक्षा-विषयक ग्रन्थों में यह विषय प्रधान रहा है। सत्य तो यह है कि भारतीय ध्वनि-शास्त्र का विकास ही इस परम्परा में हुआ। पाणिनि और पतंजलि भी इस विषय के प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष विवेचन से न बच सके। किन्तु, भर्तृहरि का स्थान उन सबसे भिन्न और मौलिक है। आज के वैज्ञानिक दृष्टिकोण से कहें, तो उन्होंने ठोस उपयोगितावाद के आधार पर ही सत्य-विनिश्चय किया है। उनके इन परिणामों को हम दो विभागों में बांट कर अध्ययन करेंगे: प्रथम 'वाणी के आविर्भाव के चरण', और द्वितीय 'वाक् का उच्चारण और ग्रहण'। भर्तृहरि की इस विषय-परक धारणाओं पर विचार करने एवं मूल्यांकन करने से पहले हमें उस रूढ़ि को भी समझना होगा, जो उनसे पहले बद्धमूल हो चुकी थी।

३८. **'ऋग्वेद' में वाक्-व्यक्ति के चरण—ऋग्वेद** के एक सूक्त (१०.७१) में वाक्-उत्पति की की सम्पूर्ण प्रक्रिया का उल्लेख किया गया है। वस्तुतः इस सूक्त का देवता है **ज्ञान**। मनुष्य के ज्ञान का आविर्भाव और पारस्परिक आदान-प्रदान 'वाक्' के माध्यम से ही होता है। अतः इस सूक्त में उसी का विचार किया गया है। प्रथम से आठवें मन्त्र तक स्पष्टतः वाणी की, उच्चारण और ग्रहण-प्रक्रिया का वर्णन है। पहले चार मन्त्रों में वाणी के आविर्भाव का वर्णन है। उस आविर्भाव के क्रम को देखकर कहा जा सकता है कि वैदिक ऋषि वाणी के आविर्भाव की प्रक्रिया को चार चरणों में बांट कर चलता था। उस समय तक वाणी के चार चरण की धारणा स्थिर हो चुकी थी, भले ही उनका नामकरण सीधे रूप में न हुआ हो! उक्त सूक्त के प्रथम मन्त्र में शब्द के आविर्भाव की समस्या को लिया गया है। हम कोई शब्द या संज्ञात्मक संकेत (नामधेय) कब बोलते हैं? ऋषि इस संकेत को मन्थन-प्रक्रिया द्वारा प्रगट सत्य मानता है। पर उसकी दृष्टि में, उद्भूति का स्रोत है 'गुहा' या 'आत्मा': **प्रेणा तदेषां निहितं गुहाविः** (ऋ० १०. ७१. १)। 'गुहा' या 'आत्मा' से जन्म मानने का अर्थ है, वागु-

त्पत्ति पूर्व की उस अवस्था को भी वाक्-प्रक्रिया का अविभाज्य अंगस्वीकार करना, जिस (गुहा) में मनुष्य आत्माभिव्यक्ति की इच्छा से प्रेरितमात्र होता है। उसकी यह **इच्छा** अव्यक्त या छिपी-सी रहती है। उसके मन्थन का अन्तिम परिणाम है **वाक्**। इस वाक् का दूसरा चरण है : **यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत** (ऋ० १०. ७१. २)। इच्छा के बाद दूसरा चरण आता है **चिन्तन** का। इच्छा है आत्मा का विषय और चिन्तन है मन का विषय। मन में ही छानने-छांटने की प्रक्रिया होती है। तब तीसरा चरण आता है इन्द्रियों (**ऋषि**) का। यहीं पर आकर 'वाक्' अपना **स्वरात्मक रूप** ग्रहण करती है और उसे कण्ठ से उच्चरित होने वाले सप्तस्वर प्रगट कर देते हैं :

यज्ञेन वाचः पदवीमायन् तामन्वविन्दन् ऋषिषु प्रविष्टाम्।

तामाभृत्या व्यदधुः पुरत्रा तां सप्तरेभा अभिसंनवन्ते।(ऋ० १०.७१.३)।

यह 'अभिसंनवित' या प्रकट रूप ही 'वाक्' है, जिसे सुना या देखा जाता है, और जिसे सुनकर या देखकर भी सुना या देखा नहीं जाता। इस प्रकार इन चार चरणों की स्पष्ट चर्चा इस सूक्त में आई है।

३९. पाणिनीय शिक्षा व पतंजलि—किन्तु, इस सूक्त में इन विभिन्न 'पादों' या 'चरणों' के परिगणन के बाद भी इनका नामोल्लेख नहीं किया गया। यह नामोल्लेख **पाणिनीय शिक्षा** में भी स्पष्टतः न होकर,वहां भी उक्त सूक्त की भांति, स्थितियां मात्र गिना दी गई हैं :

आत्मा बुद्ध्या समथ्यार्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया।

मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम् ॥ पा० शि० ६ ॥

मारुतस्तूरसि चरन्मन्द्रं जनयते स्वरम् ॥ पा० शि० ७ ॥

अर्थात् 'वाणी' के उत्पादन में **आत्मा, मन, कायाग्नि** और **मारुत** की अवस्थाओं को पार करके ही 'स्वर' (नाद) की उत्पत्ति सम्भव होती है। इस प्रकार वे भी नामोल्लेख के बिना ही इन चार अवस्थाओं का वर्णन करते हैं। सम्भवतः नाम की स्थिरता न होने के कारण ही पतंजलि ने महाभाष्य में **'पदजातानि'** कहकर भी **'नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्च'** (महा० १. १. १) की ही चर्चा की है ; परा, पश्यन्ती आदि का नामोल्लेख नहीं किया।। उन्होंने ऐसा **'चत्वारि श्रृंगा०'** तथा 'चत्वारिवाक्परिमिता०' आदि, दोनों ही, वेद-मन्त्रों की व्याख्या में किया है। परवर्ती मन्त्र - **गुहात्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति, तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति** (ऋ० १. १६४. ४५) में यद्यपि स्पष्टतः वाणी के इन्हीं चार चरणों का उल्लेख है, फिर भी पतंजलि इसे भी **'चत्वारि पद-जातानि नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्च'** कह देते हैं। **'निपाताश्च'** में 'च' की व्याख्या करते हुए नागेश कहते हैं कि 'पदजातानि' का स्वाभाविक अर्थ **परा-**

वाक् उच्चारण और ग्रहण

३७. **भर्तृहरि की मौलिकता**—रूढ़ि को तोड़कर मौलिक-चिन्तन की दिशा में कदम रखनेवाले भर्तृहरि की सबसे मौलिक देन **वाक्** के आविर्भाव और ग्रहण के सम्बन्ध है। वेद-मन्त्रों में सर्वप्रथम इस विषय का मौलिक चिन्तन हुआ और तब से प्रायः सभी शिक्षा-विषयक ग्रन्थों में यह विषय प्रधान रहा है। सत्य तो यह है कि भारतीय ध्वनि-शास्त्र का विकास ही इस परम्परा में हुआ। पाणिनि और पतंजलि भी इस विषय के प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष विवेचन से न बच सके। किन्तु, भर्तृहरि का स्थान उन सबसे भिन्न और मौलिक है। आज के वैज्ञानिक दृष्टिकोण से कहें, तो उन्होंने ठोस उपयोगितावाद के आधार पर ही सत्य-विनिश्चय किया है। उनके इन परिणामों को हम दो विभागों में बांट कर अध्ययन करेंगे: प्रथम 'वाणी के आविर्भाव के चरण', और द्वितीय 'वाक् का उच्चारण और ग्रहण'। भर्तृहरि की इस विषय-परक धारणाओं पर विचार करने एवं मूल्यांकन करने से पहले हमें उस रूढ़ि को भी समझना होगा, जो उनसे पहले बद्धमूल हो चुकी थी।

३८. **'ऋग्वेद' में वाक्-व्यक्ति के चरण—ऋग्वेद** के एक सूक्त (१०.७१) में वाक्-उत्पति की की सम्पूर्ण प्रक्रिया का उल्लेख किया गया है। वस्तुतः इस सूक्त का देवता है **ज्ञान**। मनुष्य के ज्ञान का आविर्भाव और पारस्परिक आदान-प्रदान 'वाक्' के माध्यम से ही होता है। अतः इस सूक्त में उसी का विचार किया गया है। प्रथम से आठवें मन्त्र तक स्पष्टतः वाणी की उच्चारण और ग्रहण-प्रक्रिया का वर्णन है। पहले चार मन्त्रों में वाणी के आविर्भाव का वर्णन है। उस आविर्भाव के क्रम को देखकर कहा जा सकता है कि वैदिक ऋषि वाणी के आविर्भाव की प्रक्रिया को चार चरणों में बांट कर चलता था। उस समय तक वाणी के चार चरण की धारणा स्थिर हो चुकी थी, भले ही उनका नामकरण सीधे रूप में न हुआ हो! उक्त सूक्त के प्रथम मन्त्र में शब्द के आविर्भाव की समस्या को लिया गया है। हम कोई शब्द या संज्ञात्मक संकेत (**नामधेय**) कब बोलते हैं? ऋषि इस संकेत को मन्थन-प्रक्रिया द्वारा प्रगट सत्य मानता है। पर उसकी दृष्टि में, उद्भूति का स्रोत है 'गुहा' या 'आत्मा': **प्रेणा तदेषां निहितं गुहाविः** (ऋ० १०. ७१. १)। 'गुहा' या 'आत्मा' से जन्म मानने का अर्थ है, वागु-

त्पत्ति पूर्व की उस अवस्था को भी वाक्-प्रक्रिया का अविभाज्य अंगस्वीकार करना, जिस (गुहा) में मनुष्य आत्माभिव्यक्ति की इच्छा से प्रेरितमात्र होता है। उसकी यह **इच्छा** अव्यक्त या छिपी-सी रहती है। उसके मन्थन का अन्तिम परिणाम है **वाक्**। इस वाक् का दूसरा चरण है : **यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत** (ऋ० १०. ७१. २)। इच्छा के बाद दूसरा चरण आता है **चिन्तन** का। इच्छा है आत्मा का विषय और चिन्तन है मन का विषय। मन में ही छानने-छांटने की प्रक्रिया होती है। तब तीसरा चरण आता है इन्द्रियों (**ऋषि**) का। यहीं पर आकर 'वाक्' अपना **स्वरात्मक रूप** ग्रहण करती है और उसे कण्ठ से उच्चरित होने वाले सप्तस्वर प्रगट कर देते हैं :

यज्ञेन वाचः पदवीमायन् तामन्वविन्दन् ऋषिषु प्रविष्टाम्।

तामाभृत्या व्यदधुः पुरत्रा तां सप्तरेभा अभिसंनवन्ते।(ऋ० १०.७१.३)।

यह 'अभिसंनवित' या प्रकट रूप ही 'वाक्' है, जिसे सुना या देखा जाता है, और जिसे सुनकर या देखकर भी सुना या देखा नहीं जाता। इस प्रकार इन चार चरणों की स्पष्ट चर्चा इस सूक्त में आई है।

३९. पाणिनीय शिक्षा व पतंजलि—किन्तु, इस सूक्त में इन विभिन्न 'पादों' या 'चरणों' के परिगणन के बाद भी इनका नामोल्लेख नहीं किया गया। यह नामोल्लेख **पाणिनीय शिक्षा** में भी स्पष्टतः न होकर,वहां भी उक्त सूक्त की भांति, स्थितियां मात्र गिना दी गई हैं :

आत्मा बुद्ध्या समथ्यार्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया।

मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम् ॥ पा० शि० ६ ॥

मारुतस्तूरसि चरन्मन्द्रं जनयते स्वरम् ॥ पा० शि० ७ ॥

अर्थात् 'वाणी' के उत्पादन में **आत्मा, मन, कायाग्नि** और **मारुत** की अवस्थाओं को पार करके ही 'स्वर' (नाद) की उत्पत्ति सम्भव होती है। इस प्रकार वे भी नामोल्लेख के बिना ही इन चार अवस्थाओं का वर्णन करते हैं। सम्भवतः नाम की स्थिरता न होने के कारण ही पतंजलि ने महाभाष्य में **'पदजातानि'** कहकर भी **'नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्च'** (महा० १. १. १) की ही चर्चा की है; परा, पश्यन्ती आदि का नामोल्लेख नहीं किया।। उन्होंने ऐसा **'चत्वारि शृंगा०'** तथा **'चत्वारिवाक्परिमिता०'** आदि, दोनों ही, वेद-मन्त्रों की व्याख्या में किया है। परवर्त्ती मन्त्र - **गुहात्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति, तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति** (ऋ० १. १६४. ४५) में यद्यपि स्पष्टतः वाणी के इन्हीं चार चरणों का उल्लेख है, फिर भी पतंजलि इसे भी **'चत्वारि पदजातानि नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्च'** कह देते हैं। **'निपाताश्च'** में 'च' की व्याख्या करते हुए नागेश कहते हैं कि 'पदजातानि' का स्वाभाविक अर्थ **परा-**

पश्यन्तीमध्यमावैखर्यः' होना चाहिये, तभी 'च' का प्रयोग संगत है (महा० उद्योत १. १. १)। यह बात तर्कसंगत है। किन्तु, भर्तृहरि त्रिपदी टीका में कहते हैं : (**चत्वारि पदजातानि यानि तानि अस्य शृंगाणीव। कर्मप्रवचनीया निपातेष्वन्तर्भूता इति चत्वार्युच्यन्ते। अन्येषां द्वे पदजाते नामाख्याते च**'[1]। इस प्रकार वे 'चत्वारि पदजातानि' का अर्थ परा, पश्यन्ती आदि द्वारा व्याख्यात स्वीकार नहीं करते। यदि यही स्थिति हो, तो कहना पड़ेगा कि पंतजलि तक वाणी के चार चरण स्पष्ट तो हुए, पर उनकी व्याकरण में उपयोगिता स्वीकृत न हुई। वस्तुतः यह विषय रहा भी 'शिक्षा' तक ही सीमित, यद्यपि पाणिनि की 'शिक्षा' में इन चारों चरणों के नामों का स्पष्ट उल्लेख नहीं है। उन द्वारा वर्णित प्रक्रिया के बाद चरणों की संख्या पांच जा बैठती है। वहां 'मन' और 'मारुत' के बीच **कायाग्नि** की अलग सत्ता को स्वीकार करना अनिवार्य प्रतीत होता है।[2] यास्क के निरुक्त में भी इन चरणों का वर्णन नहीं है।

४०. **भर्तृहरि के द्वारा वर्णित चरण**– भर्तृहरि के समय वैदिक और शिक्षा-परम्परा की यह चार चरणों वाली वाक्-अभिव्यक्ति की धारणा केवल स्वीकृत ही नहीं हुई थी, प्रत्युत उस विषय में मत-मतान्तर भी पर्याप्त बढ़ चुके थे। कुछ ने इस संख्या को पांच तक माना था। 'चार' की संख्या प्रायः अधिकांशतः स्वीकृत थी। अतः भर्तृहरि द्वारा वाणी के 'तीन चरणों' का परिगणन आश्चर्य का ही विषय हो लगता है; विशेषकर जब उसमें 'परा' के प्रथम चरण को ही छोड़ दिया गया हो। कुछ ने इसे 'आत्मा' की अस्वीकृति मानकर भर्तृ-हरि को बौद्ध मत का अनुयायी स्वीकार किया है। और, कुछ ने इसे एक वैज्ञानिक सत्य मानकर इसकी विविध रूप में व्याख्या की है। सत्य यह है कि इस श्लोक में भर्तृहरि वाणी के 'चरण' नहीं गिना रहे हैं, बल्कि **व्याकरण का विषय और क्षेत्र** बता रहे हैं। प्रसंग सहित पढ़ने पर ज्ञात होगा कि भर्तृ-हरि ने यहां सिर्फ इतना कहा है कि पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी के तीन चरणों में बंधी वाणी ही इस व्याकरण का कार्यक्षेत्र है।[3] यहां वाणी का **परम पद** 'व्याकरण' को ही कहा जा रहा है, 'पश्यन्ती' को नहीं। इसे ही वे अन्यत्र सब विद्याओं में पवित्र कहते हैं।

तद्द्वारमपवर्गस्य वाङ्मलानां चिकित्सितम्।
पवित्रं सर्वविद्यानामधिविद्यं प्रकाशते ॥ वा० १.१४ ॥

इस भावना को पहचान कर ही नागेश भट्ट ने वाणी के तीन चरणों सम्बन्धी उनकी इस उक्ति पर टिप्पणी करते हुए लिखा था - '**तत्र श्रोत्रविषया वैखरी**,

१. त्रि० १.१.१.　　२. अधिक विशलेषण के लिये देखें, अनुच्छेद ४६।
३. वा० १.१४२, १४३.

मध्यमा हृदयदेशस्था पदादिप्रत्ययानुपत्या व्यवहारकारणम् ; पश्यन्ती तु लोकव्यवहारातीता ; योगिनां तु तत्रापि प्रकृतिप्रत्ययविभागावगतिरस्ति ; परायां तु नेति त्रय्या उक्तम्' (महा० उद्योत टीका १.१.१)। अर्थात्, व्याकरण का व्यापार अधिक से अधिक **पश्यन्ती** तक है, **परा** उस का विषय नहीं बनती, बन नहीं सकती। इस टिप्पणी का समर्थन वैद्यनाथ की छाया नामक टीका एवं भार्गव शास्त्री[1] की पादटिप्पणी में किया गया है। यही भावना पूर्वोक्त वेद-मन्त्र में 'गुहा त्रीणि निहिता **नेङ्गयन्ति, तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति'** के द्वारा भिन्न प्रकार से कही गई है। वहां उच्चारण का क्षेत्र 'वैखरी वाक्' को कहा गया है। पहले तीनों चरण 'अदृश्य वाक्' के रूप में माने गये हैं। वस्तुतः वैदिक वचन 'वाक्' को भौतिक उत्पत्ति की दृष्टि से विवेचित कर रहा है, जब कि भर्तृहरि उसे वैज्ञानिक एवं वैयाकरण की दृष्टि से देख रहे हैं।

मनुष्य की चिन्तन - प्रक्रिया में ही प्रकृति-प्रत्यय का जन्म होता है। शब्द होता भी वस्तुतः बुद्धिस्थ ही है : **तद्वच्छब्दोऽपि बुद्धिस्थः श्रुतीनां कारणं पृथक्** (वा० १.४६)। पहले बुद्धि द्वारा अर्थ में निश्चित करके ही उसे प्रयोग किया जाता है : **वितर्कितः पुरा बुद्ध्या क्वचिदर्थे निवेशितः** (वा १.४७)। अतः यह निर्विवाद है कि शब्द का वास्तविक जन्म 'पश्यन्ती' (बुद्धिविषया) की अवस्था में ही हो जाता है। 'मध्यमा' और 'वैखरी' उसे भौतिक रूप में आविर्भूत होने के लिए सहायता भर पहुंचाती हैं। अतः जहां श्रुत भाषा के रूप में 'वैखरी' को ही व्याकरण का विषय कहा जाता है, वहां वक्ता की दृष्टि से प्रकृति-प्रत्यय का विभाजन 'चिन्तन' या 'पश्यन्ती' की प्रक्रिया में ही हो जाता है। कई बार हम इसे स्पष्ट अनुभव कर पाते हैं और कई बार यह स्वभावतः हो जाता है। उसे हम पृथक् से नहीं जान पाते। इसलिए भर्तृहरि द्वारा वाणी के तीन पादों को गिनवाने का अर्थ चौथे पाद (परा) की अस्वीकृति नहीं है। बल्कि, व्याकरण के क्षेत्र से बाहर होने के कारण ही वे वहां 'परा' का नामतः उल्लेख करना उचित नहीं समझते।

४१. अभिव्यक्ति के दो पार्श्व--पीछे, भाषा की परिभाषा निश्चित करते हुए, हम कह आए हैं कि, भर्तृहरि की दृष्टि में, भाषा है **दो बुद्धियों या मनों के बीच का कार्य व्यापार**।[2] वक्ता जिस आशय को बुद्धि में लेकर चलता है, जब वही आशय ग्रहीता की बुद्धि का विषय बन जाता है, भाषण की प्रक्रिया का उद्देश्य पूरा हो जाता है। दो बुद्धियों के बीच आदान-प्रदान का कार्य करने वाली 'भाषा' या 'वाक्' की इस संवाहन-क्रिया को हमें दो भागों में बांट कर देखना होगा। जहां तक वाक्य का सम्बन्ध है, वह अपने बुद्धिस्थ आशय को उच्चारण

१. महा० निर्णय सागर, पृष्ठ ४३. २. वा० ३.३.३३.

के माध्यम से 'वाक्' का रूप देता है। श्रोता इसी व्यक्त 'वाक्' को ग्रहण के द्वारा 'बुद्धि का विषय' बना लेता है। इस प्रकार व्यक्त भाषा की प्रक्रिया उच्चारण और ग्रहण के दो भागों में बंटकर पूर्ण होती है। उच्चरित होने वाले विषय को भर्तृहरि ग्राह्य के रूपा में स्मरण करते हैं, और श्रोता द्वारा समझने की अवस्था में उसे ग्रहण कहते हैं। इन्हें हम 'वक्तव्य' और 'श्रुति' के रूप में भी कह सकते हैं। इन दोनों के परस्पर सम्बन्ध (योग्यता) को वे नैत्यिक समझते हैं : 'ग्रहणग्राह्ययोः सिद्धा नियता योग्यता यथा' (वा० १.४६)। ग्रहण अन्ततः ग्राह्य पर आधारित रहता है। अतः ग्राह्य की अभिव्यक्ति में होने वालो प्रक्रिया ही ग्रहण अवस्था में होनी आवश्यक है। उसका क्रम अवश्य उलटा हो सकता है। वह भी इस कारण कि ग्राह्य की अभिव्यक्ति बुद्धि से नाद तक होती है, जबकि ग्रहण की प्रक्रिया नाद या श्रुति से बुद्धि तक होती है।

४२. **वक्तुरिच्छा या शब्द-भावना** - 'उच्चारण' और 'ग्रहण' की प्रक्रिया पर अधिक विचार करने से पहले एक अन्य प्रश्न पर विचार कर लेना उपयुक्त होगा : क्या वाक् का जन्म या उसकी अभिव्यक्ति-प्रक्रिया सचमुच वक्ता की बुद्धि से ही आरम्भ होती है और उसकी ग्रहण-प्रक्रिया श्रोता की बुद्धि में समाप्त हो जाती है ? या फिर, कुछ और भी गूढ़ तत्व है जो मन या बुद्धि को इस अभिव्यक्ति अथवा ग्रहण की प्रक्रिया के लिये प्रेरित करता है ? ऊपर दो वेदमन्त्रों में 'गुहा' के उल्लेख की चर्चा हुई है। पाणिनीय-शिक्षा के श्लोक में भी 'आत्मा' की चर्चा आई है। 'गुहा' या 'आत्मा' की चर्चा दोनों जगह 'मन' से पहले, उसे प्रेरित करने वाली शक्ति के आश्रय के रूप में, आई है। दूसरी ओर, भारतीय काव्यशास्त्रियों ने रस को 'काव्य की आत्मा' कहा है तथा उसे, आत्मा का विषय स्वीकार करते हुए, उन्होंने बुद्धि की पहुंच से परे कहा है। वैज्ञानिक की 'आत्मा' काव्य-चेता रसिक के लिये 'हृदय' बन गई है। सहृदय के हृदय का 'आह्लाद'[२] या 'अलौकिक चमत्कार'[३] यदि काव्य का उद्देश्य है, तो क्या काव्य की प्रतिक्रया 'व्यक्त-वाक्' की प्रतिक्रिया से भिन्न है ? इस प्रश्न का उत्तर काव्य-रसिक 'हां' में देगा। भर्तृहरि जैसा वैज्ञानिक भी इसका उत्तर 'हां' में ही देगा। किन्तु, वह स्पष्ट कर देता है कि वाक्-व्यक्ति की प्रक्रिया 'ग्राह्य' और 'ग्रहण' दोनों पर समान रूप से घटती है। उनके शब्दों में 'बुद्धि और वाक्' के क्षेत्र से भी परे कुछ है, जिसे वक्ता के वक्तव्य की 'आत्मा' कहा जा सकता है, जो वास्तविक 'शब्द-ब्रह्म' या 'शब्द की मूल भावना' है और जिसे पा लेना ही श्रोता का लक्ष्य है।

१. वा० १.५४ २. सा० द० ३.३। ३. रसगं० प्रथम आनन।

अपि प्रयोक्तुरात्मानं शब्दमन्तरवस्थितम् ।
प्राहुर्महान्तमृषभं येन सायुज्यमिष्यते ।। वा० १३१ ।।

वास्तविक शब्द वह नहीं है जिसे बोला या सुना जाता है, बल्कि वह है जो वक्ता या श्रोता की आत्मा का विषय होता है। यह आत्मा ही आन्तर-ज्ञाता है, जिसमें आत्माभिव्यक्ति की प्रबल इच्छा उठती है, और जो अपने 'स्व-रूप' की अभिव्यक्ति के लिये 'शब्द' का रूप धारण करता है :

अथायमान्तरो ज्ञाता सूक्ष्मे वागात्मनि स्थितः ।
व्यक्तये स्वस्य रूपस्य शब्दत्वेन विवर्त्तते ।। वा० १. ११२ ।।

इस श्लोक से दो सत्य एक साथ उद्‌घाटित हो जाते हैं। एक यह कि भर्तृहरि, दार्शनिकों की 'आत्मा' की बात न करके, भाषा-वैज्ञानिकों की 'वागात्मा' की बात करते हैं। दूसरा यह कि भाषा की अभिव्यक्ति और उसका ग्रहण केवल मात्र बुद्धि व्यापार से ही पूर्ण नहीं हो जाता। जब तक मन व्यग्र न हो, वह 'अभिव्यक्ति' या 'ग्रहण' में लग ही नहीं सकता। मन की इस प्रेरणा के लिये वक्ता की वागात्मा में जो प्रक्रिया होती है, उसे **अभिव्यक्ति की इच्छा** कहते हैं। अभिव्यक्ति की इच्छा का यह सिद्धान्त आज के मनोविज्ञानवेत्ताओं की दृष्टि से अत्यन्त उपयोगी है। वैदिक ऋषियों से लेकर परवर्त्ती भारतीय आचार्यों तक सभी ने इस पर पर्याप्त बल दिया है। अन्तर इतना ही है कि भारतीय दृष्टि में **मनोभाव** की यह प्रेरणा वक्ता और श्रोता दोनों में अपेक्षित होती है। **उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्** (ऋ० १०. ७१. ४), **अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायो मनोजवेष्वसमा बभूवुः** (ऋ० १०. ७१. ७)' तथा, **हृदातष्टेषु मनसा जवेषु** (ऋ० १०. ७१. ८), आदि में इसी मानसिक प्रेरणा या अनुभूति पर बल दिया गया है। सीधे शब्दों में, जब तक वक्ता या श्रोता में 'इच्छा' की प्रेरणा नहीं होती, वाणी की अभिव्यक्ति या उसके 'ग्रहण' की पूर्णता का प्रश्न ही नहीं उठता। काव्य-शास्त्रियों ने ग्रहण-पक्ष में **साधारणीकरण**[1] की एक स्थिति मानी है। यह मन से परे आत्मा की स्थिति है। **अभिधा** के भौतिक स्तर से **भावना** तक मन की स्थिति मानी जा सकती है। पर व्यक्ति-सम्बन्ध से हीन होकर सार्वत्रिक और देशकालाविच्छिन्न (निर्वैयक्तिक) अनुभूति को पा लेना सबके बस में नहीं। शब्दार्थ को समझकर भी मूल भावना को न समझ पाने वाले व्यक्ति कम नहीं होते। 'साधारणीकरण' में निर्वैयक्तिकता की यह स्थिति उन्हें ही प्राप्त होती है, जो विषय के ग्रहण के साथ-साथ मानसिक दृष्टि से भी अपने व्यक्तित्व से ऊपर उठते जाते हैं। दूसरे शब्दों में, शब्द के भौतिक-रूप से

१. भट्टनायक का मत ; दे० रसगंगाधर, प्रथम आनन।

सम्बन्ध छूट कर जब उसकी 'आत्मा' या 'वस्तु' से सम्बन्ध हो जाता है, तभी शब्द का अर्थ भी सार्थक होता है। इसी अर्थ में भर्तृहरि शरीर, आत्मा और वस्तु को एक मानते हैं।

आत्मा वस्तु स्वभावश्च शरीरं तत्वमित्यपि।

द्रव्यमित्यस्य पर्यायास्तच्च नित्यमिति स्मृतम् ॥ वा० ३. २. १ ॥

अन्यथा, यदि 'शब्द-शरीर' और 'शब्द-भावना' में अन्तर दिखाई दे, या उनके तुलनात्मक महत्व का प्रश्न उठे, तो वस्तु या शब्दभावना को ही अपेक्षाकृत 'सत्य' स्वीकार करना होगा। शब्द आकारमात्र है। और, आकृति असत्य होती है।

सत्यं वस्तु तदाकारैरसत्यैरवधार्यते।

असत्योपाधिभिः शब्दैः सत्यमेवाऽभिधीयते ॥ वा० ३ २. २ ॥

अतः शब्द के आकार को अन्तिम न मनाकर उस शब्द-भावना को पकड़ने और समझने का यत्न होना चाहिये, जिसके बिना भाषा की समस्त आदान-प्रदान-जन्य प्रक्रिया ही व्यर्थ हो जाती है :

आद्यः करणविन्यासः प्राणस्योर्ध्वं समीरणम्।

स्थानानामभिघातश्च न विना शब्दभावनाम् ॥ वा० १.१२२ ॥

अर्थात्, शब्द भावना न हो तो न इद्रिय व्यापार हो, न प्राण कार्य करें और न विविध स्थानों में अभिघातजन्य नादोत्पत्ति ही सम्भव हो पाए। भर्तृहरि का यह वक्तव्य ध्यान देने योग्य है।

४३. **वक्ता की इच्छा** — भर्तृहरि इस 'आत्मा' या **शब्द-भावना** का ठोस वैज्ञानिक रूप **इच्छा** को मानते हैं। इसमे ही श्वास-संस्थान आदि के प्रयत्नों को प्रेरणा मिलती है।

लब्धक्रियः प्रयत्नेन वक्तुरिच्छानुवर्त्तिना।

स्थानेष्वभिहतो वायुः शब्दत्वं प्रतिपद्यते ॥ वा० १. १०८ ॥

इस अवस्था को समझाते हुए भर्तृहरि एक उपमा देते हैं : 'जिस प्रकार बरसने से पहले आकाश में बादल उमड़ आते हैं, उसी प्रकार शब्द-परमाणु भी अभिव्यक्ति से पहले उमड़े से पड़ते हैं।'

स्वशक्तौ व्यज्यमानायां प्रयत्नेन समीरिताः।

अभ्राणीव प्रचीयन्ते शब्दाख्याः परमाणवः ॥ वा० १. १११ ॥

किन्तु, इस वैज्ञानिक उपमा को बिना समझे कुछ टीकाकारों ने उन्हें शब्दों के परमाणुवाद का समर्थक कह कर शब्दों की अनित्यता सिद्ध करने वाले पक्ष का व्याख्याता कहा है। वस्तुतः, शब्दों को **परमाणवः** और **अभ्राणीव** कहकर भर्तृहरि ने वक्ता की 'इच्छा' के अत्यन्त उलझे रूप की, वैज्ञानिक दृष्टि से,

सरलतम व्याख्या प्रस्तुत कर दी है। जब वक्ता बोलना चाहता है या भाषण प्रक्रिया में लगना चाहता है, उस समय उसके मन में अनेक शब्द उमड़ते हैं, जिनमें से किसी एक या कुछ को ही उसे अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में चुनना होता है। ये सभी शब्द स्पष्ट न होकर अस्पष्ट से रहते हैं। इन में से अन्ततः गिने-चुने शब्द ही 'पश्यन्ती' में स्पष्ट रूप ग्रहण कर पाते हैं। इस प्रकार 'वागात्मा' का विषय है **वक्तुरिच्छा**। 'वागात्मा' को शरीर-शास्त्र की दृष्टि से 'चेतनास्थान' या 'चेतना-केन्द्र' (हृदय : गुहा) कहा जा सकता है : हृदयं चेतनास्थानम्' (वाग्भट, शारीरस्थान)।

४४. **परा की स्वीकृति**— इच्छा की इस अवस्था को अन्यत्र सभी काव्य-शास्त्रियों या वैयाकरणों ने **परा** नाम दिया है और उसे पश्यन्ती से परे स्वीकार किया है। 'वाक्यपदीय' की उपलब्ध प्रतियों में एक श्लोक उपलब्ध नहीं है। परन्तु नागेश भट्ट ने उसे अपनी उद्योतटीका में भर्तृहरिकृत मानकर पढ़ा है, और टिप्पणीकार भार्गवशास्त्री एवं छायाकार वैद्यनाथ ने भी उसे भर्तृहरिकृत ही माना है।[1] इसे '**वैखर्या मध्यमायाश्च**' के बाद पढ़ा गया है :

स्वरूपज्योतिरेवान्तः परा वागनपायिनी।
तस्यां दृष्टस्वरूपायामधिकारो निवर्त्तते॥ महा० १.१.१॥

कुछ जगह यह श्लोक द्विधा विभक्त मिलता है और '**परा**' की जगह '**सैषा**' या '**सूक्ष्मा**' पाठ मिलता है। अर्थ स्पष्ट है, 'परा या सूक्ष्मा-वाक् आन्तरिक 'स्वरूपज्योति' है। जब उसे कोई पा लेता है, तब वैखरी आदि का अधिकार या क्षेत्र हट जाता है।' यदि यह कारिका भर्तृहरि की न भी हो,[2] तो भी पूर्वोक्त कथनों के द्वारा भर्तृहरि ने उस स्थिति को स्वीकार किया है, जिसे '**परा**' द्वारा अभिहित किया जाता है। यह विवेचन इसलिये आवश्यक है, ताकि हम जान लें कि '**भाषा**' या '**वाक्**' द्वारा अभिव्यक्ति और ग्रहण की प्रक्रिया का सम्बन्ध केवल बुद्ध्यर्थ या बुद्धि-विषय तक ही सीमित नहीं है, बल्कि उसका विषय है **स्वरूप** : शब्द के पीछे छिपी उसकी मूल प्रायोगिक-भावना। इस प्रकार स्पष्ट है कि उच्चारण-प्रक्रिया में '**परा**' का ग्रहण भी भर्तृहरि को अभीष्ट है। 'तीन चरणों' के नामोल्लेखमात्र से यह नहीं समझ लेना चाहिये कि वे '**परा**' के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते। हां, व्याकरण का क्षेत्र वे अवश्य '**परा**' को नहीं मानते।

---

१. महा० पृ० ४४।

२. दे० 'वाक्यपदीय, ब्रह्मकाण्ड' — पं० चारुदेव सम्पादित लाहौर संस्करण एवं पं० सूर्यनारायण शुक्ल द्वारा सम्पादित चौखम्बा संस्करण। दोनों में ही इस कारिका को प्रक्षिप्त माना गया है।

४५. परा का कार्य — वाक् उत्पत्ति में इन चारों चरणों का योग रहता है। इन चारों के क्रम से ही उच्चारण-प्रक्रिया पूर्ण होती है। अतः यहां इन चारों के कार्यक्षेत्र का क्रमशः विवेचन भी उचित रहेगा। 'परा' की स्थिति ऊपर स्पष्ट की गई है। वक्ता की इच्छा (वा० १.१०८) से इसका सम्बन्ध है। इस अवस्था मे वक्ता के हृदय में शब्दों का अम्बार सा उमड़ा पड़ता है। इन्हें 'शब्द' न कहकर **शब्दपरमाणु** कहना अधिक उचित है। कोई भी शब्द स्पष्ट न होकर, उसकी भावना या अधकचरा सा **शब्दरूपमात्र** उमड़ रहा होता है। वक्ता उनमें से किसी एक को निश्चित नहीं कर पाता। शब्द की आकृति का स्पष्ट विवेक भी उसमें नहीं होता। इससे शब्दों को अनित्य कह देना उचित नहीं। सत्य तो यह है कि इस अवस्था में 'वागात्मा' या वक्ता का हृदय अपने अन्दर उठता किसी भावना को स्पष्ट रूप में अभिव्यक्त करना चाहता है। शब्दों के चयन की अपेक्षा उसकी भावना अभिव्यक्ति के लिए अधिक आतुर होती जाती है। 'शब्द' तो उस 'इच्छा' को अभिव्यक्ति देने के माध्यम मात्र हैं।[१] आत्मा की इच्छा को शब्दरूप देने का यह कार्य 'मन' करता है।[३]

शब्द नित्य है। किन्तु, उसकी नित्यता उसकी अन्तःस्थित सूक्ष्मता में है, न कि उच्चरित शब्दरूप में। वह जिस रूप में वक्ता की आत्मा या हृदय में स्थित रहता है, वह है 'शब्द-भावना'। उसी रूप में वह नित्य है। इस 'सूक्ष्म' का विवेचन (प्रकृति-प्रत्ययादि का विनिश्चय) नहीं हो सकता। किन्तु, अभिव्यक्ति का कोई निमित्त (इक्छा आदि) उपस्थित होने पर ही वह व्यक्त होता है। यहां भर्तृहरि फिर एक उपमा देते हैं : जिस प्रकार वायु सर्वत्र रहती है, किन्तु व्यजन (पंखे) के आघात के विना वह व्यक्त रूप में अनुभव नहीं होती, उसी तरह मन में, शब्दराशि के नित्य संचित रहने पर भी, जब तक आत्मा की **अभिव्यक्ति की इच्छा** रूपी कोई निमित्त सामने नहीं आता, तब तक वह शब्दराशि भी स्पष्ट नहीं हो पाती।

अजस्रवृत्तिर्यः शब्दः सूक्ष्मत्वान्नोपलभ्यते।
व्यजनाद्वायुरिव सः स्वनिमित्तात्प्रतीयते ॥ वा० १.११६ ॥

यहां प्रायः 'व्यजन'[४] की जगह 'व्यंजन'[५] पढ़ा गया है, परन्तु उसका अर्थ यदि पंखे के अतिरिक्त कुछ भी अन्य किया जाये यो यह उपमा ही महत्वहीन हो जाती है। यहां 'वायु' का अर्थ वक्ता की शारीरिक 'वायु-शक्ति' से नहीं है।

१. वा० १.१११. २. वा० १.११२. ३. वा० १.११३.
४. चौखम्बा संस्करण, वाक्यपदीय ब्रह्मकाण्ड।
५. लाहौर संस्करण, वाक्यपदीय आगमकाण्ड।

स्पष्ट है कि शब्द अपने किसी प्रवृत्ति-निमित्त या प्रेरणा-हेतु से ही अभिव्यक्ति-प्रक्रिया में प्ररित होता है। और, यह अभिव्यक्ति-हेतु है वक्ता के हृदय में उठती अभिव्यक्ति की इच्छा। इस इच्छा से प्रेरित होकर ही मन (**पश्यन्ती में**) शब्दरूप को स्थिर करने में प्रवृत्त होता है।

४६. **पश्यन्ती का कार्य** — दूसरी अवस्था 'पश्यन्ती' की है। इसे हम चिन्तन, बोध या मनन की अवस्था भी कह सकते हैं। मन और बुद्धि यहां सक्रिय हो कर पूर्वोक्त अभिव्यक्ति की इच्छा का विश्लेषण करते हैं और उसे शब्दरूप में स्थिर करते हैं। **मनोभाव** है वह अवस्था, जहां वक्ता की इच्छा का विश्लेषण होता है। विश्लेषण का यह कार्य **तेजस्** तत्व के द्वारा होता है। आयुर्वेद में तेजस् को पाचन-प्रक्रिया का मूल माना गया है। यहां भी तेजस् को पाचन-प्रक्रिया का मूल माना गया है। यहां उसे विचारों के परिपाक एवं उन्हें शब्द रूप देने या शब्द-विनिश्चय करने में समर्थ बताया गया है। शब्द-विनिश्चय ही यहां पाचन है।

स मनोभावमापद्य तेजसा पाकमागतः।
वायुमाविशति प्राणमथासौ समुदीर्यते ॥ वा० १.११३ ॥

इस मनोभाव को ही अन्यत्र बुद्धि की शक्ति या क्रिया भी माना गया है।

तस्य प्राणे च या शक्तिर्या च बुद्धौ व्यवस्थिता ॥ वा० १.११७ ॥

यहां प्राण के साथ बुद्धि का उल्लेख स्वभावतः उसे मन से अभिन्न सिद्ध करता है। इसके विपरीत पाणिनि इन दोनों को स्पष्टतः पृथक् पृथक् स्वीकार करते हैं। बुद्धि को वे आत्मा के साथ एक ही वर्ग में रखते हैं और उन दोनों को मन का प्रेरक और नियोजक मानते हैं। यहीं पर वे तेजस् के स्थान पर कायाग्नि की सत्ता को स्वीकार करते हैं और उसे मन से परवर्त्ती अवस्था स्वीकार करते हैं। स्पष्टतः कायाग्नि भौतिक वस्तु है, जबकि तेजस्, भौतिक न होकर मानसिक (तात्विक) वस्तु है। उसे हम 'शक्तिमात्र' भी कह सकते हैं। परन्तु 'कायाग्नि', शक्ति न रह कर, पदार्थ या भौतिक वस्तु बन जाती है। इस प्रकार जहां भर्तृहरि मन और बुद्धि का कार्य एक ओर संयुक्त कर देते हैं, तथा तेजस् के कार्य को मन की प्रक्रिया का अविभाज्य अंग स्वीकार करते हैं, वहां पाणिनि इन तीनों में से मन को एकाकी कर देते हैं तथा बुद्धि को आत्मा का अंग ('परा' अवस्था में) और **कायाग्नि** को प्राण का अंग ('मध्यमा' अवस्था में) स्वीकार करते हैं। वैज्ञानिक दृष्टि से इन दोनों मतों में बड़ा भारी अन्तर आ जाता है। बुद्धि का कार्य चिन्तन और विनिश्चय है। **तेजस्** का कार्य विश्लेषण है। यदि **चिन्तन** और **विश्लेषण** को 'मन' की प्रक्रिया से

१. पा० शि० ६।

पृथक् करके पढ़ा जाय, तो 'मन' कार्य कुछ भी महत्वपूर्ण नहीं रह जाता। इतना ही नहीं, **पश्यन्ती** का प्रयोजन ही महत्वहहीन हो जाता है। 'पश्यन्ती' का कार्य है **विश्लेषणपूर्वक विनिश्चय**। यह कार्य तेजस् और बुद्धि के योग के बिना असम्भव है। दूसरी ओर, भर्तृहरि शब्द का वास्तविक रूप बुद्धिस्थ मानते हैं। अर्थभावना सहित शब्द, अपने मूल रूप में, बुद्धि में स्थित होता है।

नादैराहितबीजायामन्त्येन ध्वनिना सह।
आवृत्तपरिपाकायां बुद्धौ शब्दोऽवधार्यते ॥ वा० १.८४ ॥

इस मन या बुद्धि के कार्य की स्पष्टतर व्याख्या करते हुए भर्तृहरि कहते हैं —

तस्य कारणसामर्थ्याद् वेगप्रचयधर्मणः।
संनिपाताद्विभज्यन्ते सारवत्योऽपि मूर्त्तयः ॥ वा० १.१०६ ॥
अणवः सर्वशक्तित्वाद् भेदसंसर्गवृत्तयः।
छायातपतमःशब्दभावेन परिणामिनः ॥ वा० १.११० ॥
स्वशक्तौ व्यज्यमानायां प्रयत्नेन समीरिताः।
अभ्राणीव प्रचीयन्ते शब्दाख्याः परमाणवः ॥ वा० १.१११ ॥

अर्थात्, (अभिव्यक्ति की प्रेरणा से प्रेरित) वायु के वेग के कारण हमारी ठोस धारणाएं, विचार, या अकृतियां भी विभक्त सी होने लगती हैं। इस प्रकार के विभाजित विचाराणु परस्पर भेद व संसर्ग की वृत्ति के कारणों से विविध शब्दों का आकार ग्रहण करने लगते हैं। ये शब्द एकदम स्पष्ट नहीं होते, उमड़ते से आते हैं; जैसे बरसने से पहले बादलों के समूह आकाश में उमड़े पड़ते हैं। शब्दराशि अन्ततः संयोग-विभाग की प्रक्रिया के बाद अन्तिम रूप लेती है।[1] तब कोई एक निश्चित शब्द, या शब्द समूह, किसी एक निश्चित भावना का प्रतिनिधि बन जाता है:

स मनोभावमापद्य तेजसा पाकमागतः ॥ वा० १.११३ ॥

इस प्रकार भर्तृहरि, वैज्ञानिक दृष्टि से, अधिक ठीक उतरते हैं।

४७. **मध्यमा : प्रयत्न की अवस्था** — तब आती है अवस्था **मध्यमा** की, जिसमें 'प्राण' और 'वायु' का योग रहता है तथा जिसे **प्रयत्न की अवस्था** के रूप में कहा जा सकता है। शारीरिक प्रयत्न इसी दशा में आरम्भ होता है। श्वास-संस्थान एवं स्वर-संस्थान की प्रक्रिया का अन्तर्ग्रहण भी इसी अवस्था में होता है। ये दोनों संस्थान **वातसंस्थान** के अविछेद्य अंग हैं। आयुर्वेदिक धारणा के अनुसार 'वातसंस्थान' का एक और अंग है — **स्नायु-संस्थान**। हमारे शरीर की समस्त स्वाभाविक गतिविधि - ज्ञानात्मक व प्रेणात्मक - इसी 'वायु' या 'वात' द्वारा प्रेरित होती है। इससे श्वास और स्वर-प्रक्रिया का

१. वा० १.१०३.

नियमन और नियन्त्रण होता है। इस प्रकार उच्चारण की भौतिक उत्पत्ति में भाग लेने वाले तीनों तत्स्थानों की गतिविधि इनके अन्तर्गत ही आ जाती है : **वायुमाविशति प्राणमथासौ समुदीर्यते**।[1] पाणिनि ने 'कायाग्नि' का संयोग इसके साथ स्वीकार किया है। भर्तृहरि ऐसा नहीं मानते। वे प्राणों से अतिरिक्त 'कायाग्नि' की सत्ता स्वीकार नहीं करते। हाँ, तेजस् का प्रभाव वे यहाँ भी प्रेरणादायक के रूप में अवश्य स्वीकार करते है। इस प्रकार 'तेजस्' की विश्लेषणात्मक और प्रेरक – उभयविध – सत्ता को वे स्वीकार करते हैं :

अन्तःकरणतत्त्वस्य वायुराश्रयतां गतः।
तद्धर्मेण समाविष्टस्तेजसैव प्रवर्त्तते॥ वा० १.११५॥

प्राण को वायु का आश्रय (आवास) कहा गया है। वह अन्तःकरण अथवा अन्तरिन्द्रिय है। वह तेजस् से प्रवृत्त होकर कार्य-व्यापार में रत होता है। और तब—

विभजन् स्वात्मनो ग्रन्थीन् श्रुतिरूपैः पृथग्विधैः।
प्राणो वर्णानभिव्यज्य वर्णेष्वेवोपलीयते॥ वा० १. ११६॥

अर्थात्, अपनी सामर्थ्य द्वारा उन शब्दग्रन्थियों को ध्वनिरूपों में खण्डित करता हुआ प्राण जिन 'वर्णों' को व्यक्त करता है, अन्ततः उनमें ही स्वतः लीन हो जाता है। अर्थात्, प्राण का योग ध्वनियों की भौतिक-अभिव्यक्ति तक ही सीमित रहता है। उससे पहले और उत्तरवर्ती अवस्थाओं से उसका योग नहीं रहता। प्राण को शारीर-शास्त्रीय दृष्टि से सक्रियता का केन्द्र (सेण्टर ऑफ एक्टिविटी) कहा जा सकता है।

४८. **वैखरी : व्यक्ता वाक्** – तब कहीं वाक् व्यक्त रूप धारण करती है – वह समुदीर्ण होती है : 'अथाऽसौ समुदीर्यते' (वा० १. ११४)। इस व्यक्त वाक् में उच्चारण-स्थानों या प्रयत्नों के अनुसार ध्वनियों की भिन्नता होती है। भिन्न-भिन्न ध्वनियों की स्थानभिन्नता शब्द की शक्ति के कारण ही सम्भव होती है। यद्यपि यह परिवहन होता प्राण की सामर्थ्य से ही है।

तस्य प्राणे च या शक्तिर्याच बुद्धौ व्यवस्थिता।
विवर्त्तमाना स्थानेषु सैषा भेदं प्रपद्यते॥ वा० १. ११८॥

यह वैखरी वाक् ही है,जो शब्दों के माध्यम से विश्व के पारस्परिक व्यवहार की माध्यम बनती है (वा० १. ११९), या जो ज्ञान का आधारभूत रूप है, तथा जिसके बिना न विचारों का आदान-प्रदान सम्भव है, न कुछ और।

वाग्रूपता चेदुत्क्रामेदवबोधस्य शाश्वती।
न प्रकाशः प्रकाशेत सा हि प्रत्यवमर्शिनी॥ वा० १. १२४॥

यही व्याकरण का वास्तविक परीक्षा-क्षेत्र है। और, यही है एक लम्बी प्रक्रिया का अन्त !

---

१. वा० १. १०३.

वितर्कितः पुरा बुद्ध्या क्वचिदर्थे निवेशितः ।
करणेभ्यो विवृत्तेन ध्वनिना सोऽनुगृह्यते ।। वा० १. ४७ ।।

४९. **ग्रहण : विलोम चार चरण** – उच्चारण की इस प्रक्रिया को हम इस प्रकार, भर्तृहरि के शब्दों में ही, चार भागों में बाँट सकते हैं। पहला चरण है—**इच्छा**। द्वितीय चरण है—**मनोभाव**। तृतीय चरण है—'यान्त्रिक उत्पत्ति' या **प्रयत्न**। और अन्तिम चरण है—**वाक् व्यक्ति या ध्वनि**। इन चार चरणों के माध्यम से ही किसी वक्ता की अभिव्यक्ति की इच्छा श्रोता तक पहुँचने योग्य (ग्राह्य) बन पाती है। स्वभावतः श्रोता को जो सर्वप्रथम वस्तु मिलती है, वह है यही व्यक्ता वाक् या **ध्वनि**। यह ध्वनि उसके कान के पर्दों पर टकराकर **नाद** का रूप धारण करती है। श्रोता तक, पूरी भावभूमि सहित, पहुँचने में 'वक्ता की इच्छा' को भी चार चरण ही पार करने पड़ते हैं। भर्तृहरि ने उन्हें 'उच्चारण' के चार चरणों से विलोमक्रम में ही दिखाया है। वक्ता के हृदय या उसकी आत्मा में स्थित इच्छात्मक '**स्वरूप**' की उपलब्धि श्रोता को सबसे अन्त में होती है। अतः 'नाद' से 'स्वरूप' तक के चारों चरणों में यह प्रक्रिया पूर्ण होती है। इन चारों चरणों को हम क्रमशः नाद, **स्फोट**, **ध्वनि या व्यक्ति** और **स्वरूप** के नाम से कहेंगे।

५०. **नाद और ध्वनि** – नाद और ध्वनि में, आपाततः, अन्तर अनुभव करना कठिन सा हो जाता है। स्वयं भर्तृहरि ने **ध्वनि** का प्रयोग दो भिन्न अर्थों में किया है। एक ओर, वे 'स्फोट' को ध्वनिकाल का परवर्त्ती कहकर उसे 'नाद' से सम्बद्ध कर बैठते हैं : **स्फोटस्याभिन्नकालस्य ध्वनिकालानुपातिनः** (वा० १. ७६), और दूसरी ओर, 'ध्वनि' को स्फोट से उत्पन्न और परवर्ती अवस्था बताकर उसे 'नाद' से सर्वथा पृथक् सिद्ध करते हैं : **स्फोटादेवोपजायन्ते ज्वाला ज्वालान्तरादिव** (वा० १. १०७)। नाद और ध्वनि की पृथक्ता की स्वीकृति अन्यत्र भी उन्होंने दी है : **नादैराहितबीजायामन्त्येन ध्वनिना सह** (वा० १. ८५)। यहाँ नाद और ध्वनि दो चीज़ें हैं। **अतः ध्वनि के दो अर्थ तो स्पष्ट हैं, जिनमें से एक की स्थिति स्फोट से पहले के नाद से सम्बद्ध है, दूसरे की स्थिति स्फोट के बाद उससे उत्पन्न वस्तु के रूप में है।** इसे स्पष्ट करने के लिए भर्तृहरि स्वयं 'प्राकृत' और 'वैकृत' के रूप में ध्वनि के दो भेद मानते हैं। उनका यह मत व्याडि के इस मत पर आधारित है :

शब्दस्य ग्रहणे हेतुः प्राकृतो ध्वनिरिष्यते ।
स्थितिभेदे निमित्तत्वं वैकृतः प्रतिपद्यते ।। (व्याडि) ।।

कुछ व्याख्याकार इस विषय में नितान्त भ्रमपूर्ण परिणामों पर पहुँचे हैं। उन्होंने इन दोनों को ही नादात्मक ध्वनि माना है। भर्तृहरि की दृष्टि में **प्राकृत ध्वनि** वह है, जिसका सम्बन्ध उच्चारण और शब्द की वर्णात्मक अभिव्यक्ति से होता है।

वह 'नाद' का, तथा शब्दों या वर्णों के ह्रस्वत्व, दीर्घत्व आदि का भी, कारण बनती है। वर्णों की ह्स्वता या दीर्घता इसी ध्वनि की काल मात्रा पर प्रभाव डालती है।

स्वभावभेदान्नित्यत्वे ह्रस्वदीर्घप्लुतादिषु।

प्राकृतस्य ध्वनेः कालः शब्दस्येत्युपचर्यते ।। वा० १. ७६ ।।

उसके विपरीत, वैकृत ध्वनि वृत्तिभेद को उत्पन्न करने में समर्थ होती है तथा 'स्फोटात्मा' से अभिन्न होती है।

शब्दस्योर्ध्वमभिव्यक्तेर्वृत्तिभेदं तु वैकृताः।

ध्वनयः समुपोहन्ते, स्फोटात्मा तैर्न भिद्यते।। वा० १. ७७ ।।

कहा जा सकता है कि 'वैकृत ध्वनि' का अर्थ **काकु** से है। किन्तु, यहाँ यह स्मर्तव्य है कि 'काकु' को यदि स्फोटात्मा से अभिन्न कह भी दिया जाय, तो भी उसे 'स्फोटादेवोपजायन्ते' (अर्थात् स्फोट से उत्पन्न) नहीं माना जा सकता। फिर वैकृत्-ध्वनि-सम्बन्धी ये सब प्रयोग बहुवचन में हैं, जबकि 'प्राकृत' सम्बन्धी प्रयोग एकवचनान्त ही पाये जाते हैं। निश्चय ही वैकृत-ध्वनि का अर्थ, केवल **काकु** से न होकर, शब्द की **वृत्ति** या 'अन्तर्धारा' से है। स्फोट रूप में ग्रहण के बाद भी जो विषय एकदम स्पष्ट नहीं हो पाता, उसे स्पष्ट करने में ये वैकृत ध्वनियाँ ही सहायता करती हैं। प्रसंगानुसार ही इनकी चर्चा अभीष्ट होगी। नाद के प्रकरण में हम, 'प्राकृत ध्वनि' का ही ग्रहण करेंगे।[1]

५१. नाद – श्रोता 'नाद' के माध्यम से ही इन प्राकृत ध्वनियों या **वर्णध्वनियों** के ग्रहण में समर्थ होता है। ये वर्णध्वनियाँ ही मिलकर ह्रस्व या दीर्घ शब्द का निर्माण करती हैं। ह्रस्वदीर्घ, प्लुतादि का भेद इन वर्णध्वनियों में ही सम्भव होता है। परन्तु श्रोता तक ये सब **नाद** के रूप में ही पहुँचती हैं। प्रश्न उठते हैं : क्या गृह्यमाण नाद एक-एक वर्णध्वनि को भिन-भिन्न रूप में ग्रहण कराता है या किसी विशिष्टध्वनि-समूह को एकत्र ? क्या ह्रस्व, दीर्घ, प्लुतादि ध्वनिभेद से 'नाद' को भी ह्रस्व, दीर्घ, प्लुतादि की अवस्था प्राप्त होती है ? तथा, क्या नाद ही शब्द के ग्रहण का मुख्य हेतु है ?

निश्चय ही शब्द का उच्चारण प्रत्येक ध्वनि के उच्चारण के बाद ही सम्भव हो पाता है। यद्यपि इन ध्वनियों का पृथक् अस्तित्व, स्वर-व्यंजनादि के रूप में, न वक्ता को अभिप्रेत होता है, न श्रोता ही इन रूपों में उसे ग्रहण करता है, तो भी

---

१. इस विषयक चर्चा डॉ० कपिलदेव द्विवेदी ने 'अर्थ० व्याक०' की भूमिका के पृष्ठ १७-१८ पर की है। 'वैकृत ध्वनि' को उन्होंने भी 'प्रतिक्रिया' या 'प्रतिध्वनि' ही माना है। यह 'प्रतिध्वनि' स्वयं, अन्तिम उपलब्धि न होकर, साधनमात्र होने से अनित्य है। 'प्राकृत ध्वनि' को उन्होंने भी 'नाद' से अभिन्न स्वीकार किया है।

विवेचक दृष्टि उस शब्द में साधर्म्य-वैधर्म्य के आधार पर ध्वनि-विश्लेषण करने में समर्थ हो ही जाती है। परिणामतः शास्त्रीय दृष्टि से ये ध्वनियाँ संयुक्त भी हो सकती हैं, ह्रस्वदीर्घप्लुतादि भेद से उच्चारणकाल के मात्राभेद को भी प्राप्त कर सकती हैं, और, सबके समवेत होने पर, हम उन ध्वनियों की संख्या और दीर्घता के आधार पर शब्द को 'छोटा' भी कह सकते हैं, और 'बड़ा' भी। अतः 'नाद' की दृष्टि से काल-मात्रा **ह्रस्व** भी हो सकती है, दीर्घ भी। निश्चय ही जितना समय वक्ता को ध्वनियों के **उच्चारण** में लगता है, उतना ही समय श्रोता को उनके **नाद-ग्रहण** में भी लगता है। उच्चारण की पूर्णता पर ही नाद-ग्रहण की पूर्णता निर्भर करती है। इसीलिए प्रायः **उच्चारण-काल** को ही शब्द की कालमात्रा मान लिया गया है।

स्वभावभेदान्नित्यत्वे ह्रस्वदीर्घप्लुतादिषु।
प्राकृतस्य ध्वनेः कालः शब्दस्येत्युपचर्यते ॥ वा० १.७६ ॥

तब भी 'शब्द का काल' इसे नहीं कहा जा सकता। जब तक हम उच्चारण कर रहे होते हैं, तब तक ये ध्वनियाँ 'वर्ण' ही होती हैं। उच्चारण समाप्त होते ही वे 'शब्द' बन जाती हैं। अतः शब्द को अभिन्नकाल ही माना जाता है, चाहे वह छोटा मालूम पड़े, या बड़ा। फिर भी, लोक में, 'नाद' को आधार मानकर, प्रायः उसका 'काल' निश्चित किया जाता है।

तस्मादभिन्नकालेषु वर्णवाक्यपदादिषु।
वृत्तिकालः स्वकालश्च नादभेदाद्विभज्यते ॥ वा० १.१०२॥

परन्तु एक अवधेय सत्य यह है कि इस सब कालगणना को शब्द के **उच्चारण** और **श्रवण** तक सीमित माना गया है। अभिप्राय यह है कि उच्चरित शब्द उच्चारण और श्रवण से भिन्न पृथक् व्यक्तित्व लिये हुए है। यदि ऐसा नहीं मानेंगे, और 'नाद'-रूप में ही शब्द की सत्ता को स्वीकार करेंगे, तो शब्द की **अनित्यता** या **कार्यावस्था** की स्वीकृति का प्रश्न उठेगा। हम शब्द की विविध ध्वनियों का उच्चारण करते हैं। नाद भी हम तक विविध ध्वनियों का ही आता है। किन्तु शब्द वह है, जो उच्चारण और नाद-ग्रहण की प्रक्रिया के पूर्ण होते ही पूर्ण हो जाता है। जब तक नाद-ग्रहण की प्रक्रिया पूर्ण न हो, तब तक इस 'शब्द' का ग्रहण भी नहीं हो सकता। अतः ग्रहीता या श्रोता के लिए ग्रहण की प्रथम स्थिति 'नाद' है, उससे ही 'शब्द' तक उसकी पहुँच सम्भव होती है।

५२. **स्फोट** – प्रश्न उठता है, यदि वह 'काल' शब्द का नहीं है, तो शब्द का काल कितना है? कहा गया है कि वर्ण, वाक्य और पद 'अभिन्नकाल' होते हैं। उनमें ह्रस्व-दीर्घ आदि का प्रश्न नहीं उठता। ये ह्रस्वता, दीर्घता आदि तो वर्ण-ध्वनियों की होती है। वास्तविकता यह है कि उच्चारण या नाद की पूर्णता के समकाल ही शब्द पूर्ण

हो जाता है। श्रोता को इसकी प्रतीति कैसे होती है कि यह शब्द पूर्ण हो गया ?, इस प्रश्न का भर्तृहरि उत्तर देते हैं – **स्फोट द्वारा**। उच्चरित ध्वनियों का नाद द्वारा ग्रहण पूर्ण होने के साथ ही श्रोता को जो शब्द की पूर्णता की प्रतीति होती है, उसे ही स्फोट कहते हैं।[1] वस्तुतः 'स्फोट' को शब्द की पूर्णता का 'द्योतक' भले ही कहा जाय, 'शब्द' नहीं कहा जा सकता। एक ओर, शब्द की पूर्णता होती है और 'स्फोट' रूप से उसका तत्काल ग्रहण होता है और, दूसरी ओर, उस शब्द के साथ रूढ़ि या परम्परा द्वारा सम्बन्ध-भावना भी, ग्रहीता के मन में, तुरन्त कौंध जाती है। अतः स्फोट से भर्तृहरि का अभिप्राय शब्दग्रहण और अर्थ-ग्रहण की समकाल अनुभूति से है। ये दोनों ग्रहण एक साथ होते हैं : एक ही वस्तु के दो अंग बन कर।

स्फोट का सिद्धान्त व्याकरण व दर्शन का प्रिय विषय रहा है। आलंकारिकों ने भी इसका विवेचन किया है। महाभाष्यकार ने भी अन्ततः स्फोट-सिद्धान्त को ही उचित ठहराया है; क्योंकि, उसके बिना वर्णों की अर्थवत्ता स्वीकार करनी पड़ेगी और 'शब्द' की सत्ता ही, किसी भी रूप में, स्वीकार न हो सकेगी। उसके युक्ति-क्रम से (क) न वर्णों का युगपत् जन्म हो सकता है, (ख) न उनके तथाकथित पृथक्-पृथक् अर्थों का संग्रहमात्र ही 'शब्द का अर्थ' बनाता है (ग) न वर्णोच्चारणक्रम से शब्द के किन्हीं अर्थ-भागों का ज्ञान होता चलता है, (घ) क्रमपूर्वक उच्चारण होने से पहले वर्ण के समय अगले वर्णों की स्थिति सम्भव नहीं हो पाती, और (ङ) न ही अगले-अगले वर्णों के समय पहले वर्णों की स्थिति स्थिर रहती है। ध्वनि मिटती जाती है, अश्रुत होती जाती है, एवं (च) न ही वर्णों के निश्चित अर्थ होते हैं (देखिए महाभाष्य १. १. २ वार्त्तिक ५४ से ५९ तक)। किन्तु इस सिद्धान्त को पूर्णता तक भर्तृहरि ने ही पहुँचाया। भर्तृहरि 'नाद' को स्पष्टतः **क्रमजन्मा** कहते हैं। उधर, शब्द में क्रमगत कोई भी भेद स्वीकार नहीं किया जा सकता। शब्द है तो अक्रम ! परन्तु वर्ण-क्रम के अनुसार उसे ही हम **क्रमवान्** समझ बैठते हैं।

> **नादस्य क्रमजन्मत्वात् न पूर्वो न परश्च सः।**
> **अक्रमः क्रमरूपेण भेदवानिव जायते ।। वा० १.४८ ।।**[1]

वाक्य में शब्दों की वर्ण की सी ही स्थिति होती है। **वाक्य** को पूरा सुनते ही शब्द अर्थहीन और क्रमहीन हो जाते हैं। जिस 'वाक्यार्थ' की उपलब्धि या प्रतीति स्फोट

---

१. वा०. १. ७५.

१. **यहाँ 'सः' का संकेत 'शब्द' से है, स्फोट से नहीं। 'अक्रम' आदि विशेषण शब्द के हैं, स्फोट के नहीं। पूर्व के दो श्लोकों से 'शब्द' का ही प्रकरण आ रहा है। अतः डा० द्विवेदी का इसे 'स्फोट' कहना उचित नहीं। डा० द्विवेदी के मत के लिये दे० 'अर्थ व्याक०' पृ० २३३।**

द्वारा होती है, उसमें शब्दों की अलग-अलग सत्ता एवं उनके संकेतों का महत्त्व नहीं रह जाता। इसलिए **वाक्य का स्फोट** भी कालक्रम या कालदीर्घता की दृष्टि से महत्त्व-हीन ही गिना जायेगा। वहाँ ध्वनिकाल सम्पूर्ण शब्दसमूह का उच्चारणकाल गिना जायेगा। सब शब्दों का उच्चारण पूर्ण होते ही 'वाक्य' की प्रतीति, स्फोट के माध्यम से, उतनी ही देर में होगी, जितनी देर में शब्द या वर्ण की। स्फोट **तो एक प्रकार का ज्ञान-स्फोट है, जो काल-परिमाण की दृष्टि से सदा ही एक और अविभाज्य** रहेगा; **चाहे** वह वर्ण का हो, शब्द का, या वाक्य का। इसीलिए भर्तृहरि ने स्फोट को अभिन्नकाल और ध्वनिकालानुपाती कहा है।

स्फोटस्याभिन्नकालस्य ध्वनिकालानुपातिनः ॥ वा० १.७५ ॥
तस्मादभिन्नकालेषु वर्णवाक्यपदादिषु ॥ वा० १. १०१ ॥
अल्पे महति वा शब्दे स्फोटकालो न भिद्यते ॥ वा० १. १०३ ॥

अतः स्फोट युगपत् एवं अभिन्नकाल है। **उसी आधार पर उच्चार्यमाण वर्ण, शब्द, या वाक्य का ग्रहण भी युगपत् और अभिन्नकाल ही मानना चाहिए।**

५३. **नाद और स्फोट का सम्बन्ध**—यहाँ 'नाद' और 'स्फोट' के परस्पर सम्बन्ध का विचार कर लेना भी आवश्यक होगा। भर्तृहरि इसे **व्यंग्य-व्यंजक-सम्बन्ध** कहते हैं, अर्थात् नाद व्यंजक है और स्फोटक व्यंग्य। नाद के बिना स्फोट की अभिव्यक्ति सिद्ध ही नहीं हो सकती। इन्हें हम क्रमशः 'ग्राह्य' और 'ग्रहण' के रूप में कह सकते हैं—

ग्रहणग्राह्ययोः सिद्धा योग्यता नियता यथा।
व्यंग्यव्यंजकभावेन तथैव स्फोटनादयोः ॥ वा० १.९७ ॥

स्फोट का नाद से यह सम्बन्ध स्वाभाविक और नित्य है। उन दोनों का सम्बन्ध वस्तु और उसके जल-स्थित प्रतिबिम्ब की भाँति है। स्फोट की सत्ता नाद के बिना **सम्भव नहीं है।**

प्रतिबिम्बं यथाऽन्यत्र स्थितं तोयक्रियावशात्।
तत्प्रवृत्तिमिवान्वेति, स धर्मः स्फोटनादयोः ॥ वा० १.५९ ॥

इसका अर्थ यह नहीं कि नाद स्फोट को जन्म देता है। सत्य यह है कि नाद तो एक माध्यम है, जिसके द्वारा बुद्धि-वितर्कित शब्द श्रोता तक, ध्वनियों के क्रम से, पहुँचता है। वस्तुतः स्फोट का जन्म होता है शब्द या वाक्य आदि की पूर्ण-श्रुति के ही क्षण में! यह एक **तात्कालिक, सहज** एवं **समकालिक** प्रक्रिया है। शब्द या वाक्य की श्रुति-पूर्ण होते ही हमें उसके अर्थ या भावज्ञान की जो तात्कालिक उपलब्धि होती है, उसे ही 'स्फोट' कहा जाता है। अतः स्फोट और नाद का सम्बन्ध, उत्पाद्य-उत्पादक का न मान कर, **व्यंग्य-व्यंजक या प्रकाश्य-प्रकाशक का ही माना जाना चाहिए।**

५४, **'स्फोट' का स्वरूप**—इसके बाद **स्फोट के स्वरूप** पर विचार करना भी आवश्यक हो जाता है। ऊपर कहा गया है कि स्फोट शब्द या वाक्य का होता है।

स्पष्टत: 'स्फोट' की उपलब्धि के क्षण में ही हमें शब्द या वाक्य की उपलब्धि हो जाती है। परन्तु, स्फोट का अर्थ केवल इनकी वर्णात्मक अथवा नादात्मक उपलब्धि से नहीं है। वर्णात्मक या नादात्मक उपलब्धि होने पर भी शब्द का ग्रहण निश्चित नहीं होता। हम भीड़ के बीच में खड़े सैंकड़ों शब्द सुनते हैं। उनकी वर्णात्मक नाद-उपलब्धि हमें न चाहने पर भी हो ही जाती है। परन्तु, उन सबका **ज्ञान** हमें नहीं होता, या उन सभी के **अर्थ** हमारे सम्मुख स्पष्ट नहीं होते। जब हम किसी विशेष शब्द या वाक्य को सुनने के लिये सजग रहते हैं, तभी उसका ज्ञान हमें होता है। इस ज्ञान की प्रथम उपलब्धि हमें सहज व **नाद-समकाल-जन्मा स्फोट** से ही होती है।

प्रश्न यह है कि यह 'स्फोट' है क्या ? भर्तृहरि ने इसे **अनेकव्यक्त्यभिव्यंग्या जातिः स्फोट इति स्मृता** (वा० १.९३) के रूप में कहा है। **स्फोट है एक समन्वित चित्र, जिसे हम 'जाति-चित्र' कह सकते ह**। उस चित्र की पूर्णता का आभास उसकी अनेकविध बारीकियों या विशेषताओं (व्यक्तियों) के ज्ञान से ही होता है। किन्तु, उसके प्रथम ग्रहण में, ये सब विशेषताएँ स्पष्ट न होकर, उनका समन्वित और समग्र चित्र ही प्रधान रहता है। शब्द हो या वाक्य—यह अभिव्यक्ति उन दोनों में एक जैसी ही होती है : **समग्र और चित्रात्मक ही**। इसे अखण्डनीया समझना चाहिये। नादात्मक ध्वनियों का इससे तब कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता। हाँ, इसके पृथक्-पृथक् विशिष्ट ज्ञान-सूत्रों को अवश्य खोजा जाता है। यह प्रक्रिया स्फोट के बाद आरम्भ होती है। स्वभावत: प्रश्न किया जा सकता है कि 'शब्दार्थ' और 'स्फोट' का परस्पर सम्बन्ध क्या है ? जहाँ तक 'शब्दार्थ का सम्बन्ध है, उस पर, बाद में विस्तृत विचार करेंगे ?[1] **मनुष्य** का अर्थ **पुरुष** और **पुरुष** का अर्थ **मनुष्य** बता कर हम उन शब्दों को परस्पर पर्यायमात्र सिद्ध कर रहे होते हैं। उन्हें एक दूसरे का 'अर्थ' नहीं कहा जा सकता। **पुरुष शब्द** सुनते ही श्रोता के मन में **मनुष्य शब्द** नहीं जगता, बल्कि उनके सामने एक विशिष्ट आकृति खड़ी हो जाती है। यह आकृति ही 'स्फोट' है। अब यदि देखा जाए तो 'पुरुष' का शब्दार्थ या पर्याय तो 'मनुष्य' ही है, परन्तु इस बात का ज्ञान इस सत्य को स्पष्टमात्र करता है कि 'पुरुष' और 'मनुष्य' शब्द सुनने पर हमारे सामने एक ही आकृति 'स्फोट' के रूप में आती है। इस प्रकार स्फोट की उपलब्धि में 'शब्दार्थ' सहायता मात्र कर सकता है। स्फोट का शब्दार्थ के परिज्ञान में कोई हाथ नहीं। जो 'आकृति' श्रोता के सम्मुख आती है, वह किसी शब्द या नाम के रूप में न होकर, चित्र रूप में होती है। भले ही, वह चित्र चाहे भाव का हो, क्रिया का, द्रव्य का या गुण का ! इस आकृति को ही 'जाति' कहते हैं।

इस बात को पतंजलि ने 'गो' शब्द के उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया है। वे पूछते हैं, 'गौ:' में शब्द क्या है ? अन्त में, वे स्वयं ही उत्तर देते हैं : **येनोच्चारितेन**

---

१. दे० अध्याय 'शब्द और अर्थ' एवं 'अर्थ-भेद'।

सास्नालांगूलखुरविषाणिनां सम्प्रत्ययो भवति स शब्दः, (महा० १.१.१) । अर्थात्, जिसके उच्चारण होते ही सास्नालांगूलादिमान् पशु का साक्षात् या परिज्ञान हो जाता है, उसे 'शब्द' कहना चाहिये । 'सम्प्रत्यय' का अर्थ है पहचान या विश्वास । एक शब्द के बोलते ही जो पहचान या विश्वास की भावना श्रोता के मन में जगती है, वह प्रत्यक्ष दर्शन के बिना असम्भव है । इसका अर्थ यह नहीं कि जब भी 'गौः' कहा जाये तो गौ सामने होनी ही चाहिये । इसका अर्थ इतना ही है कि 'गौः' कहते ही ऐसी आकृति, अपनी सम्पूर्ण विशेषताओं के साथ, सम्मुख अवश्य आ जानी चाहिये । और, जब ऐसा एक समग्र चित्र सामने आ जाता है, तब उसे ही 'शब्द' कहते हैं । स्पष्ट है कि यह परिभाषा 'शब्द' की तो है ही, किन्तु उसी 'शब्द' की जो हमें स्फोट-रूप में उपलब्ध होता है; उसकी नहीं, जो केवल वर्ण-ध्वनियों के संयोग से जन्म लेता है । इसीलिये पतंजलि ने कहा—**'प्रतीतपदार्थको हि ध्वनिः लोके शब्दः'**[1] । अर्थात्, 'जिससे किसी पदार्थ का सम्प्रत्यय या विनिश्चय हो उसे ध्वनि को 'शब्द' कहते हैं ।' भर्तृहरि अपनी त्रिपदी टीका में इस सत्य को अधिक स्पष्ट करते हैं :

'ननु च ध्वनिः शब्दगुणः, एवं ह्युक्तं, स्फोटः शब्दो, ध्वनिस्तस्य व्यायामादुपजायत इति। उच्यते द्रव्यादयो न भवन्ति शब्दाः । एवंपरायां चोदनायां ध्वनिशब्दयोरन्यत्वे प्रयोजनाभावात्, एकत्वेन व्यपदेशः ।' (त्रिपदी टीका १.१.१) ।

अर्थात् 'ध्वनि' शब्द न होकर, शब्द का गुण है । वस्तुतः शब्द प्रकट होता है 'स्फोट'-रूप में । 'ध्वनि' है उस शब्द का ही औत्पत्तिक-विस्तार । व्यावहारिक दृष्टि से ध्वनि और शब्द में भेद न होने से उन्हें एक भी कह दिया जाता है अतः, भर्तृहरि की दृष्टि में, श्रोता को स्फोट के रूप में शब्द की उपलब्धि होती है । इस बात को ही उन्होंने 'अर्थ' की व्याख्या करते हुए भी कहा है—

यस्मिंस्तूच्चरिते शब्दे यदा योऽर्थः प्रतीयते ।
तमाहुरर्थं तस्यैव नान्यदर्थस्य लक्षणम् ॥ वा० २.३३० ।

इस प्रकार उच्चारण के समकाल ही 'प्रतीति' या 'प्रत्यय' होना, अर्थ और शब्द दोनों की, पहचान की आवश्यक शर्त है । इसे ही वस्तुतः 'स्फोट' कहा जाता है । 'स्फोट' की इस 'समकालिकता' के कारण ही शब्द की दीर्घता या ह्रस्वता—अथवा वाक्य की दीर्घता या ह्रस्वता—का उन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता । 'स्फोट' की उपलब्धि के बाद श्रोता के मन में एक प्रक्रिया सी चल पड़ती है—शब्द की आन्तरिकता तक पहुँचने के लिये ! परन्तु, वह प्रक्रिया स्फोट का विषय नहीं । फिर भी स्फोट से वह सम्बद्ध अवश्य है । स्फोट जो चित्र प्रस्तुत करता है, वह समग्र एवं पूर्ण होता है । किन्तु क्षण-प्रभ होने के कारण हम उसके विस्तारों में नहीं जा सकते । स्फोट के उस

---

१. महा० १.१.१.

चित्र की उपलब्धि के बाद हम उस चित्र की व्यष्टिगत विशेषताओं को पाने के लिये बढ़ते हैं। ये व्यष्टिगत विशेषताओं को पाने के लिए बढ़ते हैं । ये व्यक्तिगत विशेषताएँ **अर्थ-विस्तार** कहलाती हैं। हम इन्हें **ध्वनि विस्तार** भी कह सकते हैं । भर्तृहरि ने इन्हें **ध्वनयः** माना है । 'शब्द-सन्तान' या अर्थ-विस्तार की यह भावना स्फोट की उपलब्धि के बाद ही होती है—

> **स्फोटादेवोपजायन्ते ।।** वा० १.१०५ ।।
> **अल्पे महति वा शब्दे स्फोटकालो न भिद्यते ।**
> **परस्तु शब्दसन्तानः प्रचयापचयात्मकः ।।** वा० १०३ ।।

'नाद' वाह्येन्द्रिय का विषय है । यह सहसोद्भूत स्फोट 'प्राणचेतना' का विषय माना जायेगा।

५५. ध्वनि – स्फोट की उपलब्धि के बाद आरम्भ होने वाला अर्थ-विस्तार या ध्वनिविस्तार, वस्तुतः, **चिन्तन** का प्रतिरूप ही है । **उच्चारण प्रक्रिया में जो स्थान चिन्तन का है, वही स्थान ग्रहण में इस अर्थ-विस्तार या ध्वनि का है ।** 'स्फोट' को हमने अर्थ का 'जाति-रूप' कहा । ध्वनि को हम अर्थ का 'व्यक्ति-रूप' कह सकते हैं । 'गौ है' – इस प्रतीति के बाद ही अन्वय-व्यतिरेक आदि का प्रश्न उठता है । इसीलिए 'स्फोट' की जात्यात्मक अभिव्यक्ति के बाद वस्तु-गत व्यक्ति-वैशिष्ट्य की विवेचना की सामर्थ्य जग जाती है । इसे ही भर्तृहरि ने इस प्रकार कहा है—

> **परस्तु शब्दसन्तानः प्रचयापचयात्मकः ।।** वा० १. १०३ ।।
> **अनेकव्यक्त्यभिव्यंग्या जातिः स्फोट इति स्मृता ।।**
> **कैश्चिद् व्यक्तय एवाऽस्याः ध्वनित्वेन प्रकल्पिताः ।।** वा० १. ९३ ।।
> **अनवस्थितकम्पेऽपि करणे ध्वनयोऽपरे ।**
> **स्फोटादेवोपजायन्ते ज्वाला ज्वालान्तरादिव ।।** वा० १. १०५ ।।

स्फोट की उत्तरकालीन अवस्था के वर्णन के कारण तीनों उक्तियों का अर्थ एक साथ पढ़ने से अधिक स्पष्ट हो सकेगा । जिसे प्रथम उद्धरण में **शब्दसन्तानः** कहा गया है, उसे ही द्वितीय में **व्यक्तयः** और तृतीय में **स्फोटादेवोपजायन्ते** कहा गया है । ये तीनों बातें एक ही अवस्था की परिचायक हैं : **स्फोटोत्तर अवस्था** । अतः इन तीनों वाक्यों से ही हम उस अवस्था (ध्वनि) की विशेषताएँ जान सकते हैं। ये विशेषताएँ हैं : (क) **अर्थ का अधिकाधिक विस्तार** (ख) **प्रतीत पदार्थ की व्यक्तिसूचक विशेषताओं की उत्तरोत्तर स्पष्टता, तथा** (ग) **इस स्पष्टीकरण की प्रक्रिया का नादोत्तर स्फोट के बाद आरम्भ होना ।** इन तीनों विशेषताओं वाली इस अवस्था को भर्तृहरि ने **ध्वनि** कहा है । ऊपर 'नाद' से इसका भेद स्पष्ट किया जा चुका है । इसे हम स्फोट की 'प्रतिध्वनि' कहें तो अधिक उचित होगा ।[1]

---

१. **तुलनीय, डॉ० द्विवेदी का यही मत, 'अर्थ० व्याक०' पृष्ठ १७-१८ पर ।**

५६. आलंकारिकों की 'ध्वनि' से भेद – यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना अभीष्ट होगा कि यह 'ध्वनि' आलंकारिकों की 'ध्वनि' से भी भिन्न है। वहाँ शब्द की, अभिधा, लक्षणा और व्यंजना नाम की तीन (या तात्पर्या सहित चार) शब्द-शक्तियों की कल्पना के बाद, 'ध्वनि' को सबसे उत्कृष्ट और पृथक् शक्ति के रूप में स्वीकार किया गया है। इतना ही नहीं, कुछ ने इसे शब्द-शक्तियों से स्वतन्त्र[1] मानते हुए इसी के, वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य आदि के रूप में, अनेक भेद स्वीकार किये।[2] इसके अतिरिक्त इसे 'रस' के समकक्ष भी स्वीकार किया गया। परन्तु, फिर भी एक विशेषता इस अवस्था की उन सबने ही स्वीकार की : **अर्थ की खोजभरी एक अनिश्चयात्मक स्थिति, जिसके अन्तर्गत उत्तरोत्तर अर्थ-स्पष्टता सामने आती जाती है।** यह स्थिति देखने में भर्तृहरि की ध्वनि-सम्बन्धी धारणा से मिलती-जुलती है। पर, यह बात स्पष्ट समझ लेनी चाहिये कि भर्तृहरि की ध्वनि-सम्बन्धी धारणा, आलंकारिकों की तत्सम्बन्धी धारणा से, सर्वथा भिन्न है। भर्तृहरि की धारणा में, इस प्रसंग में, शब्दशक्तियों को कोई स्थान नहीं है। सत्य तो यह है कि उसकी धारणा में शब्द-शक्तियाँ कहीं भी सत्ता रखती ही प्रतीत नहीं होतीं। कम से कम उनकी चर्चा में 'ध्वनि' का कोई भी प्रसंग नहीं आता।

५७. ध्वनि और वृत्तिभेद – फिर भी भर्तृहरि के कुछ आलोचकों और समीक्षकों ने, **ध्वनि और स्फोट** की तुलना करते हुए ध्वनि को 'नाद' का उपकरण ही माना है।[3] परन्तु, इसी अध्याय के ५०वें अनुच्छेद में स्पष्ट किया जा चुका है कि **वैकृत ध्वनि** का सम्बन्ध **वृत्तिभेद** से है। 'वृत्ति' का सम्बन्ध **अर्थ-भावना** से है।[4] कुछ उसे, अन्यथा ले जाकर, शब्द-शक्तियों से सम्बद्ध कर बैठते हैं। कुछ भी हो, दोनों स्थितियों में 'वृत्ति' का सम्बन्ध अर्थ-भावना से ही है। ऐसी स्थिति में वैकृत ध्वनि का अर्थ काकु ही लेना चाहिए। तब क्या वृत्तिभेद में केवल 'काकु' ही समर्थ होती है ? पाणिनि और पतंजलि ने **कृत्तद्धितसमासाश्च**[5] में भी इसी 'वृत्तिभेद' का स्वीकार किया है। 'काकु' भौतिक और यान्त्रिक है, जबकि 'कृत्तद्धितसमास' की प्रक्रिया बौद्धिक है। 'काकु' का प्रयोग भी बुद्धि-प्रेरित और अर्थ-प्रेरित ही होता है। अतः निश्चित है कि वृत्तिभेद में सामान्य 'ध्वनि' ही समर्थ नहीं होती, जब तक उसके साथ अर्थभावना सम्बद्ध न हो। और, अर्थ-भावना से सम्बद्ध होते ही, उसे यान्त्रिक और भौतिक ध्वनि से भिन्न मानना होगा। अन्यथा 'ध्वनयः समुपोहन्ते, स्फोटात्मा तैर्न भिद्यते'[6] कहना व्यर्थ हो जायेगा। इसकी स्पष्टता के लिए हमें भर्तृहरि की निम्न उक्ति समझनी होगी :

---

१. वा० १. ८१.
२. ध्वन्यालोक, प्रथम उल्लास।
३. 'अर्थ० व्याक०' पृ० ६२।
४. नागेश भट्ट आदि।
५. पा० १. २. ४६; यहाँ सामान्य शब्दों से इन्हें अलग गिनने की ओर संकेत है।
६. वा० १. ७७.

तस्मादभिन्नकालेषु वर्णवाक्यपदादिषु ।
वृत्तिकालः स्वकालश्च नादभेदाद्विभज्यते ।। वा० १. १०१ ।।

यहाँ **स्वकाल** का अर्थ है **स्फोटकाल** या 'शब्दकाल', और **वृत्तिकाल** का अर्थ है भावना, अर्थविस्तार, या चिन्तन का काल । स्वभावतः स्फोट के बाद ही यह स्थिति आती है । प्रसिद्ध काव्यशास्त्री भट्ट नायक ने, 'साधारणीकरण-सिद्धान्त' की व्याख्या, में **अभिधा** और **भावना** की जो कल्पना की है, वहाँ उन्हें स्पष्टतः भर्तृहरि के स्फोट और ध्वनि के प्रतिनिधि कहा जा सकता है । ध्वनि स्फोट में उपलब्ध रूप के क्रमिक विभाजन से ही प्राप्त होती है । यह बात भर्तृहरि ने अन्यत्र भी स्पष्ट की है : **स्फोटरूपविभागेन ध्वनेर्ग्रहणमिष्यते** (वा० १. ८१) ।

५८. **विविध मत** — यहाँ ध्वनि-सम्बन्धी विविध मतों पर भी विचार कर लेना सावसर प्रतीत होता है । भर्तृहरि ने प्रायः अनेक विवादों का उल्लेख किया है । **एक** मत के अनुसार ध्वनि केवल **इन्द्रिय के संस्कार** में ही समर्थ होती है । स्पष्टतः यह मत **काकु** और तज्जन्य **वक्रोक्ति** को 'ध्वनि' का ही पर्याय समझता है । **दूसरे** मत के अनुसार 'ध्वनि' शब्द में ही संस्कार ला देती है । स्पष्ट है कि यहाँ **शब्द-संस्कार** का अर्थ केवल स्वर-विकृतिजन्य उच्चारणात्मक अन्तर से नहीं है । शब्द के संस्कार का अर्थं अर्थ है 'अर्थ का संस्कार' । अर्थ का संस्कार जिस **ध्वनि** से होता है, वह है वक्ता की प्रच्छन्न **प्रयोग-भावना** । उसके कारण ही शब्द भी कुछ अन्य ही प्रतीत होने लगता है । **तीसरा** मत उक्त दोनों मतों के सामंजस्य से बना है :

इन्द्रियस्यैव संस्कारः, शब्दस्यैवोभयस्य वा ।
क्रियते ध्वनिभिः, वादास्त्रयोऽभिव्यक्तिवादिनाम् ।। वा० १. ७८ ।।

इन तीन मतों के अतिरिक्त ध्वनि की स्थिति के सम्बन्ध में अन्य भी दो मत हैं । **एक** मत के अनुसार ध्वनि, स्फोट से पृथक्, प्रत्यक्ष अनुभूति का विषय नहीं है । **दूसरे** मत के अनुसार 'ध्वनि' की स्फोट से सर्वथा भिन्न और स्वतन्त्र सत्ता है ।

कैश्चिद्ध्वनिरसंवेद्यः स्वतन्त्रोऽन्यैः प्रकल्पितः ।। वा० १. ८२ ।।

और, यही वह ध्वनि है, जिससे 'शब्द' पूर्ण प्रकाशित होकर 'स्वरूप' ग्रहण में स्वतन्त्र होता है, पर जो 'नाद' से सर्वथा भिन्न है ।

प्रत्ययैरनुपाख्येयैः ग्रहणाऽनुगुणैस्तथा ।
ध्वनिप्रकाशिते शब्दे स्वरूपमवधार्यते ।। वा० १. ८३ ।।
नादैराहितबीजायामन्त्येन ध्वनिना सह ।
आवृत्तपरिपाकायां बुद्धौ, शब्दोऽवधार्यते ।। वा० १. ८४ ।।

अर्थात्, 'स्पष्ट, किन्तु ग्रहण-योग्य, प्रतीतियों से सम्पुष्ट ध्वनि जब किसी शब्द के वास्तविक रहस्य का उद्घाटन कर देती है, तब, उस दशा में ही, शब्द का वास्तविक स्वरूप

(उसकी अन्तर्भावना) स्थिर व निश्चित हो जाती है। नाद जिस 'स्फोट' रूपी बीज को बुद्धि में डालते हैं, वह 'ध्वनियों' की सहायता से, पुनः-पुनः चिन्तन-जन्य आवृत्ति के द्वारा, परिपक्व बुद्धि में स्थिरता व निश्चयात्मकता को पाने में समर्थ होता है।' परन्तु, इसका अर्थ यह नहीं कि 'ध्वनि' किसी अविद्यमान शब्द या अर्थ का उद्‌घाटन करती है। अविद्यमान अर्थ सम्बन्धी ऐसी कल्पना किसी शब्द-शक्ति के कारण नहीं, बल्कि समझने वाले की अशक्ति के कारण ही जग सकती है।

असतश्चान्तराले यान् शब्दानस्तीति मन्यते।
प्रतिपत्तुरशक्तिः सा, ग्रहणोपाय एव सः ॥ वा० १. ८५ ॥

'गौ' में स्फोट द्वारा जो सास्नालांगूलादिविशिष्ट प्राणी का युगपत् बोध हुआ, **ध्वनि** द्वारा उसमें सास्नालांगूलादि विशिष्ट चिन्हों का प्रत्यय होता है। इस प्रकार इस अवस्था में विशेष प्राणी की विशिष्टता का बोध होता है।

५९. 'स्वरूप' और शब्द का 'बाह्य रूप' — और तब आता है 'स्वरूप': शब्द-ज्ञान का अन्तिम ध्येय। यह 'स्वरूप' भी कम विवादास्पद नहीं है। कुछ आलोचकों ने शब्द के बाह्यरूप या आकृति को ही 'स्वरूप' माना है, जबकि कुछ ने उसकी **मूल-भावना** या बुद्धिस्थ भावना को 'स्वरूप' माना है। जो शब्द को बाह्यरूपमात्र मानते हैं, उन्होंने 'स्वरूप' को भी बाह्य ही स्वीकार किया है।

'यो वाऽर्थो बुद्धिविषयो बाह्यवस्तु निबन्धनः।
स बाह्यवस्त्विति ज्ञातः शब्दार्थः कैश्चिदिष्यते ॥ वा० २.१३४।'

अपनी त्रिपदी टीका में एक स्थान पर भर्तृहरि कहते हैं: **कथं शब्दोपदेशः इष्टान्वाख्यानमुच्यते, यदि तद्‌गुणमुपलभ्यते इति; एवं गौरित्यथायं शब्दो गोत्वे प्रतिलभ्यं स्वरूपं तदधिष्ठान एव द्रव्ये प्रवर्त्तते।**[1] अर्थात्, 'शब्द की उपलब्धि उसके गुण की उपलब्धि में ही है। 'गौ' शब्द का स्वरूप उसके 'गोत्व' में पाया जा सकता है। इसीलिए जिसमें 'गोत्व' (गौ की प्रतीति) होती है, उस द्रव्य को ही 'गौ' कह दिया जाता है।' स्पष्ट है कि पतंजलि की भाँति भर्तृहरि भी स्पष्ट कर देते हैं कि न तो आकृति शब्द है, न द्रव्य; प्रत्युत 'शब्द' वह है जिससे किसी विशिष्ट लक्षणमय द्रव्य या आकृति की प्रतीति हो।[2] अतः भर्तृहरि की दृष्टि में 'स्वरूप' कभी शब्द या द्रव्य की बाह्य आकृति से सम्बद्ध नहीं माना सकता।

६०. स्वरूप और अभिधेय — 'स्वरूप' को स्पष्ट समझने के लिये हमें भर्तृहरि की इस उक्ति पर ध्यान देना होगा:

---

१. त्रिपदी टी० १.१.१

२. येनोच्चारितेनेह, (महा० १.१.१) की तुलना भर्तृहरि के यस्मिंस्तूच्चरिते० (वा० २.३३०) से करें।

आद्यः करणविन्यासः प्राणस्योर्ध्वं समीरणम् ।
स्थानानामभिघातश्च न विना शब्दभावनाम् ॥ वा० १.१२१ ॥

अर्थात्, 'शब्द-भावना न हो तो शब्द की उत्पत्ति या तत्सम्बद्ध प्रक्रिया ही आरम्भ नहीं हो सकती ।' शब्द-भावना को हम अभिधेय या अभिप्रेत वस्तु कह सकते हैं । शब्द के सृजन का उद्देश्य अपूर्ण रहेगा, यदि अभिधेय ही पूर्ण स्पष्ट न हो सका । इसे भर्तृहरि इस प्रकार कहते हैं :

अथाऽयमान्तरो ज्ञाता सूक्ष्मे वागात्मनि स्थितः ।
व्यक्तये स्वस्य रूपस्य शब्दत्वेन विवर्तते ॥ वा० १.११० ॥

शब्द तो है एक माध्यम : उस 'रूप' की अभिव्यक्ति का, जो वागात्मा में स्थित बुद्धि का 'स्व' है । 'शब्द' को सुनकर जो उसके बाहरी रूप में ही पूर्णता मान लेता है, वह उसके अन्तर तक नहीं पहुँच सकता । इसीलिये ऋग्वेद में कहा गया—

उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम् । ऋ० १०.७१.४॥

शब्द की आकृति या ध्वनिमात्र के परिचय से ही शब्द का 'स्वरूप' स्पष्ट नहीं हो जाता । शब्द या उसका उच्चारण तो है प्रकाशक । किन्तु प्रकाशक है वह भावना जो उसके मूल में है – जो उसका अभिधेय है । 'प्रकाशक' से 'प्रकाश्य' का सम्बन्ध स्वाभाविक है : प्रकाशकानां भेदांश्च प्रकाश्योऽर्थोऽनुवर्तते (वा० १.९८)।

यह अभिधेय या स्वरूप ही श्रोता के लिये प्रतिपाद्य होता है ।

६१. **स्वरूप ही बुद्ध्यर्थ** – इस 'स्वरूप' को हम 'बुद्ध्यर्थ भी कह सकते हैं । भर्तृहरि ने शब्द का 'स्वरूप' या वास्तविक रूप बुद्धिस्थ माना है । श्रुति-रूप शब्द उससे ही जन्म लेता है । तद्वच्छब्दोऽपि बुद्धिस्थः श्रुतीनां कारणं पृथक् (वा०१.४६)।
शब्द का वास्तविक धारण भी बुद्धि में ही होता है। यह धारण 'स्वरूप' में ही होता है :

आवृत्तपरिपाकायां बुद्धौ शब्दोऽवधार्यते ॥ वा० १.८४ ॥
ध्वनिप्रकाशिते शब्दे स्वरूपमवधार्यते ॥ वा० १.८३ ॥

अर्थात्, 'शब्द का उच्चरित रूप ध्वनिमात्र ही गिना जाता है, यदि उसका 'स्वरूप' व्यक्त न हो जाय । स्वरूप इसी ध्वनिमय आकार के पीछे छिपा रहता है । ग्रहण की वेला में, 'ध्वनि' के पुनः-पुनः चिन्तनजन्य परिपाक के कारण ही, यह 'स्वरूप' श्रोता की बुद्धि में स्थिर होता है ।' इस बुद्ध्यर्थ से प्रेरित होकर ही वक्ता शब्दोच्चारण करता है, तथा इस बुद्ध्यर्थ को पा लेना ही श्रोता का लक्ष्य रहता है ।[1] वाणी का अभिधेय और प्रतिपाद्य यही 'बुद्ध्यर्थ' या 'स्वरूप' है। इसे पा लेने में ही 'वाक्' की पूर्णता है, सार्थकता है : बुद्ध्यर्थादेव बुद्ध्यर्थे जाते तदपि दृश्यते (वा० ३.३.३३)।

६२. **स्वरूप : संशय से परे**—यहाँ 'स्वरूप' का अर्थ और ज्ञान से पारस्परिक भेद देख

---
१ वा० १.५३

लेना भी उचित होगा। 'सम्बन्ध-समुद्देश' में भर्तृहरि कहते हैं—

ज्ञानं प्रयोक्तुर्बाह्योऽर्थः स्वरूपं च प्रतीयते।
शब्दैरुच्चारितैस्तेषां सम्बन्धः समवस्थितः ॥ वा० ३.३.१ ॥
प्रतिपत्तिर्भवत्यर्थे ज्ञाने वा संशयः क्वचित्।
स्वरूपेषूपलब्धेषु व्यभिचारो न विद्यते ॥ वा० ३.३.२ ॥

यहाँ 'ज्ञान,' 'बाह्यार्थ' और 'स्वरूप' तीन वस्तु अलग-अलग स्वीकार की गई हैं। **अर्थ** की प्राप्ति हो सकती है अथवा उसके विनिश्चयात्मक **ज्ञान** में कहीं सन्देह भी उत्पन्न हो जाता है। किन्तु, अर्थ और ज्ञान की संशयापन्न स्थिति से परे **स्वरूप** की स्थिति है, जिसकी उपलब्धि के बाद अर्थ व ज्ञान सम्बन्धी कोई भी संशय या व्यभिचार शेष नहीं रह जाता। **स्वरूप** की इतनी सरल व्याख्या के बाद भी आलोचकों ने इसे शब्द के बाह्य-रूप से अभिन्न माना है।[१] भर्तृहरि को समझने में वे स्पष्टतः असमर्थ रहे हैं।

६३. समान प्रक्रिया — इस प्रकार यदि हम कहें तो वक्ता और ग्रहीता (श्रोतादि) में एक समान ही प्रक्रिया 'उच्चारण' व ग्रहण की वेला में होती है। अन्तर है क्रम का। वक्ता अपनी आत्मा के अर्थ को अभिव्यक्ति देना चाहता है और उसकी प्रक्रिया समाप्त होती है 'वैखरी' या 'ध्वन्यात्मक उच्चारण' पर। किन्तु, श्रोता के सम्पर्क में सर्वप्रथम आती है 'बाह्य ध्वनि' (वैखरी-जन्य), जो 'नाद' बनकर उसकी कर्णेन्द्रिय का विषय बनती है। वहाँ से स्फोट और ध्वनि के क्रम से अन्ततः वह बुद्धि और आत्मा के क्षेत्र में पहुँचता है जहाँ, स्वरूप या बुद्धचर्थ की उपलब्धि के बाद, श्रोता की जिज्ञासा पूर्ण होती है : **वह प्रतिपाद्य को पा लेता है।** वक्ता में ये चरण हैं—**वक्ता की इच्छा, मनोभाव, शब्दाकृति (प्रयत्न) व अभिव्यक्ति (उच्चारण)**। श्रोता में ये चरण हैं—**नाद, स्फोट, ध्वनि और स्वरूप**। वक्ता में आत्मा, मन प्राण, व मुख के माध्यम से अभिव्यक्ति पूर्ण होती है। श्रोता में माध्यम बनते हैं— कर्णेन्द्रिय, प्राण, मन, व आत्मा।

६४. प्राण का केन्द्र — आज के शरीर क्रियाविज्ञान में मस्तिष्क में उच्चारण केन्द्र, श्रवण केन्द्र एवं विचारकेन्द्र माने गये हैं। बाह्येन्द्रियाँ भी स्पष्टतः वहाँ अंग बन जाती हैं। किन्तु, 'प्राण' की धारणा प्रायः श्वाससंस्थान में केन्द्रित मान ली गई है। किन्तु पूर्वोक्त विचार के अनुसार प्राण को, उत्तेजना के केन्द्र के रूप में, **सद्यः-चेतना-केन्द्र या सक्रियता केन्द्र** स्वीकार किया जाना चाहिये।[२] तभी हम कह सकेंगे कि भाषा, दो व्यक्तियों या बुद्धियों के बीच आदान-प्रदान की प्रक्रिया है।[३]

---

१. अर्थ० व्याक० पृ० ७०।
२. आयुर्वेद में 'वातसंस्थान' से स्नायु-संस्थान और श्वास-स्वरसंस्थान का ग्रहण होता है।
३. वा० ३.३.३३.

वाक् की इकाई

६५. **विविध मत** – वाक् की इकाई का प्रश्न अत्यन्त उलझा हुआ है। इस पर आरम्भ से ही विचार-विमर्श होता रहा है, किन्तु इस दिशा में अब तक भी मतैक्य नहीं पाया जाता। वाक्-सम्बन्धी दृष्टिकोणों की विविधता के अनुसार इस विषय में भी दृष्टि-वैविध्य रहा है। किसी ने भौतिक और शारीरिक दृष्टि से विचार किया, तो किसी का दृष्टिकोण शुद्ध व्यावहारिक या फिर दार्शनिक आधार पर टिका रहा। **दर्शन और व्यवहार** में अन्तर देखने का ही परिणाम था कि सबके परिणाम भिन्न-भिन्न रहे। अपनी ओर से प्रत्येक विचारक ने अपने परिणामों को व्यावहारिक उदाहरणों से सम्पुष्ट करना चाहा, किन्तु उन सब में समस्या के प्रति एक समग्र दृष्टि का अभाव था। **एक ओर, वर्णों का अर्थ होता है**—इस धारणा को लेकर प्रत्येक वर्ण-ध्वनि का कुछ-न-कुछ अर्थ निश्चित किया गया। **दूसरी ओर, 'पद-प्रयोग होता ही पद को इकाई मानने के कारण है**—ऐसा निर्णय करके, पदों के चार या पाँच विभाग मान कर, समस्त 'वाक्' को पद-निबद्ध मान लिया गया। एक अन्य मत के अनुसार किसी भी शब्द का कोई अर्थ नहीं होता, बल्कि वे अपनी निषेधात्मक या प्रतीकात्मक शक्तियों द्वारा कार्य करते हैं—ऐसा मान कर शब्दों की अनर्थकता का उद्घोष किया गया। किन्तु, एक अन्य भी विचारधारा आरम्भ से ही चलती आई थी – **वाक् का उद्देश्य है अभिधेय की अभिव्यक्ति; इसलिए अभिधेय की इकाई – वाक्य – को ही 'वाक् की इकाई' मानना उचित होगा।** इस धारणा ने पहली समस्त धारणाओं का खण्डन ही नहीं किया, बल्कि सोचने की एक समग्र दृष्टि भी प्रस्तुत की। कुछ ऐसे भी थे जिन्होंने, इस समग्र दृष्टि को पाकर भी, पद-सम्बन्धी खण्ड-दृष्टि को एकदम अस्वीकार करने में हिचकिचाहट दिखाई।

वर्तमान भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन में भी आरम्भ से ही इस विषय पर विचार होता रहा है। इस सम्बन्ध में अब तक जो अध्ययन सामने आए हैं, उनके परिणामस्वरूप प्रायः दो ही मत स्वीकार किये हैं। **एक** के अनुसार **शब्द** भाषा की इकाई है। **दूसरा, वाक्य** को भाषा की इकाई स्वीकार करता है। भर्तृहरि को हम पूर्व उल्लिखित समग्र-दृष्टि का उद्घोषक कह सकते हैं। उन्होंने स्पष्टतः वाक्य को **भाषा की इकाई** घोषित किया, और पद या वर्ण-सम्बन्धी एतद्विषयक धारणाओं का सैद्धान्तिक, दार्शनिक एवं व्यावहारिक आधार पर विरोध किया। 'पद' के स्वरूप को स्पष्टतः

समझाने के बाद उनका कहना है – 'अ-पद में पद-कल्पना[1], अ-क्रम में क्रम-कल्पना[2], तथा निर्भाग में भाग-भेद की बुद्धि[3] केवल व्यावहारिकता के आधार पर कल्पित हैं ।[4] उसका सत्य से कोई सम्बन्ध नहीं ।'

६६. **विचार परम्परा : निरुक्त और महाभाष्य**—इस विषयक विचार-परम्परा यास्क के निरुक्त से भी बहुत पहले आरम्भ हो चुकी थी । 'निरुक्त' में सर्वप्रथम हमें **वाणी की अनर्थकता** के सिद्धान्त के दर्शन होते हैं । निरुक्तकार ने इस मत का उल्लेख वाणी की सार्थकता और वचन की नित्यता को सिद्ध करते हुए किया है । पदों के चार प्रकारों का उल्लेख करने के बाद वे कहते हैं – **इन्द्रियनित्यं वचनमौदुम्बरायणः ; तत्र चतुष्ट्वं नोपपद्यते ; अयुगपदुत्पन्नानां वा शब्दानामितरेतरोपदेशः** (नि० १.२. १७. १-२.) इसमें औदुम्बरायण की उस धारणा का उल्लेख है, जिसके अनुसार वाग्व्यापार केवल 'ऐन्द्रियक' प्रक्रिया स्वीकार किया गया है। 'वाक्' की अति-भौतिक सत्ता को स्वीकार न करने के कारण ही 'वचन' या 'वाक्' को 'इन्द्रियनित्य' स्वीकार किया गया । जब इन्द्रिय से उच्चरित होते ही ध्वनि के क्षीण पड़ने के साथ-साथ उत्पन्न 'वाक्' ने भी मिट जाना है, तब उसके किसी भी अंश —**वर्ण, पद, वाक्यादि**—की सत्ता नित्य कैसे मानी जा सकती है ? यदि 'वाक्' या उसकी प्रत्येक ध्वनि ने बार-बार उत्पन्न होना और मिटना है, तथा यदि उसकी कोई भी भावात्मक सत्ता नहीं है, तब पदों की संख्या 'चार' कैसे सीमित की जाए ? एक साथ उत्पन्न न होने वाले शब्दों की भी व्याख्या एक दूसरे से नहीं की जा सकती ।

न हि वर्णानां पौर्वापर्यमस्ति । किं कारणम् ? एकवर्णवर्तित्वाद्वाचः, उच्चरितप्रध्वंसितत्वाच्च वर्णानाम् । एकैकवर्ण वर्तिनी वाक्, न द्वौ युगपदुच्चारयतीति गौरिति गकारे यावद्वाग्वर्तते, नौकारे न विसर्जनीये। यावदौकारे, न गकारे विसर्जनीये । यावद्विसर्जनीये, न गकारे नौकारे । उच्चरितप्रध्वंसितत्वात् । उच्चरितप्रध्वंसिनः खल्वपिवर्णाः । उच्चरितः प्रध्वस्तः । अथापरः प्रयुज्यते । न वर्णो वर्णस्य सहायः । (महाभाष्यसूत्र १. ४.१०६) ।

अर्थात् वर्णों में पूर्वापर भाव नहीं होता । कारण यह है कि वाणी से एक समय में एक वर्ण का उच्चारण ही सम्भव होता है । फिर, वर्ण उच्चारण के तुरन्त बाद ही मिट जाते हैं । वाणी से दो वर्णों की समकालिक उत्पत्ति कभी सम्भव नहीं हो सकती 'गौः' में 'ग्', 'औ' और ':' को क्रमशः उच्चारण करते हुए किसी एक के रहते शेष दो वर्णों की सत्ता नहीं रहती । जब तक हम दूसरी ध्वनि बोलने लगते हैं, तब तक पहली ध्वनि मिट चुकी होती है, और तब तक अगली ध्वनि उत्पन्न न होने से गिनी

---

१. **'अपदेऽर्थे पदन्यासः०'** (वा० ३.३.७६) । २. **'अक्रमे क्रमनिर्भासि०'** (वा० २.३३१) ।
३. **'निर्भागेष्वभ्युपायो वा०'** (वा० १. ६३) ।
४. **'व्यवहारश्च लोकस्य पदार्थैः०'** (वा० ३. ३. ८६) ।

नहीं जा सकती। एक वर्ण के मिटने के बाद ही दूसरा प्रयुक्त होता है। इस प्रकार एक वर्ण दूसरे वर्ण के लिए किसी प्रकार भी सहायक नहीं हो सकता"।

पर, औदुम्बरायण की इस धारणा का कारण भर्तृहरि ने कुछ और ही बताया है। उसकी चर्चा हम ८३वें अनुच्छेद में करेंगे। वहाँ **वाक् की इकाई** की चर्चा है।

६७. **शब्द अनर्थक हैं** — ऐन्द्रियक उत्पत्ति एवं उसकी अनित्यता पर आधारित इस धारणा के अतिरिक्त एक और भी धारणा वाणी की अनर्थकता के सम्बन्ध में चली। 'मीमांसा' में इस धारणा का उल्लेख पूर्वपक्ष (समस्या) के रूप में हुआ है। इस धारणा से सम्बद्ध आचार्यों का विचार था : **'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमत-दर्थानां, तस्मादनित्यमित्युच्यते'** (मी० १. २०१), तथा **'अनित्यसंयोगामन्त्रानर्थक्यम्'** (मी० १. २. ३२)। अर्थात् 'वेदवचनों' या मन्त्रों को अनर्थक, और इसीलिए वाणी को अनित्य, ही मानना चाहिए।' इस बात के कारण अनेक गिनाए गये। इस युक्ति का उचित उत्तर तो मीमांसाकार ने ही दिया है। यहाँ इसके उल्लेख से यह इंगित करना भर अभीष्ट है कि बाद में चलकर बौद्ध दार्शनिकों ने जिस **अपोहवाद** के सिद्धान्त को जन्म दिया, वह उनकी कोई विशिष्ट देन न थी। बहुत पहले से ही—वैदिक परम्परा में भी—उस सम्बन्ध में धारणाएँ चल रही थीं। वेदवचनों के सम्बन्ध में इस प्रकार की उक्ति एक सहेतुक युक्तिक्रम का परिणाममात्र थीं। स्पष्ट है कि वेद-मन्त्रों की अनर्थकता की स्वीकृति का अर्थ है—'वाक्' की, किसी न किसी रूप में, अनर्थकता और इसीलिए अनित्यता को स्वीकार करना। 'चार्वाक-दर्शन' की भौतिक विचार पद्धति के क्रम में ही था—बौद्धों का 'अपोह-सिद्धान्त' ! इसके अनुसार शब्दों की अर्थात्मक सत्ता स्वीकार की गई। उनकी सत्ता **निषेधात्मकमात्र** स्वीकार की गई। बाद में मीमांसा-सिद्धान्तों की छानबीन के बाद उन्होंने शब्द में 'संकेतात्मक' सत्ता को भी स्वीकार किया। परन्तु उनकी मूलधारणा **वाणी की अनर्थकता पर ही आधारित** रही। अस्वभावतः वाणी की अनित्यता और अनर्थकता मानने वाले इन मतों की दृष्टि में **वाणी की इकाई** को मानने न मानने का प्रश्न ही नहीं उठता।

६८. **अर्थवत्ता: तीन मत** — एक ओर वाणी की अनित्यता और अनर्थकता के ये सिद्धान्त थे, दूसरी ओर इससे सर्वथा भिन्न एक और दृष्टिकोण पनप रहा था। **वाणी सार्थक है** — इस धारणा के समर्थकों ने **वाणी की इकाई** ढूँढने के विषय में जितनी सतर्कता दिखाई, वह उनकी गहरी पहुँच व वैज्ञानिक दृष्टि की सूचना देने में पर्याप्त है। उनके परिणामों को हम तीन वर्गों में बाँट सकते हैं। एक मत के अनुसार प्रत्येक वर्ण में एक निश्चित अर्थ रहता है। शब्दों या वाणी की अर्थवत्ता इस 'वर्ण' के अर्थ पर ही आधारित होती है। इस मत के अवान्तर भेदों के रूप में अनेक मत चले, जिनमें से एक के अनुसार **शब्द वर्णों का समूह होता, अतः उसका अर्थ भी उनके संघात-अर्थ आधारित** होता है। दूसरे मत के अनुसार **शब्दों या पदों का अर्थ पृथक्-पृथक् होता**

है। इस प्रकार वे स्वतन्त्र इकाई होते हैं। इस प्रकार की अनेक इकाइयों के मिलने से ही 'वाक्य' की रचना होती है। इस मत के अनुसार—**वाक्य पदों का संघातमात्र ठहरता है**। इस मत के अवान्तर भेद भी अनेकों हुए। एक के अनुसार **वाक्य का अर्थ पद-क्रम के अनुसार निश्चित होता है**। दूसरे के अनुसार **प्रत्येक पद वाक्य के खण्ड या भाग के रूप में कार्य करता है**। 'इकाई' के सम्बन्ध में **तीसरा** मत उन आलोचकों का है, जिन में वैयाकरण प्रमुख हैं तथा जिनकी दृष्टि में वाणी की इकाई 'वाक्य' ही हो सकती है, कुछ अन्य नहीं। उनकी दृष्टि में, **अर्थवत्तामात्र से ही वाणी की इकाई सिद्ध नहीं की जा सकती**। इस मत के भी कुछ अवान्तर भेद हुए। एक के अनुसार वाणी की इकाई 'समझ' पर आधारित रहती है (बुद्ध्यनुसंहृतिः)। दूसरे के अनुसार 'शब्द' या 'वाक्' अविच्छेद्य और अखण्डनीय है। इस प्रकार वर्ण, पद और वाक्य— ये तीनों ही—वाक् की इकाइयाँ सिद्ध की जाती हैं। कहा जा चुका है कि, भर्तृहरि की दृष्टि में 'वाक्य' ही इकाई है। किन्तु, यहाँ इस प्रसंग में हमें इन सभी मतों पर पृथक्-पृथक दृष्टि डालना आवश्यक व उचित होगा।

६९. **वर्णों में अर्थवत्ता की विविध युक्तियाँ** — वर्ण में अर्थ की सत्ता स्वीकार करने वाले जिन अनेक युक्तियों का आश्रय लेते हैं, उन सब से उनका ध्येय वर्ण को 'अर्थवान् इकाई' सिद्ध करना रहा है। उनके युक्तिक्रम को यहाँ हमें एक दृष्टि में देख लेना उचित होगा। युक्तिक्रम इस प्रकार है :—

१. वर्ण एक-एक करके उत्पन्न होते और मिटते जाते हैं, तथा उनसे शब्द या वाक्य-रचना का प्रश्न ही नहीं उठता। स्वभावतः अर्थ उनमें ही रह सकता है।[१]

२. एक-एक वर्ण वाले 'पद' या शब्द देखे गये हैं। वे स्वतन्त्र अर्थ का वहन करते हैं। प्रातिपदिक, धातु, निपात, उपसर्ग, प्रत्यय आदि एकवर्णात्मक होकर भी अर्थवान् हैं।[२]

३. किसी-किसी वर्ण के पलटते ही शब्द का अर्थ पलट जाता है, जैसे कूप, सूप, यूप आदि में।[३]

४. अनेक समान शब्दों में एक वर्ण की अनुपलब्धि के कारण पुराना अर्थ नहीं रहता, यथा वृक्ष-ऋक्ष में, तथा काण्डीर-आण्डीर में।[४]

---

१. **'एक वर्णवृत्तित्वाद्वाचः'...** (महा० १. ४. १०९)।

२. **'अर्थवन्तो वर्णा धातुप्रातिपदिकप्रत्ययनिपातानामेकवर्णानामर्थदर्शनात्'** (महा० १.१.२., वा० ५४.)।

३. **'वर्णव्यत्यये चार्थान्तरगमनात्'** (महाभाष्य १. १. २, वा० ५५.)।

४. **'वर्णानुपलब्धौ चानर्थगतेः'** (महाभाष्य १. १. २, वा० ५६)।

५. शब्द या पद वर्णों के संघात मात्र होते हैं। जब वर्ण-संघात में अर्थ रहता है, तब उसके अंशभूत वर्णों में वह क्यों सम्भव नहीं ? वस्तुतः वर्णों की अर्थवत्ता ही उन्हें परस्पर मिलकर शब्द बनाने के लिये प्रेरित करती है।[1]

इन तथा ऐसी ही अन्य युक्तियों का क्रमिक विश्लेषण अधिक उचित रहेगा।

७०. **वर्ण-पृथक्ता की युक्ति**—जहाँ तक पहली युक्ति का प्रश्न है, इसके दो पहलू विचारणीय हैं : **ध्वन्यात्मक** एवं **अर्थात्मक**। **ध्वन्यात्मक** पहलू पर विचार करने से स्पष्ट होगा कि हम जिसे, 'वर्ण' के रूप में, इकाई मान बैठे हैं, उसका स्वतन्त्र उच्चारण सर्वत्र सम्भव नहीं है। वैज्ञानिक यन्त्रों की सहायता से हम भले ही उनका स्वतन्त्र उच्चारण सिद्ध कर सकते हैं, किन्तु व्यवहार में उनमें से अधिकांश किसी न किसी अन्य वर्ण के सहयोग से ही अभिव्यक्ति पाते हैं। फिर, बहुत पहले से ही ध्वनियों को इन्द्रिय-नित्य या ध्वनि-नित्य नहीं माना गया। उन्हें भी अनन्त व नित्य स्वीकार किया गया है। इसके दो उत्तर दिये जाते हैं। **एक ओर** निरुक्त की **व्याप्तिमत्वात्तु शब्दस्य**[2] की युक्ति के द्वारा वर्ण की नित्यता, भौतिक व सत्तात्मक रूप में, स्वीकार की जाती है। **दूसरी ओर**, महाभाष्यकार वर्ण को बुद्धिस्थ मान कर उसकी नित्यता की युक्ति देते हैं : **बुद्धिविषयमेव शब्दानां पौर्वापर्यम् ; इह य एव मनुष्यः प्रेक्षापूर्वकारी भवति स पश्यति अस्मिन्नर्थेऽयं शब्दः प्रयोक्तव्यः ; अस्मिंस्तावच्छब्दे अयं तावद्वर्णः ; ततोऽयं ततोऽयमिति'** (महा० १. ४. १०९)। इस प्रकार शब्द के समान वर्ण भी बुद्धिस्थ होने के कारण नित्य ही है, क्योंकि ध्वनि तो उसकी अभिव्यक्ति का माध्यम मात्र रह जाती है। ध्वनि स्वयं वर्ण नहीं है। बुद्धि में कोई भी वर्ण किसी भी वर्ण से मिलकर रह सकता है, क्योंकि वहाँ सह-स्थिति सम्भव है। **अर्थात्मक दृष्टि** से भी इस युक्ति का महत्व नहीं रह जाता है। जब वर्ण को हमने बुद्धिस्थ मान ही लिया, तब उस की पृथक्-उत्पत्ति एवं सद्यो-विनाश का प्रश्न ही नहीं उठता। फिर, इस प्रश्न में सार ही नहीं रह जाता कि वर्णों की उत्पत्ति एक-एक करके होती है अथवा एक साथ ही ही ? वस्तुतः इस प्रकार की कल्पना का एक ही आधार माना जा सकता है : मानव ने जब भी बोलना आरम्भ किया, पहले-पहल उसने अस्पष्ट या स्पष्ट ध्वनियों का ही पृथक्-पृथक् उच्चारण किया होगा। वे ध्वनियाँ ही, बाद में, उसके व्यक्तिगत संकेतों को वहन करने लगीं। धीरे-धीरे शब्दों का विकास होने पर वे ध्वनियाँ किसी न किसी रूप में प्रातिपदिक, धातु, निपात आदि रूप में—अवशिष्ट रह गईं। इस प्रकार वर्ण-

१. 'संघातार्थवत्वाच्च' (महाभाष्य १. १. २, वा० ५७.)। २. निरुक्त १.२.४.।

ध्वनियाँ भी किसी न किसी अर्थ को वहन करती हैं।[1] इस युक्ति के उत्तर भाग का उत्तर द्वितीय युक्ति के साथ ही दिया जाएगा। किन्तु, यहाँ इतना कहना अभीष्ट होगा कि यद्यपि यह युक्ति नितान्त सत्य प्रतीत होती है, तो भी सत्य यह है कि शब्दों की अर्थ-योजना में इन वर्ण-ध्वनियों के तथाकथित पृथक्-पृथक् अर्थों का रत्ती भर भी योग नहीं होता है: **अनर्थकास्तु प्रतिवर्णमर्थानिपुलब्धेः** (महाभाष्य १.१.२, वा० ५८)।

७१. **वर्णभागों की समस्या** – इस विषय में भर्तृहरि की एक युक्ति अत्यन्त विचारणीय है। यह युक्ति नितान्त वैज्ञानिक है। इस युक्ति का प्रथम उद्घोष प्रातिशाख्यों और महाभाष्य में स्पष्टता से हुआ था। युक्ति सरल है: **वर्णेषु वर्णभागानां भेदः स्यात् परमाणुवत्** (वा० २.२८), तथा **वर्णान्तरसरूपं च वर्णभागेषु च दृश्यते** (वा० २.११)। अर्थात्, 'हम जिसे 'वर्ण' (फोनीम) के रूप में एक और अखण्डनीय ध्वनि समझ बैठे हैं, वह स्वयं कई वर्णभागों या ध्वनिकणों (अल्लाफोन्स अथवा साउण्डपार्टिकल्स) से मिलकर बनी हुई है। वे वर्णभाग निश्चय ही समान नहीं होते। एक वर्ण में वे परस्पर भिन्न भी हो सकते हैं।' ध्वनिकणों के सम्बन्ध में यह युक्ति आज के वैज्ञानिक यन्त्रों की सहायता से सर्वथा सत्य सिद्ध हो चुकी है।[2]

स्पैक्ट्रोग्राम के इन परिणामों से स्पष्ट है कि वर्ण या ध्वनियाँ जिन ध्वनि-तरंगों से सृष्ट होती हैं, वे वर्णभागों या ध्वनिभागों को उत्पन्न करती हैं। उस प्रकार के अनेक ध्वनिभाग, एक दूसरे से अव्यवहित रह कर, एक वर्णध्वनि (फोनीम) का सृजन करते हैं। अब यदि ब्लूमफील्ड या अन्य विद्वानों के अनुसार प्रत्येक वर्णध्वनि का पृथक् अर्थात्मक अस्तित्व स्वीकार किया जाय, तब भर्तृहरि की शंका उचित ठहरती है: 'क्यों न उन वर्णों के वर्णभागों का भी पृथक्-पृथक् अर्थ स्वीकार किया जाय? और, जब तरंगों की संख्या एक वर्ण में सहस्रों की सीमा में हो तो उस वर्णभाग या वर्णैकदेश की परिभाषा को सीमित कैसे किया जा सकेगा? इतना ही नहीं; कुछ विशेष प्रकार की ध्वनितरंगें ही सम्पूर्ण वर्णध्वनियों का सृजन करती हैं। तब प्रश्न

१. "Man utters many kinds of vocal noise and makes use of the variety: under certain types of stimulii he produces certain vocal sounds, and his fellows, hearing these same sounds, make the appropriate response. To put it briefiy, in human speech, different sounds have different meanings." (Lang., Bloonb., pp. 27, second para of 2. 4).

२. "Hence the defiinition of a phoneme as a class of non-contrastive and phonetically simillar sounds, or as a concurrent or as a simultaneous bundle of features." (Language, NAL, by J. What., pp. 121). It is to be compared with the statement of L. Bloomfield, on sound-waves and Phoneme, in his "Language", on pp. 75-80.

उठता है प्रत्येक वर्ण में कुछ समान ध्वनि तरंगों की उपस्थिति का ! यदि ध्वनितरंगों या तज्जन्य वर्णभागों के अर्थ स्वीकार कर लिए जाएं, तब प्रत्येक वर्ण का अर्थ एक दूसरे से मिलता-जुलता ही होगा । संध्यक्षरों में समस्या अधिक उलझ जाएगी । 'संध्यक्षरों' पर विचार करते हुए कात्यायन, पतंजलि व भर्तृहरि ने उनका 'उत्तरपदभूयस्त्व' – उनमें, 'इ' या 'उ' अंगों की प्रधानता – स्वीकार की है। इस समस्या पर प्रो० जोसुहा ह्वाट्माऊ ने दो वर्णध्वनियों के मिलने से एक नई वर्णध्वनि का सम्भव माना है ।[1]

इस प्रकार यदि दो ध्वनियों के मिलने से एक नई वर्णध्वनि बन जाती है, तब उसका अर्थ-विनिश्चय कैसे होगा ? उसमें वर्णभागों के अलग-अलग करना होगा । अतः वैज्ञानिक धरातल पर वर्णों की अर्थ स्वीकृति इस दृष्टि से स्वीकार्य नहीं कही जा सकती । और, जब उनमें अर्थ का निश्चित आधार नहीं, तब उन्हें **इकाई** कैसे स्वीकार किया जाए ?

७२. **एक-एक वर्ण वाले 'पद'** – वर्णों में अर्थ स्वीकार करने की दूसरी युक्ति अधिक बलवती है । अनेक पद एक वर्ण वाले होते हैं । प्रातिपदिक, धातु, निपात, उपसर्ग, प्रत्यय आदि एकवर्णात्मक होकर भी अर्थवान् हैं । यह युक्ति भी उपर्युक्त युक्ति की भाँति विश्वभाषामात्र पर घटती प्रतीत होती है । बात भी सत्य है : प्रातिपदिक, धातु, और प्रत्यय अर्थ का वहन करते ही हैं । पाणिनि ने **अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्** (अष्टा० १. २. ४५) के द्वारा यही तथ्य स्वीकार किया है। **निपात** की एक व्यापक परिभाषा है । किन्तु, निपात से **कर्मप्रवचनीय** और **उपसर्ग** को, प्रयोजन-वैविध्य के कारण, पृथक् कर लिया जाता है । यद्यपि देखने में निपात की अपेक्षा उपसर्ग और कर्मप्रवचनीय अधिक स्थिर दिखाई देते हैं; इस पर भी यह सत्य है कि तीनों के ही अर्थ एकान्ततः स्थिर नहीं किए जा सकते । प्रदेश, विभाषा, युग आदि के अनुरूप उनके प्रायोगिक अर्थों में अन्तर आता ही रहता है । यास्क ने उपसर्गों के अर्थ के सम्बन्ध में चार धारणाओं का उल्लेख किया है । पहली के अनुसार स्वतन्त्र रूप में उनका कोई अर्थ नहीं होता ।[2] दूसरी के अनुसार वे संज्ञा व धातु के अर्थ को ही विशेष स्पष्ट करते हैं ।[3] तीसरी के अनुसार उनका अर्थ बदलता रहता है ।[4] चौथी युक्ति के अनुसार उपसर्गों का अपना स्वतन्त्र अर्थ भी होता है, यद्यपि इसकी अभिव्यक्ति

१. "If two phonemes of a language approach one another acoustically then the listeuers make an adjustment. For if they do not, the phonemes will ultimately combine..." (Lang., NAL, by J. Whatm., pp. 121).

२. **'नि निर्बद्धा उपसर्गा अर्थान्निराहु रिति (नि० १. ३. ३)** ।

३. **'नामाख्यातयोस्तु कर्मोपसंयोगद्योतका: भवन्ति' (नि० १. ३. ४)** ।

४. **'उच्चावचाः पदार्थाः भवन्ति' (नि० १. ३. ५)** ।

संज्ञा या क्रिया के अर्थ विकार में ही स्पष्ट होती है ।[1] वस्तुतः इन चारों युक्तियों की समीक्षा के बाद एक बात स्पष्ट हो जाती है कि उपसर्गों के निश्चित व बँधे हुए अर्थ नहीं किए गए, यद्यपि उनका प्रयोग अधिकांशतः परम्पराबद्ध रूप में स्वीकार कर लिया जाता है । उन्हें कुछ जगह विभक्ति-प्रत्ययों का भी स्थान दे दिया जाता है । उस दशा में उनकी स्थिति 'प्रत्ययों' जैसी हो जाती है । ऐसी स्थिति में वे धातु से संयुक्त होकर भी रह सकते हैं एवं अलग भी । भर्तृहरि ने इनको निपात एवं कर्मप्रवचनीय से भिन्न मान कर भी इन सब की स्वतन्त्र अर्थात्मक सत्ता स्वीकार नहीं की है। स्वयं पाणिनि द्वारा एक ही वर्ण-निपात को भिन्न-भिन्न प्रसंग में **उपसर्ग, गति, कर्मप्रवचनीय,** या **निपात** नाम देना उन वर्णध्वनियों के अर्थों की अनिश्चितता की ही सूचना देता है । इन सब पर विस्तृत विचार तो 'पद-भेद' के प्रकरण में ही होगा, फिर भी यहाँ इतना कह देना अभीष्ट होगा कि पाणिनि अर्थ की दृष्टि से जहाँ धातु, प्रातिपदक और प्रत्यय को इकाई के रूप में स्वीकार करते हैं, वहाँ इन निपातादि को वे **अर्थवत्** उद्घोषित नहीं करते । उन्होंने यास्क की भाँति इन्हें 'पद' रूप में स्वीकार अवश्य किया है; किन्तु **सुप्तिङन्तं पदम्**[2] (अर्थात् सुबन्त या तिङन्त ही पद होते हैं) की उनकी परिभाषा इन पर नहीं घटती । इसीलिए, स्पष्टतः उन्हें इन सबको **अव्यय** संज्ञा देकर **पद** की इस परिभाषा से मुक्ति देनी पड़ी । अथवा, उन्होंने इन्हें नित्य-समास की स्थिति में स्वीकार किया । अतः स्पष्ट है कि प्रातिपादिक और धातु से निपात, अव्यय आदि की स्थिति भिन्न है । पहले दोनों का स्वतन्त्र प्रयोग होता है, जब कि शेष अपने अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए किसी 'वाक्य' या अन्य किसी 'अंगी' के अंग बन कर आते हैं ।

धातु और प्रातिपादिक के रूप में ही सही, वर्णों की अर्थात्मक सत्ता सिद्ध-सी प्रतीत होती है । इस प्रकार के किसी भी निर्णय पर पहुँचते हुए अत्यधिक सतर्क रहने की आवश्यकता है । वर्णों की किसी भी रूप में अर्थात्मक सत्ता स्वीकार करने का अर्थ होता है, हर दशा में उसका एक ही निश्चित अर्थ स्वीकार करना । और, यदि ऐसी परिस्थिति स्वीकार कर ली जाए, तो प्रश्न उठता है कि वर्ण-समुदाय से बनने वाले शब्दों में, प्रत्येक वर्ण में, वह अर्थ स्थिर रह पाता है या नहीं ? वास्तविकता यह है कि ऐसा कोई भी अर्थ शब्दों में नहीं रहता । 'गौः' का अर्थ 'ग्', 'औ' तथा विसर्गों के अर्थों के मिलने से नहीं बनता । उस शब्द में इन वर्णों द्वारा प्रतिध्वनित अर्थ का संकेत तक भी नहीं होता । अतः वर्णों को इस युक्ति के आधार पर **अर्थवान्** नहीं कहा जा सकता ।

७३. **वर्ण-व्यत्यय और वर्णानुपलब्धि** – वर्णों की अर्थवत्ता के पक्ष में तीसरी और चौथी युक्तियाँ कोरे तर्क पर आधारित हैं। 'कूप', 'सूप,' 'यूप' में यदि वर्णों के परिवर्तनमात्र

---

१. **'तद्य एषु पदार्थः प्राहुरिमे तं नामाख्यातयोरर्थविकरणम्'** (नि० १. ३. ६) ।
२. पा० १.४.१४.

से अर्थ-परिवर्तन होता है, तो वही युक्ति 'काण्डीर-आण्डीर' या 'ऋक्ष-वृक्ष' में भी घटनी चाहिए। प्रश्न केवल इतना है कि यदि 'कूप', 'सूप' आदि में 'क्', 'स्' आदि के अर्थ के कारण ही शब्द में अर्थ-परिवर्तन आ जाता है, तो एक ओर उन विशिष्ट वर्णों के अर्थ निश्चित होने चाहिएँ और, दूसरी ओर, सब में समान रूप से उपलब्ध 'ऊप' का भी कोई निश्चित अर्थ होना चाहिए। 'काण्डीर-आण्डीर' आदि में स्थिति और भी अद्भुत हो जाती है। यदि यह माना जाय कि 'क्' के कारण ही दोनों के अर्थों में अन्तर है, तो स्वभावतः 'काण्डीर' में 'आण्डीर' का अर्थ तो अविकल ही रहना चाहिए; 'क्' का अर्थ और बढ़मात्र जाना चाहिए। परन्तु, ऐसा नहीं होता है। 'वृक्ष' और 'ऋक्ष' के अर्थ में कोई भी साम्य नहीं है। अतः दो परिणाम स्पष्ट हैं, **एक तो यह कि एक दो वर्णों के बदलने या नए वर्ण आने से ही शब्द का अर्थ नहीं बदलता और दूसरा यह कि उन वर्णों का अर्थ सर्वत्र सर्वदा एक-सा निश्चित नहीं रहता।**

७४. **संघात का अर्थ अवयव में भी** — पाँचवीं युक्ति संघात व अवयव की है। यदि संघात में अर्थ की स्थिति स्वीकार की जाती है, तब अवयव में भी अर्थ रहना ही चाहिए। अवयवी का अर्थ अवयव में रहता ही है। या, यूँ कह लें कि अवयव के धर्मों से व्यतिरिक्त कोई नई बात अवयवी में नहीं आती। अतः यदि शब्द वर्ण-संघात है और अर्थवान् है, तो अवयवभूत वर्णों में भी अर्थ की स्थिति स्वीकार करनी ही होगी। भर्तृहरि इस पक्ष को इन शब्दों में उपस्थित करते हैं — **संघातार्थवत्वाच्चादर्शनमदर्शने च हेतुर्यथा तिलेऽस्ति काचित् तैलमात्रा, एवं वर्णेष्वपि अस्ति काचिदर्थसंबोधनमात्रा। अनेक वर्णाभ्वारेण तु परिपक्वा बुद्धिरर्थं प्रतिपद्यत इति, यदि तर्हि इमे वर्णाः अर्थवन्तः** (त्रिपदी टीका, १. १. २, ५७ वार्तिक)। परन्तु, यह मत भर्तृहरि को स्वयं अभिमत नहीं है। कूप, सूप, यूप आदि के उदाहरण से यह बात स्पष्ट है कि 'संघात' की अर्थवत्ता के कारण वर्ण की अर्थवत्ता स्वीकार करने पर एक परस्पर विरुद्ध स्थिति उत्पन्न हो जाएगी। कूप, सूप, यूप में जो परस्पर अर्थ-भेद है, उसे संघातात्मक स्वीकार किया जाय अथवा अवयवात्मक? यदि यह भेद अवयवात्मक है, तब क्, स्, य् के अतिरिक्त संघात की समानार्थकता इन सब में उपलब्ध होनी चाहिए। परन्तु, उन शब्दों के अर्थ में कोई भी समान अंश उपलब्ध नहीं है। यदि यह भेद संघातात्मक है, तब भी वर्णों की पृथक् अर्थवत्ता सिद्ध नहीं होती। क्योंकि, उस स्थिति में भी वर्ण-सादृश्य के कारण अर्थ-सादृश्य उपलब्ध नहीं होता। इसीलिए भर्तृहरि ने कहा :

> **न कूपसूपयूपानामन्वयोऽर्थस्यगम्यते।**
> **ततोऽर्थान्तरवाचित्वं संघातस्यैव गम्यते॥ वा० २. १७१॥**

अर्थात्, अर्थ वर्ण-संघात में—उस रूप में बने 'शब्द' में—ही रहता है, पृथक् वर्णों में नहीं। अन्यथा, क्, स्, य् आदि की अर्थद्योतकता के कारण कूप, सूप, यूप, में अर्थभेद

स्वीकार करने पर, तीनों में 'ऊप' की समस्थिति निरर्थक ही स्वीकार करनी होगी। **तस्मात्समुदायस्यैकत्वमर्थ इति**' (त्रिपदी टीका, १. १. २. ५७ वा०) कहकर भर्तृहरि वर्णों की पृथक् अर्थात्मक स्थिति की स्वीकृति का विरोध करते हैं।

७५. **वर्णात्मक पदों का सत्य** – इस प्रकार इन पाँचों युक्तियों से यह सिद्ध नहीं होता कि वर्ण में अर्थ की सत्ता रहती है। सत्य तो यह है कि यदि वर्ण में अर्थ की सत्ता स्वीकार कर ली जाय तो उसकी स्थिति प्रातिपदिक, धातु, या प्रत्यय के समान हो जाएगी। इन तीनों की प्रायोगिक स्थिति को पाणिनि ने **सुप्तिङन्तं पदम्** (पा० १. ४. १४) के रूप में माना है। वर्ण यदि अर्थवान् है, तो प्रातिपादिक आदि के समान उससे भी प्रत्ययादि कार्य सिद्ध होने चाहिएँ। किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से ऐसा होना असम्भव है। यदि ऐसा संभव्य हो, तो 'शब्द' की उत्पत्ति एवं पदस्थिति असम्भव हो जाएगी। पतंजलि इस तथ्य को ही **संघातस्यैकार्थ्यात्सुबभावो वर्णात्** (१.१.२१. भा० वा० ५) के द्वारा कहते हैं। अतः, निपात, अव्यय, प्रातिपदिक, और धातु के रूप में वर्ण की अर्थवत्ता स्वीकार करने के बाद भी, वर्णों को इस रूप में अर्थवान् नहीं माना जा सकता कि उनके अर्थात्मक होने के कारण ही शब्द अर्थात्मक बन जाते हैं। प्रत्युत जहाँ भी वे सार्थक देखे जाते हैं वहाँ 'पदात्मक' स्थिति के कारण ही।

प्रो० जोसुहा ह्वाट्माऊ के शब्दों में: "Certainly perception of linguistic meaning is not obtained through such small segments of utterance as single speech sounds."[1]

७६. **पद के पक्ष में युक्तियाँ** – 'वर्ण, के बाद इकाई के रूप में **शब्द** या **पद** की मान्यता की बारी आती है। शब्द अथवा पद को वाक् की इकाई स्वीकार करने वाले अनेक युक्तियाँ प्रस्तुत करते हैं। उनकी दृष्टि में शब्द अथवा पद केवल एक अर्थवान् इकाई ही नहीं है, बल्कि वाक् या वाणी के अविभाज्य अंश के रूप में भी वह एक पूर्ण इकाई है। इस सम्बन्ध में दी जाने वाली कुछ युक्तियाँ इस प्रकार गिनी जा सकती हैं:

१. शब्द पूर्णतः अर्थवान् इकाई है, क्योंकि उसमें संकेतात्मिका शक्ति का निवास रहता है और वह एक पूर्व-निश्चित धारणा को लेकर उत्पन्न होता है। प्रत्येक शब्द का अपना **शब्दार्थ** रहता है।
२. अनेक बार **पद-रूप** में भी वाक्य पूर्ण होता हुआ देखा गया है। ऐसा तभी सम्भव है, जब पद स्वतः एक इकाई हो।
३. वाक्य विभिन्न पदों का संघात मात्र है, स्वतन्त्र इकाई नहीं।
४. पद में सुबन्त, तिङन्तादि स्थितियाँ उसकी पृथक् मूर्त्तिमत्ता एवं सत्ता की द्योतक होती हैं।

---

१. Lang., NAL, by J. Whatmough, pp. 70.

५. वाक्य के समस्त शब्द युगपद् उच्चारित नहीं होते। अतः वे परस्पर आश्रित नहीं हो सकते।

६. वाक्य में उद्देश्यविधेयादि का विभाग तथा पदों का संज्ञा-क्रियादि रूप में विभाग उनकी पृथक् सत्ता का द्योतक है।

७. वक्ता की इच्छा—**विवक्षा**—भी पहले शब्द-रूप में अपने को स्थिर करती है। तभी वक्ता उसके उच्चारण में प्रवृत्त होता है।

८. शब्द के अवयव नहीं हो सकते। इसीलिये वह एक स्वतन्त्र इकाई है।

इन तथा इसी प्रकार की अन्य युक्तियों का अवलोकन एक बार तो शब्द अथवा पद की पृथक् सत्ता का पूर्ण निश्चय करा देगा। परन्तु तनिक भी गहराई से किया गया विश्लेषण हमें किसी अन्य ही परिणाम पर ले जाएगा। भर्तृहरि ने इन सभी पक्षों को उपस्थापित करके भी वास्तविकता को स्पष्टतः सामने ला दिया है। यहाँ इन युक्तियों का सहेतुक विवेचन अधिक उचित रहेगा।

७७. **भावना, संकेत और शब्दार्थ**—प्रथम युक्ति को तीन भागों में बाँटा जा सकता है। **प्रथम** यह कि प्रत्येक शब्द में कुछ न कुछ संकेत-सूचना देने की सामर्थ्य होती है। बौद्धों के **अपोहवाद** ने आरम्भ में इस सिद्धान्त का विरोध किया था। परन्तु मीमांसकों के **अभिहितान्वयवाद** एवं **अन्विताभिधानवाद** की विवेचना की छाया में उन्होंने भी शब्द में **निषेधात्मक** एवं **संकेतात्मक** शक्तियों की सत्ता स्वीकार की। इस प्रकार **संकेत** 'अर्थ' का ही पर्याय बन गया। वस्तुतः जब पतंजलि कहते हैं—'**प्रतीतपदार्थको हि ध्वनिः लोके शब्दः**' (महा० १.१.१), तब उनका **पदार्थ** से अभिप्राय, शब्द से न होकर, **वस्तु या भावना के संकेत** और विनिश्चय से ही होता है। और, जब भर्तृहरि **कहते हैं :**

> **यस्मिंस्तूच्चरिते शब्दे यदा योऽर्थः प्रतीयते।**
> **तमाहुरर्थं तस्यैव, नान्यदर्थस्य लक्षणम्** ॥ वा० २.३३० ॥

तब भी प्रथम 'अर्थ' का अभिप्राय, **शब्दार्थ** से न होकर, **वस्तु** से ही होता है। किसी शब्द-विशेष के उच्चारण पर कुछ न कुछ संकेतग्रह, वस्तु या भाव के विनिश्चय के रूप में, अवश्य होता है। जब तक ऐसा नहीं होता, तब तक उच्चरित शब्द भी व्यर्थ ही रहता है। अतः शब्द की सार्थकता इसी संकेत या प्रतीति के ग्रहण में है। इस संकेतग्रह का मूल कारण क्या है? इसे स्पष्ट करते हुए भर्तृहरि स्पष्ट करते हैं कि वस्तुतः वाग्व्यापार का आरम्भ एवं आविर्भाव ही, **शब्द-भावना** या **अर्थभावना** के बिना, सम्भव नहीं।

> **आद्यः करणविन्यासः प्राणस्योर्ध्वं समीरणम्।**
> **स्थानानामभिघातश्च न बिना शब्दभावनाम्** ॥ वा० १.१२३ ॥

यह शब्द-भावना ही अर्थ-भावना बन जाती है। यह इस युक्ति का **दूसरा** भाग है।

इस युक्ति का तीसरा भाग है शब्दार्थ की सत्ता और उपस्थिति का । शब्द का कोई न कोई अर्थ स्वीकार किया जाता है । इसे ही **शब्दार्थ** कहते हैं । यह शब्दार्थ **मुख्य** हो या **गौण**, शब्द से इसका सम्बन्ध सहज है । परम्परा से अभ्यस्त होने पर हम इसे शब्द के विविध अंशों से सम्बद्ध कर बैठते हैं । शब्दार्थ को **धात्वर्थ** या **प्रत्ययार्थ** के रूप में विभक्त नहीं किया जा सकता । फिर भी, प्रचलित धारणा के अनुसार उसका मूलाधार किसी न किसी धातु **या मूल-अंश** में स्वीकार किया ही जाता है । बौद्ध विचारधारा इस धारणा के सर्वथा विपरीत है । उसके अनुसार शब्द में कोई निश्चित अर्थ रहता ही नहीं । **धात्वर्थ** या **प्रत्ययार्थ** का तो, उनकी दृष्टि में, प्रश्न ही नहीं उठता । **अन्यापोह** के सिद्धान्त के अनुसार कथित शब्द द्वारा किसी एक वस्तु का, अन्य-वस्तु-निषेध द्वारा, कथन या संकेतमात्र होता है । तो भी इन सब युक्तियों से ऐसा ही सिद्ध होता प्रतीत होता है कि **शब्द अर्थात्मक दृष्टि से एक इकाई है ।**

७८. **पद अर्थात्मक होकर भी वाक् की इकाई नहीं**—जहाँ तक भाषा-तत्व की दृष्टि का सम्बन्ध है, यह परिणाम उचित भी प्रतीत होता है । किन्तु, यहाँ यह स्मर्तव्य है कि 'भाषा' पर समग्रदृष्टि से विचार आरम्भ करते ही यह धारणा भ्रान्त सिद्ध होगी । शब्दों का जन्म निश्चित ही किसी वस्तु या भाव-विशेष के संकेत के लिये होता है । किन्तु उनके उच्चारण मात्र से ही वाणी का लक्ष्य पूर्ण नहीं हो जाता । वाणी का लक्ष्य है—**आत्म-व्यक्ति या आत्म-अभिव्यक्ति ।** अभिव्यक्ति के लिये वक्ता वाणी का आश्रय लेता है । वाणी शब्दों का रूप धारण करके ही बाहर आती है ।

अथाऽयमान्तरो ज्ञाता सूक्ष्मे वागात्मनि स्थितः ।
व्यक्तये स्वस्य रूपस्य शब्दत्वेन विवर्तते ।। वा १.११३ ।।

आत्मा की यह व्यक्ति, शब्द नहीं, **शब्दत्व** के द्वारा होती है । इसीलिये भर्तृहरि शब्द के विषय में (वा० १.११९ से १२४ तक) पर्याप्त कह जाने के बाद उसे ही **वाक्** कह कर भाषा की मूल-प्रकृति की ओर ले जाते हैं ।

वाग्रूपता चेदुत्क्रामेदवबोधस्य शाश्वती ।
न प्रकाशः प्रकाशेत सा हि प्रत्यवमर्शिनी ।। वा० १.१२५ ।।

इस तथा अगले प्रकरण में वाक्-विषयक समस्त वक्तव्य शब्द-विषयक वक्तव्य से सर्वथा अभिन्न है । अतः भर्तृहरि द्वारा प्रयुक्त 'शब्द' का अर्थ, अर्थात्मक इकाई के रूप में ज्ञात वाक्यांशभूत 'शब्द' न होकर, 'वाक्' ही है । इसके विपरीत **न्याय, मीमांसा** तथा अन्यान्य विवेचनाओं में शब्द को अर्थात्मक इकाई के अतिरिक्त **भाषात्मक इकाई** भी स्वीकार किया गया है । परन्तु, 'भाषा' के मूलोद्देश्य को पहचानने के बाद **शब्द को भाषात्मक इकाई स्वीकार नहीं किया जा सकता ।** शब्द की 'संकेत' या 'निश्चय' ग्रहण कराने वाली **अर्थात्मिका शक्ति** भी वक्ता की आत्माभिव्यक्ति में, एकाकी रूप में, पूर्ण समर्थ नहीं हो पाती । अतः शब्द को अर्थात्मक इकाई स्वीकार करने

मात्र से ही उसे 'वाक् की इकाई' स्वीकार नहीं किया जा सकता।[1] उसके लिये अन्य युक्तियों पर भी विचार करना आवश्यक है।

७९. **वाक्य के रूप में पद**—दूसरी युक्ति 'पद' की वाक्यरूप में स्थिति की है। **शब्द** ही **पद** का रूप ग्रहण करता है। पद रूप में आने के बाद वही शब्द कभी, एकाकी रूप में भी, **वाक्य** कहलाने का अधिकारी हो जाता है।

> **यथाप्रकरणं द्वारमित्यस्यां कर्मणः श्रुतौ।**
> **बधान देहि वेत्येतदुपायादधिगम्यते ।। वा० २.३३१ ।।**

किसी ने केवल 'द्वार' कहा, किन्तु समझने वाले ने 'बन्द करो' अथवा 'खोल दो' का अर्थ प्रकरणानुसार कर लिया। इसके लिये उसे पूर्ण शब्द-राशि के सुनने या जानने की आवश्यकता नहीं पड़ी। ऐसे स्थानों पर एक शब्द भी वाक्य कहलाने का अधिकारी होता है। इस प्रकार के प्रयोगों को देखकर **शब्द** की स्वतन्त्र मान्यता का प्रश्न उठना स्वाभाविक है। इस स्थिति को स्पष्ट करते हुए भर्तृहरि ने स्वयं कहा है :

> **स्वार्थमात्रं प्रकाश्याऽसौ साकाङ्क्षो विनिवर्त्तते।**
> **अर्थस्तु तस्य सम्बन्धी प्रकाश्यति सन्निधिम् ।। वा० २.३४० ।।**
> **पारार्थ्यस्याविशिष्टत्वान्न शब्दाच्छब्दसंनिधिः।**
> **नार्थाच्छब्दस्य सांनिध्यात्तन्न शब्दादर्थसंनिधिः ।। वा० २.३४१ ।।**

वाक्य-प्रयुक्त प्रत्येक पद 'साकांक्ष' होता है। वह अभिधेय अर्थ की स्पष्टता के लिये अन्य पदों से प्राप्य अर्थ की आकांक्षा में रहता है। एकाकी रूप में उसका अर्थ केवल अपने इंगित का ही वाहक हो सकता है। वाक्य-प्रयुक्त होकर वह **परार्थ** या **अभिधेय** का अंश अथवा उसी का वाहक बन जाता है। उस 'परार्थ' के सम्मुख **शब्दार्थ** महत्वहीन हो जाता है। 'बन्द करो' या 'खोल दो' अर्थ 'द्वार !' के नहीं हैं। उनका ग्रहण **प्रकरण** आदि के कारण लिया जाता है। अतः 'द्वार' पद ही पूर्णवाक्य नहीं है, बल्कि कुछ अन्य अर्थ-भावनायें उससे सम्बन्ध रख कर ही उसे पूर्ण बनाती हैं। अन्यथा, प्रकरण से बाहर होकर 'द्वार !' का अर्थ भी द्वार-मात्र ही होगा, अन्य कुछ नहीं। अतः केवल इस युक्ति के आधार पर भी 'पद' की स्वतन्त्र सत्ता सिद्ध नहीं हो पाती। **वह अपने वाक्-प्रयोग के लिये भी किसी परार्थ या अभिधेय पर आधारित रहता है।**

८०. **वाक्य पदों का संघातमात्र है**—उपरोक्त युक्ति से मिलती-जुलती एक अन्य युक्ति प्रस्तुत की जाती है : 'वाक्य विविध पदों का संघातमात्र ही तो है।' मीमांसा में वाक्य की परिभाषा की गई है : **अर्थैकत्वादेकं वाक्यं, साकांक्षं चेद् विभागे स्यात्।**

---

१. Cf. the statement of A. H. Gardiner, in his Speech and Lang., on pp. 88—"The sentence is the unit of speech, and the word is the unit of language."

शब्द एक हो या अनेक, यदि अर्थ या प्रयोजन की एकता विद्यमान है तब, **वाक्य** एक ही कहलायेगा। शब्दों को अलग-अलग लेने पर वे साकांक्ष ही ठहरेंगे, स्वतःपूर्ण नहीं। शब्द एवं वाक्य-विषयक यह धारणा आधुनिक भाषाविवादों और भर्तृहरि की धारणा के अनुकूल नहीं है। इसमें यद्यपि वाक्य को एक इकाई स्वीकार किया गया है, परन्तु साथ ही इसमें शब्दों का पृथक् अस्तित्व भी स्वीकार किया गया है। उन्हें **साकांक्ष** कह कर भी, विभाग में, स्वतन्त्र **इकाई** के रूप में स्वीकार किया गया है। अब प्रश्न यह उठता है कि यदि **वाक्य** का विभाग हो सकता है (और वह विभाग 'पदों' के रूप में ही होता है) तो वह विविध पदों का संघात मात्र ही माना जायेगा। भर्तृहरि ने इस मत को इस रूप में प्रस्तुत किया है :

चित्रस्यैकस्वरूपस्य यथा भेदनिदर्शनैः।
नीलादिभिः समाख्यानं क्रियते भिन्नलक्षणैः॥ वा० २. २८०॥
तथैवैकस्य वाक्यस्य निराकांक्षस्य सर्वतः।
शब्दान्तरैः समाख्यानं साकांक्षैरनुगम्यते॥ वा० २. २०६॥

'चित्र एक होता है, पर उसमें अंकित विविध खण्डों या रंगों के नामोल्लेख द्वारा उस एक को ही हम विविध अंशों द्वारा विभक्त करके व्याख्यान करते हैं। उसी प्रकार **वाक्य एक व पूर्ण होता है**। उसके अंशभूत विविध शब्द अपूर्ण होते हैं। परन्तु उन पदों द्वारा भी अंशतः उसी वाक्य का आकलन होता है।' इस में वैशिष्ट्य इतना ही है कि मीमांसानुसार इसमें भी मूलगत एकता वाक्य की ही स्वीकार की गई है। शब्द तो साधन मात्र हैं : परस्पर-आधारित। **इकाई वाक्य ही है** : इकाई की पूर्णता स्थापित करने वाले अंश ही विविध शब्द या पद हैं। उन्हें स्वतन्त्र इकाई तभी माना जा सकता है, जब उनका अर्थ सर्वतः **निराकांक्ष** एवं अनपेक्ष हो। किन्तु ऐसा होना सम्भव नहीं है। यदि वाक्य में प्रयुक्त सभी पद या शब्द निरांकाक्ष हो जाएँ, तब उनसे एक वाक्य का निर्माण असम्भव हो जाएगा। भर्तृहरि कहते हैं : ऐसे निराकांक्ष पद, परस्पर सहायक होने की अपेक्षा, 'प्रधान' हो जाएँगे। तब वे 'एक वाक्य' की रचना कैसे कर सकेंगे ! वे स्वयं ऐसे वाक्यों का स्थान लेने वाले बन जायेंगे।

निराकांक्षाणि निर्वृत्तौ प्रधानानि परस्परम्।
तेषामनुपकारित्वात् कथं स्यादेकवाक्यता॥ वा० २. ३५५॥

यह बात **वाक्यांशों** एव शब्दों पर भी समान रूप से लागू होती है। **शब्द** साकांक्ष हों या निराकांक्ष, 'वाक्य' को उनका **संघात** कहते ही वाक्य की मौलिक एकता की धारणा टूट जाती है। 'संघात' की अपनी सत्ता एवं सीमा कुछ भी स्थिर नहीं रहती। यदि यह संघात साकांक्षों का ही है, तब उनकी पृथक् स्वतन्त्रता व इकाई-सम्बन्धी मान्यता का प्रश्न नहीं उठता। यदि वे **निराकांक्ष** हैं, तब केवलमात्र शब्दोच्चारण से ही वाक्य की रचना पूर्ण न हो पाएगी। दोनों ही अवस्थाओं में यदि

वाक्य को केवल संघातमात्र स्वीकार किया जाए, तो **वाक्यार्थ** के सम्बन्ध में एक नई आपत्ति उठ पड़ती है। उस दशा में शब्दों का अर्थ, निश्चय ही, महत्वपूर्ण होगा। यदि पृथक् शब्दों के शब्दार्थ महत्वपूर्ण हैं, तब वाक्य का अर्थ भी केवलमात्र प्रयुक्त शब्दों के अर्थों का संग्रह ही होगा। किन्तु, व्यवहार में ऐसा नहीं होता है। 'वाक्यार्थ' में श्रूयमाण पदों के **शब्दार्थों** के अतिरिक्त अन्य भी कुछ समाविष्ट होता है। **संघात** मानने वाले की दृष्टि में तब शब्दों का अर्थ **शब्दार्थ** या **पदार्थ** कहलाएगा और उनके अर्थों से अधिक अर्थ को **वाक्यार्थ** कहेंगे।

> **केवलेन पदेनार्थो यावानेवाऽभिधीयते।**
> **वाक्यस्थं तावतोऽर्थस्य तदाहुरभिधायकम्** ॥ वा० २. ४१ ॥
> **सम्बन्धे सति यत्त्वन्यदाधिक्यमुपजायते।**
> **वाक्यार्थमेव तं प्राहुरनेकपदसंश्रयम्** ॥ वा० २. ४२ ॥

किन्तु, यह मत नितान्त उपहासास्पद है। कई स्थितियों में शब्दार्थ व वाक्यार्थ में परस्पर विरोध उपस्थित हो जायेगा। अतः शब्द या पद को इस आधार पर **इकाई** स्वीकार करना भी भ्रामक है।

८१. **सुबन्त-तिङन्त पद की स्थिति**—पाणिनि ने **पद** की परिभाषा करते हुए सुबन्त और तिङन्त को 'पद' कहा है : **सुप्तिङन्तं पदम्** (पा० १. ४. १४)। किन्तु इस बात से यह निष्कर्ष निकालना, कि प्रत्येक पद अपने आप में एक पूर्ण इकाई है, भ्रमपूर्ण होगा। 'शब्द' और 'पद' में एक मौलिक अन्तर है। अंग्रेजी में जिन्हें हम 'पार्ट्स ऑफ़ स्पीच्' कहते हैं, वे ही **पद** नाम से अभिप्रेत हैं। किन्तु, दोनों की स्थिति में मौलिक अन्तर यह है कि **पद** नाम विशेषतया उस शब्द रूप को दिया जाता है, जो भाषा में व्यवहृत होता है। **शब्द** एक सामान्य स्थिति है, किन्तु **पद**-रूप में प्रत्ययादि संयोग ग्रहण करने से पूर्व यह **शब्द** अपनी स्वतन्त्र सत्ता खो बैठता है। उस स्थिति में इसे पाणिनि ने अंग (पार्ट या स्टैम्) नाम दिया है।[1] यह अंग स्वतः अपूर्ण है। इसके बाद ही प्रत्ययादि कार्य होता है। प्रत्ययादि के संयोग से बनने वाला यह 'पद' ही भाषा-व्यवहार में समर्थ होता है। यही अर्थ की दृष्टि से पूर्ण भी होता है।[2] यह प्रकृति-प्रत्यय-संयोग व्यवहार-कल्पना के लिए ही है, अन्यथा **पद** का विभाग, ऐसे किसी आधार पर, मानना सर्वथा भ्रामक है।[3] प्रकृति और प्रत्यय 'पद' में **अविभाज्य रूप में** रहते हैं; यही उनकी संहति है।[4] 'संहिता' नाम पद को इसी आधार पर दिया गया है।

१. **'यस्मात्प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम्'** ॥ पा० १. ४. १३ ॥
२. **'समर्थः पदविधिः'** ॥ पा० २. २. १ ॥
३. **'प्रकृतिप्रत्ययादिवत्'** ॥ वा० ३. १. १ ॥
४. (१) **'परः संनिकर्षः संहिता'** ॥ पा० १. ४. १०६ ॥
   (२) **'संहितैकपदे नित्या, नित्या धातूपसर्गयोः', इत्यादि** (**काशिका**)।

शब्द एक हो या अनेक, यदि अर्थ या प्रयोजन की एकता विद्यमान है तब, **वाक्य** एक ही कहलायेगा। शब्दों को अलग-अलग लेने पर वे साकांक्ष ही ठहरेंगे, स्वत:पूर्ण नहीं। शब्द एवं वाक्य-विषयक यह धारणा आधुनिक भाषाविवादों और भर्तृहरि की धारणा के अनुकूल नहीं है। इसमें यद्यपि वाक्य को एक इकाई स्वीकार किया गया है, परन्तु साथ ही इसमें शब्दों का पृथक् अस्तित्व भी स्वीकार किया गया है। उन्हें **साकांक्ष** कह कर भी, विभाग में, स्वतन्त्र **इकाई** के रूप में स्वीकार किया गया है। अब प्रश्न यह उठता है कि यदि **वाक्य** का विभाग हो सकता है (और वह विभाग 'पदों' के रूप में ही होता है) तो वह विविध पदों का संघात मात्र ही माना जायेगा। भर्तृहरि ने इस मत को इस रूप में प्रस्तुत किया है :

चित्रस्यैकस्वरूपस्य यथा भेदनिदर्शनैः।
नीलादिभिः समाख्यानं क्रियते भिन्नलक्षणैः॥ वा० २. २८०॥
तथैवैकस्य वाक्यस्य निराकांक्षस्य सर्वतः।
शब्दान्तरैः समाख्यानं साकांक्षैरनुगम्यते॥ वा० २. २०६॥

'चित्र एक होता है, पर उसमें अंकित विविध खण्डों या रंगों के नामोल्लेख द्वारा उस एक को ही हम विविध अंशों द्वारा विभक्त करके व्याख्यान करते हैं। उसी प्रकार **वाक्य एक व पूर्ण होता है।** उसके अंशभूत विविध शब्द अपूर्ण होते हैं। परन्तु उन पदों द्वारा भी अंशतः उसी वाक्य का आकलन होता है।' इस में वैशिष्ट्य इतना ही है कि मीमांसानुसार इसमें भी मूलगत एकता वाक्य की ही स्वीकार की गई है। शब्द तो साधन मात्र हैं : परस्पर-आधारित। **इकाई वाक्य ही है** : इकाई की पूर्णता स्थापित करने वाले अंश ही विविध शब्द या पद हैं। उन्हें स्वतन्त्र इकाई तभी माना जा सकता है, जब उनका अर्थ सर्वतः **निराकांक्ष** एवं अनपेक्ष हो। किन्तु ऐसा होना सम्भव नहीं है। यदि वाक्य में प्रयुक्त सभी पद या शब्द निरांकाक्ष हो जाएँ, तब उनसे एक वाक्य का निर्माण असम्भव हो जाएगा। भर्तृहरि कहते हैं : ऐसे निराकांक्ष पद, परस्पर सहायक होने की अपेक्षा, 'प्रधान' हो जाएँगे। तब वे 'एक वाक्य' की रचना कैसे कर सकेंगे ! वे स्वयं ऐसे वाक्यों का स्थान लेने वाले बन जायेंगे।

निराकांक्षाणि निर्वृत्तौ प्रधानानि परस्परम्।
तेषामनुपकारित्वात् कथं स्यादेकवाक्यता॥ वा० २. ३५५॥

यह बात **वाक्यांशों** एव शब्दों पर भी समान रूप से लागू होती है। **शब्द** साकांक्ष हों या निराकांक्ष, 'वाक्य' को उनका **संघात** कहते ही वाक्य की मौलिक एकता की धारणा टूट जाती है। 'संघात' की अपनी सत्ता एवं सीमा कुछ भी स्थिर **नहीं** रहती। यदि यह संघात साकांक्षों का ही है, तब उनकी पृथक् स्वतन्त्रता व इकाई-सम्बन्धी मान्यता का प्रश्न नहीं उठता। यदि वे **निराकांक्ष** हैं, तब केवलमात्र शब्दोच्चारण से ही वाक्य की रचना पूर्ण न हो पाएगी। दोनों ही अवस्थाओं में यदि

वाक्य को केवल संघातमात्र स्वीकार किया जाए, तो **वाक्यार्थ** के सम्बन्ध में एक नई आपत्ति उठ पड़ती है। उस दशा में शब्दों का अर्थ, निश्चय ही, महत्वपूर्ण होगा। यदि पृथक् शब्दों के शब्दार्थ महत्वपूर्ण हैं, तब वाक्य का अर्थ भी केवलमात्र प्रयुक्त शब्दों के अर्थों का संग्रह ही होगा। किन्तु, व्यवहार में ऐसा नहीं होता है। 'वाक्यार्थ' में श्रूयमाण पदों के **शब्दार्थों** के अतिरिक्त अन्य भी कुछ समाविष्ट होता है। **संघात** मानने वाले की दृष्टि में तब शब्दों का अर्थ **शब्दार्थ** या **पदार्थ** कहलाएगा और उनके अर्थों से अधिक अर्थ को **वाक्यार्थ** कहेंगे।

केवलेन पदेनार्थो यावानेवाऽभिधीयते।
वाक्यस्थं तावतोऽर्थस्य तदाहुरभिधायकम् ॥ वा० २. ४१ ॥
सम्बन्धे सति यत्त्वन्यदाधिक्यमुपजायते।
वाक्यार्थमेव तं प्राहुरनेकपदसंश्रयम् ॥ वा० २. ४२ ॥

किन्तु, यह मत नितान्त उपहासास्पद है। कई स्थितियों में शब्दार्थ व वाक्यार्थ में परस्पर विरोध उपस्थित हो जायेगा। अतः शब्द या पद को इस आधार पर **इकाई** स्वीकार करना भी भ्रामक है।

८१. **सुबन्त-तिङन्त पद की स्थिति**—पाणिनि ने **पद** की परिभाषा करते हुए सुबन्त और तिङन्त को 'पद' कहा है : **सुप्तिङन्तं पदम्** (पा० १. ४. १४)। किन्तु इस बात से यह निष्कर्ष निकालना, कि प्रत्येक पद अपने आप में एक पूर्ण इकाई है, भ्रमपूर्ण होगा। 'शब्द' और 'पद' में एक मौलिक अन्तर है। अंग्रेजी में जिन्हें हम 'पार्ट्स ऑफ़ स्पीच्' कहते हैं, वे ही **पद** नाम से अभिप्रेत हैं। किन्तु, दोनों की स्थिति में मौलिक अन्तर यह है कि **पद** नाम विशेषतया उस शब्द रूप को दिया जाता है, जो भाषा में व्यवहृत होता है। **शब्द** एक सामान्य स्थिति है, किन्तु **पद-रूप** में प्रत्ययादि संयोग ग्रहण करने से पूर्व यह **शब्द** अपनी स्वतन्त्र सत्ता खो बैठता है। उस स्थिति में इसे पाणिनि ने अंग (पार्ट या स्टैम्) नाम दिया है।[1] यह अंग स्वतः अपूर्ण है। इसके बाद ही प्रत्ययादि कार्य होता है। प्रत्ययादि के संयोग से बनने वाला यह 'पद' ही भाषा-व्यवहार में समर्थ होता है। यही अर्थ की दृष्टि से पूर्ण भी होता है।[2] यह प्रकृति-प्रत्यय-संयोग व्यवहार-कल्पना के लिए ही है, अन्यथा **पद** का विभाग, ऐसे किसी आधार पर, मानना सर्वथा भ्रामक है।[3] प्रकृति और प्रत्यय 'पद' में **अविभाज्य रूप में** रहते हैं; यही उनकी संहति है।[4] 'संहिता' नाम पद को इसी आधार पर दिया गया है।

१. **'यस्मात्प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम्'** ॥ पा० १. ४. १३ ॥
२. **'समर्थः पदविधिः'** ॥ पा० २. २. १ ॥
३. **'प्रकृतिप्रत्ययादिवत्'** ॥ वा० ३. १. १ ॥
४. (१) **'परः संनिकर्षः संहिता'** ॥ पा० १. ४. १०९ ॥
(२) **'संहितैकपदे नित्या, नित्या धातूपसर्गयोः'**, इत्यादि (**काशिका**)।

परन्तु प्रश्न यह है कि, 'पद' की यह स्थिति क्या उसे स्वतन्त्र इकाई बना देती है ? प्रत्यय-संयोग ही वस्तुतः किसी भी शब्द को वाक् में प्रयोगार्ह बनाता है । यहाँ तक कि पाणिनि तो अव्यय नाम से गिने जाने वाले उपसर्ग, निपात, आदि को भी प्रत्ययान्त ही मानते हैं । यह बात दूसरी है कि उनके सम्मुख आने वाले प्रत्ययों का दर्शन नहीं होता ।[1] बहुत से अव्यय विभिन्न विभक्ति-वचनों में स्थिर हो चुके होते हैं । अतः विभक्ति, वचन, लिंग आदि के बन्धन से उनकी मुक्ति स्वीकार करने का अर्थ इतना ही है कि अब उनका प्रयोग उस एक विशिष्ट स्थिति में ही स्थिर हो चुका है । यह सब समझना इसलिए आवश्यक है कि संज्ञा, क्रिया, उपसर्ग, निपात, कर्मप्रवचनीय' आदि का सम्बन्ध वाक्य-प्रयोग या वाक्-प्रयोग में सुबन्त-तिङन्त आदि प्रत्ययों से, प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में, हो ही जाता है । स्पष्टतः ये प्रत्यय उनकी सम्बन्ध-सीमा को बढ़ा देते हैं : उन्हें **साकांक्ष** बना देते हैं । 'साकांक्ष' बनने के बाद ही 'शब्द' **पद** कहलाता है : उस स्थिति में वह, एकाकी रूप में किसी अभिधेय को स्पष्ट न करके, किसी उक्त या अनुक्त क्रिया अथवा संज्ञा आदि से सम्बन्ध को उत्सुक हो उठता है। इसी रूप में वह वक्ता की इच्छा की पूर्ण अभिव्यक्ति में समर्थ हो पाता है । वस्तुतः **समर्थ** वह पद नहीं होता, **पद-विधि** या **पद-योजना मिलकर समर्थ** (सम्+अर्थ=संहतार्थ) हो जाती है ।[2] अतः 'पद' सुबन्त-तिङन्त होकर भी, स्वतन्त्र **इकाई** नहीं, पराश्रित **अंग** ही बनता है । वह किसी बृहत्तर 'वाच्य' का अंग बन जाता है । वह **वाक् की स्वतन्त्र इकाई** नहीं बन सकता । उसे 'वाक्य' से पृथक् करके इकाई के रूप में देखना सर्वथा काल्पनिक है – व्यावहारिक सुविधा के लिए है; अतएव असत्य प्रयास है । उसके भेदोपभेद मानना तो और भी भ्रामक है ।

द्विधा कैश्चित्पदं भिन्नं चतुर्धापंचधाऽपि वा ।
अपोद्धृत्यैव वाक्येभ्यः प्रकृतिप्रत्ययादिवत् ॥ वा० ३. १. १ ॥
तस्माच्छक्तिविभागेन नित्यः सदसदात्मकः ।
एकोऽर्थः शब्दवाच्यत्वे बहुरूपः प्रकाशते ॥ वा० ३. ३. ८५ ॥
व्यवहारश्च लोकस्य पदार्थैः परिकल्पितैः ।
शास्त्रे पदार्थः कार्यार्थं लौकिकः प्रविभज्यते ॥ वा० ३. ३. ८६ ॥

पद तो उद्देश्य-विशेष से प्रेरित होकर किया गया एक विभाग मात्र है । अन्यथा वाक् या वाक्य (अभिधेय) अपद है, अविभाज्य है : **अपदेऽर्थे पदन्यासः कारणस्य न विद्यते,** (वा० ३. ३. ७६) । यदि वाक्य में पदों की स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार किया जाय, तब पदों में वर्णों की तथा वर्णों में भी वर्णैकदेश अथवा वर्णभागों की स्थिति को स्वतन्त्र स्वीकार करना होगा ।

---

१. **'अव्ययादाप्सुपः' ॥ पा० २. ४. ८२ ॥**
२. **समर्थः पदविधिः ॥ पा० २. २. १ ॥**

पदानि वाक्ये तान्येव, वर्णास्ते च पदे यदि ।
वर्णेषु वर्णभागानां भेदः स्यात् परमाणुवत् ॥ वा० २. २१ ॥
भागानामनुपश्लेषान्न वर्णो न पदं भवेत् ॥ वा० २. २१ ॥

८२. **परस्पराश्रय असम्भव**—यास्क ने निरुक्त में एक शंका का उल्लेख किया है : **अयुगपदुत्पन्नानां वा शब्दानामितरेतरोपदेशः** (नि० १. २. १७. २)। अर्थात्, 'जो शब्द एक साथ उत्पन्न नहीं होते उनकी सहस्थिति असम्भव है।' सहस्थिति के अभाव में वाक्य के रूप में अनेक पदों का अर्थैक्य अथवा भावैक्य असम्भव है। अतः इस युक्ति के अनुसार पदों का पृथक्-पृथक् अर्थ ही महत्त्वपूर्ण हो सकता है। इसी शंका ने **पृथक्सर्थपदम्** की भावना को जन्म दिया था। भर्तृहरि ने इस शंका को निम्न रूप में प्रस्तुत किया है :

केवलेन पदेनार्थो यावानेवाऽभिधीयते ।
वाक्यस्थं तावतोऽर्थस्य तदाहुरभिधायकम् ॥ वा० २. ४१ ॥
सम्बन्धे सति यत्त्वन्यदाधिक्यमुपजायते ।
वाक्यार्थमेव तं प्राहुरनेकपदसंश्रयम् ॥ वा० १. ४१ ॥'

अर्थात्, 'वाक्यार्थ विभिन्न पदों के अर्थों के संघात पर आधारित मात्र है। उसमें पदों के अर्थ से जो कुछ अधिक आ जाता है, उसे **वाक्यार्थ** कह देते हैं। शेष भाग पदों का अर्थमात्र होगा'। पदों और अर्थों पर वाक्यार्थ का इस प्रकार का संश्रय पदों की स्वतन्त्र महत्ता की सूचना देता है। इन दोनों युक्तियों से मिलती-जुलती एक तीसरी युक्ति ने भी जन्म लिया : वाक्य में पदों का जन्म या समावेश क्रम से होता है। कम से कम भावना या अर्थ के समय तो इस प्रकार का क्रम आवश्यक एवं अनिवार्य हो जाता है। अ-युगपद् उत्पत्ति व क्रम-सम्बन्धी शंकाएँ परस्पर आधारित हैं।

ताभ्यो वा जायते बुद्धिरेका सा भागवर्त्तिनी ।
सा हि स्वशक्त्या भिन्नेव क्रमप्रत्यवमर्शिनी ॥ वा० १. १५ ॥

पर, भर्तृहरि इस भेद-बुद्धि, चाहे वह **अयुगपदुत्पत्ति** की हो या **क्रमोत्पत्ति** की, को सारहीन समझते हैं। 'वाक्य' की सत्ता है अर्थैक्य पर, उसकी सर्वतः निराकांक्षिता पर। अर्थैक्य आधारित है भावना अथवा बुद्धि के ऐक्य पर। शब्द या पद चाहे पृथक्-पृथक् सुनाई दें, या उनकी मात्राएँ वा वर्ण पृथक्-पृथक् सुनाई दें, उनका ग्रहण जिस बुद्धि के द्वारा होता है, वह **एक** और **अखण्डनीया** होकर ही **अविभाज्य वाक्यार्थ** को **अभिधेय रूप में** स्पष्ट करती है। उस अखण्डीनया बुद्धि के सम्मुख **क्रम** और **युगपद्** की समस्या नहीं उठती। क्रम और काल का भेद बाह्य एवं ऊपरी रह जाता है। अन्ततः भावना (भाव) की एकता में सब कुछ डूब जाता है। अतः **भावना ही क्रम है।**

भावनासमये त्वेतत्क्रम सामर्थ्यमक्रमम् ।
व्यावृत्तभेदो येनार्थो भेदवानुपलभ्यते ॥ वा० २.२७ ॥

अत्युद्भुता त्वियं वृत्तिर्यदभागं यदक्रमम् ।
भावानां प्रागभूतानामात्मतत्त्वं प्रकाशते ।। वा० ३.३.७९ ।।
भावशक्तिमतश्चैनां मन्यन्ते नित्यवादिनः ।
भावमेव क्रमं प्राहुः न भावादपरं क्रमः ।। वा० ३.३.८१ ।।

वस्तुतः **क्रम** और **युगपत्** दो काल्पनिक अवस्थायें हैं, जिनकी सत्ता तभी तक है जब तक भावैक्य नहीं पहिचान लिया जाता । **भावैक्य** के पहचानते ही अन्य सब अप्रधान हो जाते हैं । भावना के लिये उन दोनों का महत्त्व एक जैसा है : **क्रमान्न यौगपद्यस्य कश्चिद्भेदोऽस्ति तत्वतः** (वा० ३.३८२) ।

अतः यह युक्ति भी परिहेय है ।

८३. पद-विभाग की युक्ति – अगली युक्ति पद-विभाग अथवा वाक्य-विभाग के संबंध में है । उद्देश्य और विधेय का विभाग सर्वथा अस्वाभाविक है । सिर्फ समझने-समझाने की सुविधा के लिये ही उसकी सत्ता है । पद-विभाग की बात को सबसे पहले यास्क ने इस तरह स्पष्ट किया था : **तद्यान्येतानि चत्वारि पदजातानि नामाख्यातोपसर्ग-निपाताश्च** (नि० १.१.८) । पाणिनि इनमें **कर्मप्रवचनीय** की पृथक् सत्ता को अन्तर्गृहीत करते हैं ।[१] पतंजलि व भर्तृहरि ने भी वह गिनती पूरी की है । परन्तु, क्या यह भेद सत्य है ? भर्तृहरि इस भेद को केवल सुविधा-व्यापार ही समझते हैं । अर्थ की नित्य एकता और अभिधेय की समग्रता एवं अविभाज्यता को स्वीकार करने वाला **पद-भेद** को कैसे स्वीकार कर सकता है ? यह तो कल्पना-शक्ति का चमत्कार है कि हम समझने-समझाने की सुविधा के लिये **संज्ञा, क्रिया, उपसर्ग, निपात, कर्मप्रवचनीय** आदि भेदोपभेद स्वीकार कर लेते हैं । अन्यथा, **अर्थ एक नित्य और अविभाज्य है :**

तस्माच्छक्तिविभागेन नित्यः सदसदात्मकः ।
एकोऽर्थः शब्दवाच्यत्वे बहुरूपः प्रकाशते ।। वा० ३.३.८५ ।।

जिसने शब्द को ही अर्थ का **आवरण या आडम्बरमात्र** स्वीकार किया, वह शब्दों के विविध भेदों को मान्यता क्यों देता ?

इस विभाग की आवश्यकता पर भी शंका उठ सकती है । सत्य यह है कि यह विभाग निरा आकृतिगम्य है । संज्ञाओं में सुबादि प्रत्यय होते हैं, और **क्रियाओं** में तिङादि । **उपसर्गादि** में प्रत्यक्षतः कोई प्रत्यय नहीं दिखाई देता । उनमें से **उपसर्ग** सदा धातु से संयुक्त रहते हैं और उसी रूप में अर्थैक्य की अभिव्यक्त करते हैं ।[२] **कर्मप्रवचनीय** धातु के साथ प्रयुक्त होकर भी किसी विशिष्ट इंगित को वहन करते हैं ।[3] **निपात** स्वतन्त्र रूप में प्रयुक्त होते हैं ।[४] इन सबको 'पद' कहने का अर्थ इनकी

---

१. **कर्मप्रवचनीयाः** (वा० १.४.८३)।
२. देखिए अनुच्छेद १३६ ।
३. देखिए अनुच्छेद १३८ ।
४. देखिये अनु० १४० ।

वाक्यस्थ गौण-स्थिति को बताना है। सुप्, तिङ् आदि प्रत्यय के संयोग ने इन्हें परस्पराश्रित अथवा किसी एक बृहत् अर्थ — **वाक्यार्थ** — के अधीन कर दिया है। इस पर भी संज्ञाक्रियादि विभाग की मूल वृत्ति के विषय में शंका उठती है। **सत्वप्रधान** और **भावप्रधान** कह कर किये जाने वाले नाम और आख्यात[1] के विभेद को स्वयं यास्क ने शंका की दृष्टि से देखा है: **'तद्यत्रोभे भावप्रधाने भवतः'** (नि० १.१.१०) भर्तृहरि की इस विषयक दृष्टि की विस्तृत विवेचना हम सप्तम अध्याय 'पद-विवेचन' में करेंगे। यहाँ हमें इतना ही कहना है कि इस सब विभाग का वैज्ञानिक विश्लेषण करके भी भर्तृहरि इसे निरर्थक या अनुपकारक ही मानते हैं।[2]

वास्तविकता यह है कि पार्ट्स आफ़ स्पीच या पद-विभाग के रूप में हम कितनी ही पद-संख्या निश्चित कर लें, अभिधेय की एकता और अविभाज्यता की तुलना में, वह सब उपहासास्पद एवं अस्वीकार्य ही होगा। वह **वाक्यार्थ की सिद्धि** का एक गौण उपाय मात्र है। **इन्द्रियनित्यं वचनमौदुम्बरायणस्तत्र चतुष्ट्वं नोपपद्यते** (नि० १.११.७.२) में औदुम्बरायण ने जो **चतुष्ट्व** का निषेध किया है, वह वाक्य की बुद्धिस्थ एकता के कारण ही :

> **वाक्यस्य बुद्धौ नित्यत्वमर्थयोगं च लौकिकम्।**
> **दृष्ट्वा चतुष्ट्वं नास्तीति वार्ताक्षौदुम्बरायणौ** ॥वा० २.३४७॥

८४. विवक्षा द्वारा रूप ग्रहण — वक्ता की इच्छा का प्रश्न अवश्य विचारणीय है। वक्ता की इच्छा जिस आत्माभिव्यक्ति के लिये व्यग्र होती है, वह किसी वस्तु या भाव-विशेष के इंगित के लिये न होकर, किसी वक्तव्य, अभिधेय या भावना के लिये होती है। **शब्द** उस अभिव्यक्ति के माध्यम बनते हैं। **वाक्य** उसी अभिधेय या **वक्तुरिच्छा** का शरीर है : शब्द या पद उसी के अंग हैं। **प्राण** या वायु उसी इच्छा को शब्द-विभाग द्वारा प्रगट करते हैं।

> **लब्धक्रियः प्रयत्नेन वक्तुरिच्छानुवर्तिना।**
> **स्थानेष्वभिहितो वायुः शब्दत्वं प्रतिपद्यते** ॥ वा० १.१०९ ॥
> **अथायमान्तरो ज्ञाता सूक्ष्मे वागात्मनि स्थितः।**
> **व्यक्तये स्वस्य रूपस्य शब्दत्वेन विवर्तते** ॥ वा० १.११३ ॥

वाक्य का कार्य होता है, एक अभिधेय या अभिप्राय की पूर्ण अभिव्यक्ति। यदि यह कार्य एक शब्द या एक वर्ण से भी पूर्ण हो जाता है, तो वह ही **वाक्य-स्थानीय** कहलायेगा। इस विषय में शर्त एक ही है : **वक्तव्य की पूर्णता :**

> **सोऽयमित्यभिसम्बन्धो बुद्ध्या प्रक्रम्यते यदा।**
> **वाक्यार्थस्य तदैकोऽपि वर्णः प्रत्यायकः क्वचित्** ॥ वा० २.४० ॥

---

१. भावप्रधानमाख्यातम्, सत्वप्रधानानि नामानि (नि० १.१.९)।
२. वा० ३.१.१; २.९; २.२१९

अतः वर्ण हो, पद हो, या पद-समूह—यदि वह वक्ता की इच्छा अथवा अभिधेय की अभिव्यक्ति में पूर्ण समर्थ है, तब वह वाक्य ही है : वाक् की इकाई ही है। उसके लिये कोई भी अन्य शर्त आवश्यक नहीं है। शब्द या पद तो उसी एक बृहद्-अभिव्यक्ति के चरणमात्र हैं।

समन्वित इवार्थात्मा पदार्थैर्यः प्रतीयते ।
पदार्थदर्शनं तत्र तथैवानुपकारकम् ।। वा० २.२१६ ।।

आत्मा अखण्ड है, अविभाज्य है :

अस्यद्भुता त्वियं वृत्तिर्वदमानं यदक्रमम् ।
भावानां प्रागभूतात्मतत्त्वं प्रकाशते ।। वा० ३.३.७८ ।।

वाक्य ही वाक् की एकमात्र इकाई है, अन्य कुछ नहीं :

न लोके प्रतिपत्तृणामर्थयोगात्प्रसिद्धयः ।
तस्मादलौकिको वाक्यादन्यः कश्चिन्न विद्यते ।। वा० २.३४६ ।।

अंगों की शरीर से पृथक् कोई सत्ता नहीं, पदों की वाक्य से पृथक् कोई सत्ता नहीं :

पृथङ्निविष्टतत्त्वानां पृथगर्थानुपातिनां ।
इन्द्रियाणां यथा कार्यमृते देहान्न विद्यते ।। वा० २.४२६ ।।
तथा पदानां सर्वेषां पृथगर्थनिवेशिनाम् ।
वाक्येभ्यः प्रविभक्तानामर्थवत्ता न विद्यते ।। वा० २.४२७ ।।

सत्य यह है कि 'वाक्य' के सम्मुख पद और वर्ण सत्ताहीन से ही हैं।[1] **वाक्य एक स्वतः-पूर्ण इकाई है, जबकि शब्द या पद स्वतःपूर्ण नहीं हैं।**

८५. शब्द अविभाज्य इकाई – उपर्युक्त युक्ति-क्रम से विचार करने पर यह स्वतः सिद्ध हो जायेगा कि **शब्द कोई अविभाज्य इकाई नहीं है**। अर्थ की दृष्टि से, **प्रत्यायक** या **संकेतक** के रूप में, जो स्थिति **शब्द** की है, वही स्थिति **वर्ण** की भी है। यदि शब्द में प्रत्यय और विनिश्चय कराने की सामर्थ्य है, तो वर्ण भी अनेकत्र इस प्रकार का प्रत्यय कराने में समर्थ हो जाता है (वा० २.४९)। प्रत्यायक होने से शब्द, गार्डिनर के अनुसार, अर्थात्मक इकाई यदि स्वीकार भी कर लिया जाय, तो भी 'भाषा की इकाई' के रूप में उसे स्वीकृति नहीं दी जा सकती।[2] भाषा है दो मनों के बीच के आदान-प्रदान की माध्यमभूता।[3] **प्रयोक्ता** शब्दों के चयन द्वारा अपने **अभिधेय** को व्यक्त करता है, **ग्रहीता** भी उसी **प्रतिपाद्य** की प्राप्ति के लिये उन्हीं शब्दों का सहारा लेकर आगे बढ़ता है।[4] शब्द **अर्थात्मक इकाई** भी नहीं रह जाता, यदि उसकी प्रयोग-भावना स्पष्ट न हो, केवल सत्तामात्र से ही उनका अभिप्रेत पूर्ण नहीं हो जाता।[5]

१. वा० १.७४; २. ६. २. Sp. and Lg., by A.H.G., pp. 88.
३. वा० ३.३.३३. ४. वा० २.५४. ५. वा० १.५७.

यदि फिर भी शब्दों को अर्थात्मक इकाई स्वीकार किया ही जाय, तब उनमें प्रकृति-प्रत्यय-विभाग आदि का प्रश्न उठता है। पाणिनि ने **'अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम् (पा० १.२.४५)'** में प्रातिपदिक के साथ प्रत्यय और धातु को भी अर्थवत् स्वीकार किया है। किन्तु, पद के सुबन्त या तिङन्त बने बिना उन्हें प्रयोगार्ह भी स्वीकार नहीं किया। भर्तृहरि ने भी स्पष्ट किया है: **धात्वादीनां विशुद्धानां लौकिकोऽर्थो न विद्यते** (वा० २.२१२)। धातु और प्रत्यय को ही मूलतः अविभक्त-प्रकृति कहा जा सकता है। संज्ञाओं का निर्माण तो प्रायः धातु-परक या धात्वाधारित ही होता है। किन्तु, यदि ऐसी अविभाजित 'इकाई' वाक् में प्रयुक्त ही नहीं हो सकती, तब उसे वाक् की इकाई स्वीकार ही कैसे किया जा सकता है? ऐसी इकाई तो **अपद, अक्रम, अविभाज्य वाक्य ही है।**

> **अविभागं तु शब्देभ्यः क्रमवद्भयोऽपदक्रमम्।**
> **प्रकाशते, तदन्येषां वाक्यं वाक्यार्थ एव च ॥** वा० २.४२२ ॥

यदि उसके भेद सम्भव मान लिये गये, तब पदों और वर्णों के भी भेदोपभेदों की स्वीकृति का प्रश्न उठेगा।[1]

और, ऐसी स्थिति में न वर्ण सम्भव होगा, न पद और न वाक्य। **अतः शब्द-तत्व को अक्षर[2] कहने का अर्थ, शब्द या पद को भाषा की इकाई बताना न होकर, 'वाक्-तत्व' या भाषा-तत्व की अविनश्वरता बताना भी है।**

८६. अकथित भी 'वाक्य' में ही गृहीत है – फिर, वाक्य को इकाई स्वीकार करने का एक और भी कारण है। 'वाणी' और 'भाषा' उतने सबका ही नाम नहीं है, जिसे हम उच्चरित शब्दों द्वारा दूसरे तक पहुँचाते हैं, बल्कि वह सब भी भाषा में आता है, जो शब्दों की पकड़ की सीमा में न आकर भी **श्रोता तक पहुँच** जाता है। पाणिनि ने **अनुक्त, अनभिहित, अकथित** आदि शब्दों के माध्यम से ऐसी ही वाग्वृत्तियों की ओर इंगित किया है। **व्यंजना** और **ध्वनि** की तथाकथित सत्ता ही इस अनभिहित अंश की स्पष्टता के लिये मानी गई है। भर्तृहरि तो भाषा का कार्य ही मानते हैं: **वक्ता के बुद्ध्यर्थ की श्रोता या ग्रहीता के बुद्ध्यर्थ के रूप में परिणति**[3]। यही है वह **आधिक्य,** जो पदों के समवेत होने पर, स्वतः अपद होकर भी, समाविष्ट हो जाता है। इसे ही कुछ ने **वाक्यार्थ** कहा है।[4] इसे ही हम **मौन-श्रुति** कह सकते हैं। इस मौन को व्यक्त करने में **पद** नहीं, अपद और अक्रम **वाक्य** ही समर्थ होता है।

अतः वाक्य ही 'वाक् की इकाई' कहा जा सकता है। शब्द को अर्थात्मक स्वीकृति के कारण भाषा की कल्पित इकाई के भले ही स्वीकार किया जा सकता है।

---

१. वा० १.७४; २.२८. २. वा १.१. ३. वा० ३.३.३३.
४. वा० २.४१-४२; २.६२ ॥ ५. Sp. and Lg.. A. H. G., pp. 88.

वाक्य का स्वरूप

८७. **वाक्य भी शब्द है** – भाषा-तत्व की इकाई के सम्बन्ध में भर्तृहरि के विचारों की समीक्षा के बाद यह उचित और सावसर ही होगा कि हम 'वाक्' के इस वास्तविक स्वरूप—**वाक्य**—पर एक विस्तृत दृष्टि डाल लें। दुहराने की आवश्यकता नहीं कि गत अध्याय में **वाक् की इकाई** पर विचार करते हुए हमने देखा है कि **भर्तृहरि वाक्य को ही वाक् की इकाई स्वीकार करते हैं : अर्थात्मक रूप में भी, ध्वन्यात्मक रूप में भी।** 'शब्द' या 'पद' की सत्ता को वे 'सापेक्ष' ही स्वीकार करते हैं। वास्तविक मान्यता उन्हें नहीं देते। फिर भी एक जिज्ञासा शेष रह जाती है : शब्द को **ब्रह्म** मान कर भी वे उसे **इकाई** क्यों नहीं मानते ? इस प्रश्न का उत्तर देने से पूर्व हमें उनकी वाक्य-विषयक धारणा को समझ लेना आवश्यक होगा। तभी हम जान सकेंगे कि जिसे वे **शब्द-ब्रह्म**[1] कह रहे हैं, उसे ही वे 'वाचः परमो रसः'[2] भी कहते हैं। स्वभावतः **उनका शब्द-ब्रह्म वाणी की आन्तरिक वास्तविकता से अभिन्न है।** वाणी की इस आन्तरिक वास्तविकता (**वाच्य**) की बाह्य अभिव्यक्ति ही **वाक्य** है—

'यदन्तः शब्दतत्वं तु नादैरेकं प्रकाशितम्।
तदाहुरपरे शब्दं तस्य वाक्ये तथैकता' ॥ नि० २. ३० ॥'

यहाँ स्पष्टतः **शब्दतत्व, शब्द** और **वाक्य** को एक ही स्वीकार किया गया है। इसी आधार पर वाक्य में भी **शब्द की एकता** स्वीकार की गई है।

भर्तृहरि की इस धारणा का अध्ययन करते हुए वाक्य-सम्बन्धी विविध मान्यताओं पर दृष्टिपात करना भी अप्रासंगिक न होगा। इन्हीं मान्यताओं के कारण 'वाक् की इकाई' के सम्बन्ध में मतिभ्रम उत्पन्न हो जाता है।

८८. **व्याकरण व भाषा-तत्व की दृष्टि** – अपने 'वाक्यपदीय' के द्वितीयकाण्ड – **वाक्य-काण्ड** – के आरम्भिक दो श्लोकों में ही भर्तृहरि ने वाक्य-सम्बन्धी आठ मतभेदों की चर्चा की है। उन्होंने इन [illegible] को यहीं तक सीमित नहीं किया है। अन्य भी सम्भाव्य मतभेदों—बहुधा—[illegible] की ओर उन्होंने संकेत कर दिया है। कहना न होगा कि आधुनिकतम मतभेदों का समावेश भी इन आठ मतों के अन्तर्गत ही हो जाता है। कह सकते हैं कि ये मतभेद 'व्याकरण' एवं 'भाषा-तत्व' के दृष्टिकोणों की विविधता—**शब्द अथवा वाक्य [illegible] की युक्ति**—पर आधारित हैं। किन्तु, दार्शनिकता भी जब

---

१. [illegible] १३२.   २. वा० १. १२.

वस्तु-विवेचन की दृष्टि से हीन होकर तर्क की शुष्क सरणि पर बढ़ जाती है, तब अनेक 'वादों' का जन्म हो जाता है। भर्तृहरि ने ऐसे 'दार्शनिक' मतभेदों का विवेचन एवं विश्लेषण न करके, **व्याकरणात्मक एवं भाषा-तात्विक** दृष्टिकोणों पर आधारित आठ वादों को ही अपने विश्लेषण का विषय बनाया है। ये आठों मत मुख्यतः इन दो दृष्टिकोणों का ही प्रतिनिधित्व करते हैं। भर्तृहरि के विश्लेषण का सार यह है कि **व्याकरण और भाषा-तत्व दो विरोधी सत्यों का संकेत कभी नहीं कर सकते। दोनों का ध्येय और ज्ञेय एक है।**

८६. **आठ मत** – इन आठों मतों की गणना भर्तृहरि ने इस प्रकार की है :—

आख्यातशब्दः, संघातो, जातिः संघातवर्त्तिनी।
एकोऽनवयवः, शब्दः, क्रमो, बुद्ध्यनुसंहृतिः ॥ वा० २. १ ॥
पदमाद्यं, पृथक्सर्वपदं साकांक्षमित्यपि।
वाक्यं प्रति मतिर्भिन्ना बहुधा न्यायवादिनाम् ॥ वा० २.२ ॥

प्रथम मत के अनुसार आख्यात या क्रिया ही वाक्य का प्राण है : वाक्य है। वह अकेली रह कर भी सम्पूर्ण 'वाक्य' के अर्थ को वहन कर सकती है। **द्वितीय मत** विविध पदों के संघात का नाम 'वाक्य' स्वीकार करता है। **तृतीय मत** यह तो स्वीकार करता है कि पद-संघात से 'वाक्य' बनता है, किन्तु वह, उन पदों के अर्थों की पृथक् सत्ता को स्वीकार न करके, सम्पूर्ण पद-समूह से उत्पन्न होने वाली एकात्मक और समग्र प्रतीति को 'वाक्य' की आवश्यक शर्त स्वीकार करता है। **चतुर्थ मत** में पदों और पदार्थों के अस्तित्व को सर्वथा उपेक्षित माना गया है और 'वाक्य' को **एक, अविभाज्य, अक्रम और अपद इकाई** स्वीकार किया गया है। **पंचम मत** में एक ध्वनि के बाद उठने वाली दूसरी ध्वनि और एक पद के बाद आने वाले दूसरे पद को एक दूसरे का **उपकारक** स्वीकार किया गया है और क्रमशः उपचीयमान अर्थ का द्योतक माना गया है। **षष्ठ मत** के अनुसार शब्द और शब्द-समूह केवल बाह्य आकार माने गए हैं। आकारों में 'सत्य' नहीं रहता; इसीलिए उनमें भी 'वाणी' की वास्तविकता स्वीकार नहीं की गई। वाणी का जन्म होता है बुद्धि की विषयगत एकाग्रता से, और ग्रहण भी होता है उसी एकाग्रता से। **अतः वाक्य वह है, जो इस बुद्धिगत एकाग्रता को प्रदान कर सके। सप्तम मत** के अनुसार वाक्य का पहला पद, उच्चारण होते ही, सम्पूर्ण वाक्यार्थ की अभिव्यक्ति देने में समर्थ हो जाता है। इसमें ही अन्य पदों का भाव अभिव्यक्त करने की सामर्थ्य रहती है। **अन्तिम मत** इससे कुछ ही भिन्न है। प्रत्येक पद का अर्थात्मक महत्त्व निश्चय ही स्वतन्त्र होता है। किन्तु, **एक-वाक्यता** के लिए यह आवश्यक है कि **वाक्य** नाम से गृहीत होने वाले सब पद एक दूसरे के बिना अधूरे-से प्रतीत हों। उन से, एकाकी अवस्था में, जिस भी अर्थ की अभिव्यक्ति होती है, वह स्वयं अपूर्ण-सा, 'कुछ और' माँगता-सा, लगता है। उसकी यह 'आकांक्षा', जितने भी पदों से निवृत्त हो

जाय, उसी का नाम 'वाक्य' है।

९०. **खण्ड और अखण्ड पक्ष** – इन मतों का तनिक भी पर्यवेक्षण इस सत्य को स्पष्ट कर देगा, कि ये मत मुख्यतः **दो** धारणाओं पर केन्द्रित हैं। एक के **अनुसार** वाक्य खण्डात्मक इकाइयों से बनता है। **दूसरी के अनुसार** वह एक और अखण्ड है। उपरोक्त आठ मतों में से पाँच मत प्रथम धारणा पर आधारित हैं। ये पाँच मत हैं—प्रथम, द्वितीय, पंचम, सप्तम और अष्टम। तृतीय, चतुर्थ और षष्ठमत वाक्य की अखण्डता को मानकर चले हैं। इन दोनों वर्गों को हम क्रमशः खण्डवादी और **अखण्डवादी** कह सकते हैं। पाश्चात्य और पूर्वीय परम्परावादी वैयाकरण 'पद' को इकाई मानकर चले ही हैं, किन्तु न्याय, सांख्य और **मीमांसा** जैसे दर्शनों ने भी **शब्द या पद** को ही इकाई माना है। इन में भर्तृहरि ने 'मीमांसा' के मत को इसीलिए विवेच्य समझा है कि उस ने, परम्परावादी वैयाकरण मत की चिन्ता न करके, अपनी ही सरणि पर चल कर पद की सापेक्ष स्वतन्त्रता और व्यावहारिक पराश्रितता का उल्लेख किया है। उसी की प्रधान युक्ति का आश्रय लेकर पद-वादी—खण्डवादी—पांचों मत चले हैं। उसकी युक्ति **भाषा-तत्व** का आधार लेकर चली है, **व्याकरण** का नहीं। दूसरे, इसके विपरीत अखण्डतावादी तीनों मत हैं ही **भाषा-तत्व** पर आधारित। परन्तु यहाँ भर्तृहरि इस सत्य को नहीं भूले हैं कि पाणिनि और पतंजलि भी 'वाक्' की इस अखण्डनीयता – **वाक्य अथवा संहिता** – पर ही अपने अध्ययन को आधारित करते हैं। पाणिनि की **प्रातिपदिक,**[1] **पद,**[2] **अंग,**[3] **पदविधि**[4] **एवं संहिता**[5] की परिभाषाएँ 'पद' की अपेक्षाकृत गौण, अतएव पराश्रित, स्थिति की सूचक मात्र हैं। यास्क, पाणिनि और पतंजलि ने प्रातिशाख्य के दो वचनों का समर्थन बलपूर्वक किया है : **पदप्रकृतिः संहिता; परःसंनिकर्षःसंहिता।** पाणिनि ने परवर्ती सूत्र को अपना लिया है। उस पर टिप्पणी करते हुए पतंजलि 'गौ' में, शब्दतत्व की निश्चिति के प्रयास में, ध्वनि आदि की असामर्थ्य को बताकर, अन्ततः भावना अथवा बुद्धि की समस्तता या समग्रता पर ही बल देते हैं।[6] **'पदप्रकृतिः संहिता'** जैसे प्रातिशाख्य-वचन के भी अर्थ को, तोड़-मरोड़ कर, दोनों ओर—पद एवं संहिता की ओर—खींचा गया। एक के अनुसार **पदों की प्रकृति (मूल)** संहिता है, दूसरी के अनुसार **संहिता की प्रकृति या (आधार) पद** हैं। भर्तृहरि इन दोनों मान्यताओं से परिचित हैं। परन्तु, 'पद' की पृथक् दीखने वाली सत्ता को वे केवल एक व्यावहारिक सुविधा मात्र ही मानते हैं।[7] उनकी दृष्टि में **पद** और **प्रातिपदिक** आदि संज्ञाएँ विशिष्ट

---

१. **अर्थवदधातु०, पा० १. २. ४५।** २. **सुप्तिङन्तं पदम्, पा० १.४. १४।**
३. **यस्मात्प्रत्ययविधि०, पा० १. ४. १३।** ४. **समर्थः पदविधिः, पा० २. १. १।**
५. **परः संनिकर्षः संहिता, पा० १. ४. १०९।**
६. अथ **गौरित्यत्र०, महा० सूत्र १. ४. १०९।** ७. **'पदप्रकृतिभावश्च', वा० २. ५९।**

आवश्यकता की दृष्टि से ही वर्णित होती हैं। व्याकरण में, मौलिक मान्यता **संहिता** को देने के बाद भी, पद ही वर्ण्य रहता है, क्योंकि उसके रचना-तत्व का ही विस्तार 'व्याकरण' में है। परन्तु, भर्तृहरि ने पाणिनि और तत्कृत व्याकरण का उद्देश्य कुछ और ही खोज निकाला है : 'वाणी के परम रस को पा लेने का साधन-मात्र'।[७] यह 'परम रस' क्या है? इसे ही स्वयं भर्तृहरि **'यत्र वाचो निमित्तानि'**[८] के रूप में अभिहित करते हैं। पदों के लिंग, विभक्ति, वचनादि चिह्न ही नहीं, उनकी अपनी सत्ता के बिना भी इस 'परम रस' की उपलब्धि हो सकती है। इसलिए वाक्य का पदरचना से, संख्या या अन्य किसी रूप में, निश्चयात्मक सम्बन्ध मानना अनुचित एवं अस्वाभाविक है। **वाक्यरचना** जैसा कोई भी शब्द, इसीलिए, महत्वहीन एवं भ्रामक है।

६१. **खण्ड-पक्ष : कात्यायन एवं मीमांसा के मत** – वाक्य सम्बन्धी इन विविध मतों की परीक्षा के लिये पहले हमें **खण्ड-पक्ष** को ले लेना चाहिए। इस पक्ष की मत-परीक्षा के बाद ही भर्तृहरि की अखण्डात्मक धारणा को ठीक से समझने में सहायता मिलेगी। खण्ड-पक्ष में ऊपर पाँच मतों की गणना की गई है। ये सभी मत किसी न किसी रूप में पद की व्यक्तिगत सत्ता एवं उसके व्यक्तिगत अर्थ के महत्वांकन पर ही आधारित हैं। इन पाँचों मतों को भली प्रकार समझने के लिए हमें सब से पूर्व मीमांसा के मत को समझना उचित होगा। इस मत को लेकर चलने वाले **अभिहितान्वयवाद** एवं **अन्विताभिधानवाद** के अन्तर्गत ही उन पाँचों मतों का समावेश किया जाता है। मीमांसा में वाक्य का लक्षण किया गया है : **अर्थैकत्वादेकं वाक्यं, साकांक्षं चेद्विभागे स्यात्** (मी० २.१.४६)। अर्थात्, 'वाक्य अपने अर्थ की समग्रता के कारण है तो एक ही, किन्तु यदि उसका पद-विभाग किया ही जाए तो प्रत्येक पद साकांक्ष बना हुआ प्रतीत होगा।' इस मत के अनुसार प्रत्येक **पद**, अपने आप में एक पूर्ण वाक्यार्थ या अर्थ की अभिव्यक्ति में, **अपूर्ण** होता है और वह वाक्य के समस्त पदों के साथ रह कर ही एक पूर्ण अर्थ की सृष्टि करता है। किन्तु, वाक्य से उसका विभाग सम्भव है और, चाहे साकांक्ष एवं अपूर्ण ही सही, उसका व्यक्तिगत अर्थ भी सम्भव है। वाक्य एवं अर्थ को विभाज्य स्वीकार करना भर्तृहरि की धारणा से सर्वथा विपरीत है।

शब्दस्य न विभागोऽस्ति कुतोऽर्थस्य भविष्यति।
विभागैः प्रक्रियाभेदमविद्वान्प्रतिपद्यते॥ वा० २. १३॥

भर्तृहरि जिसे अविद्वानों के लिए बोध का उपाय कहते हैं, उसे ही **मीमांसा** ने वस्तुस्थिति के रूप में स्वीकार किया है। **मीमांसा** के इस मत को पुष्ट करने, तथा इसी के दूसरे पक्ष को उपस्थापित करने, वाला मत है **कात्यायन का 'आख्यातं साव्यय-**

---

७. **प्राप्तरूपविभागायाः यो वाचः परमो रसः।** (वा० १. १२)।
८. **यत्र वाचो निमित्तानि।** (१. २०)।

कारकविशेषणं वाक्यमेकतिङ् इति' । अर्थात्, 'अव्यय, कारक और विशेषण से युक्त एक धातुरूप या आख्यात ही वाक्य है।' उनके अनुसार, वाक्य का मूलाधार है **आख्यात**, जो एक ही धातुरूप (पद) द्वारा व्यक्त होता है, किन्तु जिसकी पूर्णता अव्यय, विशेषण एवं कारकादि द्वारा होती है। दूसरे शब्दों में, वाक्य की पूर्णता में अनेक पद, इकाइयों के रूप में, भाग लेते हैं। आख्यात अथवा एकतिङ् कहने से वाक्य की फलगत अथवा भावनागत एकता प्रतीत होती है। किन्तु, अव्ययकारकादि की पृथक्-परिगणना से पदार्थों की स्वतन्त्र सत्ता भी प्रतीत होती है। भर्तृहरि स्वीकार करते हैं कि इन दोनों मतों में पर्याप्त मतभेद है।

> **निघातादिव्यवस्थार्थं शास्त्रे यत्परिभाषितम् ।**
> **साकांक्षावयवं तेन न सर्वं तुल्यलक्षणम् ॥ वा० २. ३ ॥**

इसमें प्रथम पंक्ति में उन्होंने कात्यायन के महाभाष्योक्त मत के उद्देश्य को बताया है, तथा दूसरी पंक्ति में मीमांसा के मत से उसकी भिन्नता स्वीकार की है।[1] परन्तु परिणाम दोनों का एक ही है। दोनों ही **वाक्य की एकार्थता** स्वीकार करते हैं। साथ ही, दोनों ही **पदों की स्वतन्त्र सत्ता** को भी स्वीकार करते हैं। उनकी दृष्टि में वाक्य की रचना में पदों का सहयोग, किसी न किसी रूप में, रहता ही है। भर्तृहरि ने इन मतों की इस मौलिक एकता को पहचान कर ही इन दोनों का सार इस रूप में प्रस्तुत किया था :

> **साकांक्षावयवं भेदे परानाकांक्षशब्दकम् ।**
> **कर्मप्रधानं गुणवदेकार्थं वाक्यमिष्यते ॥ वा० २.४ ॥**

अर्थात्, 'वाक्य को दोनों ही मत **अनाकांक्ष** अथवा **निराकांक्ष** स्वीकार करते हैं। किन्तु, विभाग करने पर, दोनों ही, उसके पदों को एक दूसरे के बिना अपूर्ण अनुभव करते हैं। उनकी यह कमी दूसरे पदों के संयोग से ही पूर्ण होती है। ये दूसरे पद हैं — आख्यात (कर्मशब्द) और विशेषण (गुण) आदि। आख्यात है वाक्य की एकता का — एकार्थता का — द्योतक। यह एकार्थता — एक प्रयोजन के लिए व्यग्रता — ही वाक्य की एकता को सूचित करती है। इस प्रकार इन दोनों ही मतों में 'वाक्य' को **एकार्थ और निराकांक्ष** भी स्वीकार किया गया है, किन्तु उनके पदों को **विभाज्य एवं साकांक्ष** भी स्वीकार किया गया है।

९२. **मीमांसा मत : दो वाद** — मीमांसा के इस मत की विवेचना में आगे चल कर दो सरणियाँ फूट पड़ीं : एक ने **अर्थैकत्व** पर बल दिया और दूसरे ने **विभाग-जन्य साकांक्षता** पर बल दिया। अर्थैकत्व पर बल देने वाले मत को **अन्विताभिधानवाद** और

---

१. **पाणिनि के 'तिङ्ङतिङः' (पा० ८. २. २८) की व्याख्या में, महाभाष्य में, देखना चाहिए।**

साकांक्ष पदों के विभाग पर बल देने वाले मत को **अभिहितान्वयवाद** कहा गया है। 'पद' की पृथक् सत्ता को दोनों ने ही स्वीकार किया है। किन्तु, प्रथम मत वाले पदों के अर्थों को. 'स्वार्थ' का विधायक न मान कर, किसी 'समन्वित अर्थ' का विधायक या प्रकाशक स्वीकार करते हैं, जब कि दूसरे मत वाले प्रत्येक पद को स्वतन्त्र अर्थ का वाहक समझते हैं। इस परतर दृष्टि के अनुसार विविध पदों के स्वतन्त्र अर्थों के संयोग से ही वाक्य या वाक्यार्थ का उदय होता है। इस प्रकार प्रत्यक्षतः ये दोनों मत एक दूसरे के विरोधी दिखाई देते हैं। किन्तु, वस्तुतः दोनों के मूल में 'पद' एवं 'पदार्थ' की स्वतन्त्र मान्यता का सिद्धान्त ही कार्य कर रहा है; यद्यपि वाक्यार्थ की एकता के विषय में दोनों मतों का अन्तर भी उपेक्षणीय नहीं है।

९३. **खण्ड पक्ष : दो वर्ग** — वस्तुतः खण्ड-पक्ष अथवा पद को मान्यता देने वाले पाँचों मत उपरोक्त दो मतों के अन्दर ही वर्गीभूत हो जाते हैं। उनमें से **आख्यात, आदि-पद**, एवं **साकांक्ष पद** सम्बन्धी मत **वाक्यार्थ की एकता** को स्वीकार करके चलते हैं। अतः उन्हें स्थूल रूप में 'अन्विताभिधान' में **समवेत** किया जा सकता है। दूसरी ओर, **संघात** और **क्रम** मत में पदों की **पृथगर्थता** पर अधिक बल दिया गया है। अतः उन्हें **अभिहितान्वयवाद** के अन्तर्गत रखना अधिक उचित है। ये पाँचों मत पहले से ही चल रहे थे, किन्तु इन दोनों 'वादों' ने, इनके आपसी भेदों को कम करके, इन सभी को दो वर्गों में सीमित कर दिया।

९४. **आख्यात-पद ही वाक्य है** — अर्थैकत्व को लेकर चलने वाले मतों में सर्वाधिक प्रमुखता **आख्यातपद** वाले मत को दी जा सकती है। इस मत के अनुसार **क्रिया को ही वाक्य कहा जाना चाहिए।** वह अकेली रहने पर भी सम्पूर्ण वाक्य की अभिधायक रह सकती है। **मेघो वर्षति** के स्थान पर केवल **वर्षति** कहने से भी अभिप्राय का बोध हो सकता है।[1] कारक आदि **साधनों** की कल्पना **साध्य** से ही अनुमित हो जाती है।

आख्यातशब्दे नियतं साधनं यत्र गम्यते।
तदप्येकं समासार्थं वाक्यमित्यभिधीयते ।। वा० २. ३२८ ।।

भर्तृहरि ने तृतीय काण्ड में क्रिया को **फल-दायिनी** कहा है।

अनन्तरं फलं यस्याः कल्पते तां क्रियां विदुः ।। वा० ३. ८. १५. ।।

स्वभावतः क्रियावाचक **पद** को 'वाक्य' में महत्त्व प्राप्त होता है। परन्तु, केवल उस शब्द के प्रयोग से तब तक सम्पूर्ण अर्थ का भान नहीं होता, जब तक अन्य-कारकादि-की अनुमिति न की जाय। बुद्धि का क्षेत्र केवल **प्रयुक्त पदों** तक ही सीमित नहीं है। वह **अप्रयुक्त पदों** द्वारा भी अपना ज्ञातव्य पूरा कर लेती है। अतः एकाकी **आख्यात**

---

१. तुलनीय : श्री गार्डिनर की 'स्पीच एण्ड लैंग्वेज' के पृष्ठ ९१ पर 'Rain...' **के उदाहरण से।**

शब्द से भी पूर्ण अर्थ की उपलब्धि में उसे बाधा नहीं होती ।

> **शब्दव्यवहिता बुद्धिरप्रयुक्तपदाश्रया ।**
> **अनुमानात्तदर्थस्य प्रत्यये हेतुरुच्यते ॥ वा० २.३२९ ॥**

यह मत वाक्य के एक प्रकार भेद को सूचित अवश्य करता है, किन्तु इसे वाक्य की एक मात्र परिभाषा स्वीकार नहीं किया जा सकता । भर्तृहरि तो यह मानते हैं कि साकांक्ष और सापेक्ष रहने पर भी जिन्हें हम 'वाक्यार्थ' समझ बैठते हैं, उनकी व्यावहारिक और वास्तविक उपयोगिता 'पदार्थ' से अधिक नहीं है । अकेले रहने पर आख्यात-पद सम्पूर्ण वाक्यार्थ का बोधक हो सकता है, किन्तु इससे आख्यात-पद को ही वाक्य नहीं माना जा सकता । वह स्वतः पद ही है : बृहत्तर इकाई का एक अगमात्र । उससे प्रतीत होने वाला 'वाक्यार्थ' उस पद का अर्थ नहीं है । और, जिसे हमने अनुमान कहा, वह भी शुद्ध अनुमान नहीं है । **वाक्य, प्रकरण, अर्थ,** आदि अनेक आधारों पर उस अर्थ का अनुमानजन्य विनिश्चय होता है ।

> **वाक्यात्प्रकरणादर्थादौचित्याद्देशकालतः ।**
> **शब्दार्थाः प्रविभज्यन्ते न रूपादेव केवलात् ॥ वा० २.३१६ ॥**

पाणिनि ने 'तिङ्ङतिङः' (पा० ८.१.२८) सूत्र में तिङ् का **अतिङ्** से 'निघात' माना है । उससे यह भी सिद्ध होता है कि इसके विपरीत स्थिति अनेक तिङों की सहवर्तिता से भी हो सकती है। 'स्नात्वा गच्छति' एक प्रयोग है; **'स्नाति गच्छति'** उसी अर्थ का वाहक दूसरा प्रयोग है । इस पर भी कात्यायन वाक्य को **एकतिङ्** कहते हैं । भर्तृहरि ने क्रिया को 'फल-प्राप्ति' का आधार माना है (वा० ३.८.१५) । स्वभावतः 'वाक्यार्थ' की एकता में 'फल' या 'साध्य' की एकता स्वीकार करनी होगी । इस प्रकार परवर्ती दोनों मत पाणिनि से भिन्न प्रतीत हो सकते हैं । वस्तुतः 'एकतिङ्' कहते हुए भी कात्यायन ने **आख्यात** का प्रयोग साथ ही किया है । इस का अर्थ हुआ कि फल या साध्य के रूप में एक ही तिङन्त आख्यात रूप में, वाक्य में, रह सकता है; अनेक नहीं । उस दशा में **कृदन्त** या **तिङन्त** कितने ही प्रयुक्त हों, वाक्य में वे **मुख्य आख्यात** के विशेषक (या विशेषण) बन कर ही आते हैं ।

> **यथाऽनेकमपि क्त्वान्तं तिङन्तस्य विशेषकम् ।**
> **तथा तिङन्तं तत्राहुस्तिङन्तस्य विशेषकम् ॥ वा० २.६ ॥**

मीमांसकों द्वारा इसकी व्याख्या यूँ की जा सकती है कि इस दशा में आने वाले अनेक तिङन्त परस्पर **साकांक्ष** रहते हैं । और, साकांक्ष होने के कारण ही उनमें वाच्यार्थ की एकता रहती है : **बहुष्वपि तिङन्तेषु साकांक्षेष्वेकवाक्यता** (वा० २.४५०) । यही बात **एकतिङ्** वाले कात्यायन के लक्षण को युक्तियुक्त सिद्ध कर सकती है । उसमें **एकार्थता** को प्रधानता देकर हमें 'एकतिङ्' का अर्थ करना चाहिए । आजकल

के वैयाकरण भी बहुधा वाक्य की शर्त 'एक क्रिया' को मानते हैं। पर वह बात इस मत से भिन्न है।

एकतिङ् यस्य वाक्यं तु शास्त्रे नियतलक्षणम्।
तस्य तिङ्ग्रहणेनार्थो वाक्यभेदान्न भिद्यते ॥ वा० २.४५१ ॥
तिङन्तान्तरयुक्तेषु युक्तयुक्तेषु वा पुनः।
मृगः पश्यत यातीति भेदाभेदौ न तिष्ठतः ॥ वा० २. ४५२ ॥

'देखो, मृग जा रहा है, में दो तिङ् हैं अवश्य, किन्तु 'आख्यात' अथवा 'क्रिया' का कार्य इनमें से ही एक ही कर सकता है, दोनों नहीं। वक्ता दूसरे को कुछ करने को कहता है। अतः 'देखो' प्रधान क्रिया होगी। 'मृग जाता है'—यह देखने क्रिया का 'साधन' बन जायेगा : पदार्थैरेव ते समाः।

फलवन्तः क्रियाभेदाः क्रियान्तरनिबन्धनाः।
असंख्याताः क्रमोद्देशैरेकाख्यातनिदर्शनाः ॥ वा० २.४५६ ॥

इस प्रकार न तो आख्यात शब्द ही वाक्य है, न एकतिङन्त को ही वाक्य का लक्षण स्वीकार किया जा सकता है। अतः 'पद' रूप में आख्यात या तिङन्त को अनावश्यक महत्व नहीं दिया जाना चाहिए। समग्रता शब्दों की सीमा या संख्या पर आधारित नहीं है।

इतिकर्त्तव्यताऽर्थस्य सामर्थ्यादिदस्य कांक्ष्यते।
अशब्दलक्षणाकांक्षं समाप्तार्थं तदुच्यते ॥ वा० २.४५३ ॥

भर्तृहरि तो इससे सर्वथा विपरीत स्थिति की भी कल्पना करते हैं। बहुधा क्रिया के प्रयोग के बिना भी भाव स्पष्ट हो जाता है। इसका अर्थ यह नहीं कि क्रिया के बिना वाक्यार्थ पूर्ण होता है, प्रत्युत यह कि क्रिया शब्द या आख्यात शब्द का, प्रयोग आवश्यक न होकर, उनके द्वारा ऊढ़ भावना का उपस्थित होना आवश्यक है। इसे हम अन्तर्भुक्त या चरित अवस्था कह सकते हैं। यह स्थिति 'क्रिया' ही नहीं, किसी भी अन्य 'पद' के साथ हो सकती है। प्रकरणादि की सहायता से ही इनका ज्ञान सम्भव होता है :

तत्वाख्यानमात्रे तु यावानर्थोऽनुषज्यते।
विनापि तत्प्रयोगेण श्रुतेर्वाक्यं समाप्यते ॥ वा० २.४५४ ॥
वाक्यं तदपि मन्यन्ते यत्पदं चरितक्रियम्। वा० २.३२७ ॥
यच्चाप्येकं पदं दृष्टं चरितास्तिक्रियं क्वचित्।
वाक्यान्तरमेवाहुर्न तदन्येन युज्यते ॥ वा० २.२७१ ॥
यथाप्रकरणं द्वारमित्यस्यां कर्मणः श्रुतौ।
बधान देहि वेत्येतदुपायादधिगम्यते ॥ वा० २.३३८ ॥

अतः मुख्य पद होने से **'आख्यात ही वाक्य है'**, ऐसा नहीं कहा जा सकता। अन्यथा, उसके अनेक होने पर अथवा उसके अभाव में वाक्य की मान्यता ही नहीं रह जाएगी।

९५. आदि-पद ही वाक्य है – दूसरा मत है **साकांक्ष-आदि-पद** को वाक्य मानने वालों का। **आदि पद** से अभिप्राय कर्ता, कर्म, आदि कारकयुक्त किसी भी **पद** से हो सकता है। इस मत के अनुसार वक्ता का अभिप्राय प्रथम पद के उच्चारण मात्र से ही पूर्ण स्पष्ट हो जाता है। या फिर, यूँ कह सकते हैं कि वक्ता जिस पद-समूह का 'वाक्य' रूप में उच्चारण करता है, उसका अभिप्राय वस्तुतः प्रथम पद में ही समवेत हो जाता है। शेष पद तो विवक्षा को वहन करने वाले मात्र रह जाते हैं। इस दृष्टि से भी, चाहे आदि-पद का ही सही, पद का महत्त्व स्थापित होता ही है। इस विषय में युक्ति आख्यात शब्द वाले मत से बिल्कुल उल्टी दी जाती है। **'आख्यातशब्दे नियतं साधनं यत्र गम्यते'** में आख्यात व कारक का **आधाराधेय** अथवा **आश्रयाश्रयि-सम्बन्ध** माना गया है। यहां मुख्यता **आख्यात** को प्राप्त है। उससे ही कारकों के स्वतः आक्षेप की बात मानी गई है। किन्तु, इस मत में **कारकयुक्त पद** के उच्चारण मात्र से ही क्रिया की प्रतीति सम्भव मानी गई है।

> **नियतं साधने साध्यं, क्रिया नियतसाधना।**
> **स सन्निधानमात्रेण नियमः सन् प्रकाशते ॥ वा० २.४८ ॥**

अर्थात्, 'क्रिया से यदि कारक की विनिश्चिति सम्भव है, तो साधन (कारक) के कथनमात्र से भी साध्य (क्रिया) की विनिश्चिति सम्भव है।' यहाँ साधन और साध्य (कारक और आख्यात) में आधाराधेय या आश्रयाश्रयि-सम्बन्ध पर अवश्य ध्यान देना चाहिए। परन्तु, यह मत कितना भ्रामक है, इसका अनुमान उपरोक्त युक्तियों से ही हो सकता है। वस्तुतः **'द्वारम्'** कहते ही **बधान** या **देहि** की जो कल्पना श्रोता के मन में जगती है, वह **द्वारम्** के द्वारा ही वहन नहीं होती, बल्कि उसमें भी वाक्य, प्रकरणादि उपाय ही काम आते हैं। केवल **'द्वारम्'** पद को ही वाक्य नहीं कहा जा सकता। उससे सम्बद्ध भावनाओं को मिलाकर ही **वाक्य** कहा जाना चाहिए। यदि पूर्ण वाक्यार्थ की प्रत्यायना में समर्थ होने पर भी 'द्वारम्' जैसे आदि-पद को केवल **'पद'** ही कहा जाना है, तो ऐसे वाक्यार्थ की प्रतीति में समर्थ एक वर्ण भी 'वर्ण' ही कहा जाना चाहिए, **वाक्य** नहीं। वहाँ भी यह स्मर्तव्य है कि जब तक बुद्धि की पूर्ण-तुष्टि **वाक्यार्थ प्रतीति के** रूप में नहीं होती, तब तक उसे 'वाक्य' नहीं समझा जा सकता। और जब उसे 'वाक्यार्थ' का वाहक **वाक्य** मान लिया जाता है, तब वह पद या वर्ण नहीं रह जाता। **मुख्य** भावना है **अर्थोपलब्धि**।

> **अर्थं कथंचित्पुरुषः कश्चित्संप्रतिपद्यते।**
> **संसृष्टा वा विभक्ता वा भेदा वाक्यनिबन्धनाः ॥ वा० २. ३९ ॥**

सोऽयमित्यभिसंबन्धो बुद्ध्या प्रक्रम्यते यदा ।
वाक्यार्थस्य तदैकोऽपि वर्णः प्रत्यायकः क्वचित् ।। वा० २. ४० ।।

जिस क्षण भी अर्थ-प्रतीति पूर्ण हुई, **वाक्य** पूर्ण हो गया । यह बात **पद-वर्ण** अथवा **पद-समूह** किसी पर भी लागू हो सकती है । केवल इसी आधार पर 'पद-मात्र' को वाक्यस्थानीय मान बैठना उचित नहीं । यदि ऐसा होगा, तब एक ही वाक्य में स्थित सारे **पद** भी उसी स्वातन्त्र्य के अधिकारी होंगे । अतः जहाँ पद रूप में वाक्य हो वहाँ यदि 'पद' को वाक्य-स्थानीय मान भी लिया जाय, तो भी जहाँ पद-समूह के रूप में वाक्य होता है वहाँ यह स्थिति स्वीकार नहीं की जा सकती ।[1]

और इसी आधार पर 'पद' को व्यक्तिगत रूप में **निराकांक्ष** मानने का अर्थ होगा **एकवाक्यता** को असम्भव मानना ।[2]

९६. **साकांक्ष पद** – उक्त मत से सम्बद्ध वा मिलता-जुलता ही तीसरा मत है, जिस के अनुसार वाक्य का प्रत्येक पद **साकांक्ष** भी रहता है और एक दूसरे से **स्वतन्त्र** भी। इस मत के मानने वाले वाक्य में प्रयुक्त प्रत्येक पद के स्वतन्त्र अर्थ को स्वीकार करते हैं । उनके मिलने से ही वाक्य का निर्माण मानते हैं । प्रत्येक 'पद' को वे **प्रधान** तो स्वीकार नहीं करते, किन्तु प्रत्येक पद का **व्यक्तित्व** अवश्य स्वीकार करते हैं । वे यह अवश्य मानते हैं कि संज्ञा किसी भी वाक्य में गौण हो जाती है, क्योंकि मुख्यतः **साकांक्षता** उसी में रहती है :

गुणभावेन साकांक्षं तत्र नाम प्रवर्त्तते ।
साध्यत्वेन निमित्तानि क्रिया पदमपेक्षते ।। वा० २. ४६ ।।

संघात-मत से इस मत में एक साम्य भी है । दोनों ही वाक्य में स्थित पद को **स्वार्थ का ही प्रकाशक** मानते हैं । उन पदों का निजी अर्थ **सहभूत** या **समवेत** स्थिति में भी रहता है ।[3]

किन्तु, इस मत की निस्सारता का पहले ही उल्लेख किया जा चुका है । एक ही समय में **वाक्यार्थ** और **पदार्थ** की सहस्थिति नहीं रह सकती । यदि साकांक्षपदों से मिल कर **वाक्य** बनता है, तब साकांक्ष पदों के अर्थों के मिलने से **वाक्यार्थ** की उद्भूति भी माननी होगी । यदि ऐसा हो तो **वाक्यार्थ की एकता** कभी भी सम्भव नहीं होगी, क्योंकि उसके संवाहक प्रत्येक 'पद' के भी अर्थ को स्वतन्त्र इकाई मानना होगा । किन्तु, एक ही समय में 'दो' इकाइयों की सत्ता स्वीकार नहीं की जा सकती। अर्थात् **वाक्यार्थ** और **पदार्थ** – दोनों – एक साथ ही **इकाई** के रूप में नहीं स्वीकार किए जा सकते :

येषां समस्तो वाक्यार्थः प्रतिभेदं समाप्यते ।
तेषां तदानीं भिन्नस्य किं पदार्थस्य सत्तया ।। वा० २. ३६८ ।।

१. वा० २. ४१२. २. वा० २. ३५५. ३. वा० २. ४१, ११७.

यहाँ, यह स्मर्तव्य है कि **संघात मत** से इस मत में एक मौलिक अन्तर है। 'संघात मत' प्रत्येक पदार्थ को **मौलिक इकाई** एवं वाक्यार्थ को **बृहत्तर इकाई** के रूप में स्वीकार करता है। इस मत के अनुसार **वाक्य या वाक्यार्थ** एक इकाई होती है, किन्तु उसका प्रत्येक **पद या पदार्थ** स्वतन्त्र सत्ता भी रखता है। इस मत का उद्देश्य वस्तुतः 'संघात मत' से सर्वथा विपरीत चित्र उपस्थित करना है। यहाँ **पद--कल्पना** को प्रमुखता एवं **वाक्य** को गौणता प्राप्त है। यहाँ वाक्यार्थ की इकाई को पदों के अर्थ के रूप में विभक्त माना गया है। इस विषय में भर्तृहरि की मान्यता ऊपर स्पष्ट की ही जा चुकी है। फिर भी, इसे और स्पष्ट शब्दों में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है, अर्थात्, 'पदों का यदि कोई अर्थ है तो वाक्य में रह कर ही, उससे अलग नहीं' : पृथक्-सर्वपदम् नहीं।

९७. **संघातमत और क्रममत** – अब तक गिनाए गए तीनों मत 'अन्विताभिधान-वाद' के अन्तर्गत माने गए हैं। तीनों का वैशिष्ट्य यही है कि तीनों में 'वाक्यार्थ' और 'वाक्य' को इकाई भी माना गया है, किन्तु उसे 'पदार्थ' और पद 'रूप' में **विच्छेद्य** भी माना गया है। अगले दोनों मतों को 'अभिहितान्वयवाद' के अन्तर्गत माना जाता है। **क्रम** और संघात – दोनों ही – मतों में यह माना गया है कि **वक्ता तो पदों का ही प्रयोग और उच्चारण करता है, किन्तु प्रतिपत्ति के लिए वाक्यगत पदों में एक अन्वय खोज** निकाला जाता है। स्वभावतः यह **अन्विति** बाद की वस्तु होनी चाहिए। वाणी की मूल भावना से इस का सम्बन्ध स्वीकार नहीं किया जा सकता। उक्त दोनों मतों में भी अन्तर यह है कि 'संघात-मत' में **वाक्य को पद समूह के रूप में, तथा वाक्यार्थ को पदार्थ-समूह के रूप में स्वीकार किया गया है।**

वाक्यार्थः सन्निविशते पदेषु सहवृत्तिषु।
यथा तथैव वर्ण्णेषु पदार्थः सहवृत्तिषु ॥ वा० २. ६२ ॥

संघातमत के अनुसार उन पदों में किसी क्रम विशेष की आवश्यकता नहीं। 'क्रम-मत' में, पद को वाक्य का विभाज्य अंश मान कर भी पदों, की सहस्थिति की अपेक्षा, उन के 'क्रम को अधिक महत्त्व दिया गया है। 'वर्ण' यदि एक निश्चित क्रम में न हों तो 'पद' नहीं बनता, और 'पद' यदि निश्चित क्रम में न हों तो वाक्य नहीं बनता। 'पद' और 'वाक्य' की सत्ता का आधार केवल क्रम पर ही है।

वर्णानां च पदानां च क्रममात्रनिवेशिनी।
पदाख्या वाक्यसंज्ञा च, शब्दत्वं नेष्यते तयोः ॥ वा० २. ५३ ॥

शब्दत्व या अर्थवाचकता 'क्रम' में है, पद या वाक्य में नहीं। यदि वे ही पद क्रम में न हों, तो उनसे 'वाक्य' न बन सकेगा।

९८. संघातमत – 'संघात-मत' में एक वैशिष्ट्य और भी स्वीकार किया गया है :

केवल पदों के एकत्र हो जाने मात्र से ही 'वाक्य' नहीं बन जाता। वाक्य बनने के लिए कुछ और भी चाहिए। यह 'कुछ और' आता है पदों के एकत्र होने से ही। किन्तु, यह कुछ पदों के अर्थ से अधिक और बाहर का होता है। पदों के समवेत होने पर आए हुए इस अर्थाधिक्य को ही संघातवादी वाक्यार्थ मानते हैं। यह 'वाक्यार्थ' निश्चय ही अनेक पदों पर आश्रित रहता है।[1]

परन्तु, यहाँ शंका उठती है कि क्या उस आधिक्यमय वाक्यार्थ का पदों से कोई सम्बन्ध नहीं होता ? यदि सम्बन्ध होता नहीं, तब पदों के एकत्र होते ही वह कहाँ से आ जाता है ? स्पष्ट है कि इस मत में भी 'पद' और 'वाक्यार्थ' का कुछ न कुछ सम्बन्ध स्वीकार करना पड़ेगा। जिस प्रकार, 'मनुष्य' कहने से जाति या सामान्य का बोध तो होता ही है, 'मनुष्य' से संकेतित होने वाले प्रत्येक व्यक्ति का भी इसी से बोध होता है, अथवा जिस प्रकार पाँच कहने से पाँचों का समूह रूप में, और 'एक-एक' करके उन सबका व्यक्तिगत रूप में, बोध होता है, उसी प्रकार, इस मत के अनुसार, समस्त एकत्रित पदों के अर्थों का भी वाक्यार्थ से बोध होता है और वाक्य के प्रत्येक पद के अर्थ का व्यक्तिरूप में भी बोध होता है।

स त्वनेकपदस्थोऽपि प्रतिभेदं समाप्यते।
जातिवत्समुदायेऽपि संख्यावत्कल्प्यतेऽपरैः ॥ वा० २. ४३ ॥

९९. **क्रम-मत** – 'क्रम' मत का वैशिष्ट्य यह है कि यहाँ के 'वाक्य' को अभिधायक ही स्वीकार नहीं किया गया। इस मत के अनुसार प्रत्येक पद में एक **अपना अर्थ** होता है, और एक **विशिष्टार्थ**। पदों का यह विशेष अर्थ उनके क्रमपूर्वक विन्यास की दशा में ही व्यक्त होता है :

सन्त एव विशेषा ये पदेषु समवस्थिताः।
ते क्रमादनुगम्यते, न वाक्यमभिधायकम् ॥ वा० २. ५० ॥

इस मत के अनुसार 'वाक्य' का महत्व ही नहीं है। यह तो एक संज्ञामात्र है, जिसे व्यावहारिक सुविधा के लिए कल्पित किया गया है। **क्रम ही वास्तविक वाक्य है।** रूप में कहें, तो – **एक के बाद दूसरा** – इस क्रम से अनवरत उच्चारित शब्द ही 'वाक्य' के निर्माण में समर्थ होते हैं।[2] काल का व्यवधान आने से यहाँ 'क्रम' टूटते ही 'वाक्य' नहीं रहता। 'क्रम' की यह मान्यता काल की एकता और निरन्तरता पर आधारित है। इस क्रम को हम किसी अन्य शब्दरूप में सन्निविष्ट नहीं करते। 'क्रम' काल का सूचक है। उसे मानने पर 'वाक्य' की सत्ता सिद्ध न होगी। अतः इस मत के अनुसार वाक्य की सत्ता ही नहीं ठहरती।[3]

---

१. वा० २.४२। २. तुलनीय; साहित्यदर्पण के प्रथम परिच्छेद' परिगणित 'आसत्ति' से। ३. वा० २. ५१।

१००. **अखण्डपक्ष और भर्तृहरि** – इन दोनों मतों की मूल युक्ति – पद-स्वातन्त्र्य – के विषय में भर्तृहरि के विचारों का उल्लेख पहले ही किया जा चुका है। यहाँ **आधिक्य** और **क्रम** पर ही उनके विचारों का संकेत दे देना पर्याप्त होगा। **आधिक्य** को प्रति-पद में मानने की युक्ति का विरोध वे एक अन्य युक्ति से करते हैं : **जैसे वर्णों में भी पदार्थ की सत्ता नहीं रहती, उसी तरह पदों में वाक्यार्थ को खोजना असम्भव है।**[1]

इसलिए जैसे, वर्णों की संहति या संहिता में 'पदार्थ' की स्थिति आ जाती है, उसी प्रकार पदों की अनुकूल सहवर्तिता में 'वाक्यार्थ' का अवबोध स्वयमेव हो जाता है। उन पदों में **सहवर्त्तिता** का होना आवश्यक है (वा० २. ६२)। **क्रम-मत** वालों की युक्ति को एक अन्य युक्ति से वे अपास्त करते हैं : **'यदि पद के उच्चारण से किसी अर्थ की प्रतीति मानी जाती है, तो वही अर्थ-प्रतीति वर्ण के उच्चारण में भी मानी जानी चाहिए।'**[2]

सत्य तो यह है कि 'वाक्य' में पद और वर्ण का विभाग न उचित है, न युक्ति संगत। 'वाक्य' का उद्देश्य है **एक अविभक्त अर्थ**। उसके भेद नहीं किये जा सकते। यदि हम नादों से व्यक्त होने वाले भागों को ही 'पद' या 'शब्द' कहें, तो यह स्मरण रखना चाहिए कि वे किसी आन्तरिक भावना की 'प्रतीति' के अंग मात्र बन कर ही बाहर व्यक्त हो रहे हैं। शब्द और उसके आन्तरिक अर्थ को भिन्न-भिन्न नहीं कहा जा सकता। **शब्द अपने, बाह्य रूप के कारण शब्द न कहला कर, अन्तःस्थित प्रयोग-भावना के कारण शब्द कहलाता है।** अतः जब तक वह अभिव्यक्ति भावना – वाक्यार्थ – पूर्ण न हो जाए, शब्द का शब्दत्व अपूर्ण ही रहता है। वह **शब्दत्व** वाक्य में भी एक होकर ही रहता है। उसे क्रम, मात्रा आदि से विभक्त नहीं किया जा सकता। अन्यथा, वाक्य में पदों की सत्ता मानते ही, पदों में वर्णों की मान्यता एवं अर्थवत्ता का प्रश्न उठ खड़ा होगा।[3] भौतिक-विज्ञानवादियों के अनुसार प्रत्येक ध्वनि, चाहे नित्य हो या अनित्य, सभी एक दूसरे से संयुक्त होकर 'शब्द' या 'पद जैसी स्थिति को जन्म न दे सकेंगी।[4] अतः 'पद' या 'वाक्य' की रचना न 'क्रम' से होती है, न 'वर्णोच्चारण' या 'सहस्थिति' से। उनकी सत्ता और उनके व्यक्तित्व का मूलाधार है – 'आन्तरिक भावना' या 'प्रयोग-भावना'।[5]

वैज्ञानिक दृष्टि से भी 'स्फोट' का सम्बन्ध शब्द या वाक्य से है; प्रत्येक उच्चरित ध्वनि या 'वाक्यांश' से नहीं। जहाँ तक 'वाक्य' का सम्बन्ध है, उसके स्फोट की उपलब्धि को, 'शब्द' में होने वाली स्फोटोपलब्धि से, भिन्न नहीं स्वीकार किया जा सकता। उनमें तथा उनके अर्थों में **प्रकाश्य-प्रकाशक सम्बन्ध** हो या **कार्य-कारण**

१. वा० २. ६१। २. वा० २. ६४। ३. वा० २. २८०
४. वा० २. २६. ५. वा० २. ३०, ३१.

सम्बन्ध, 'वाक्य' की एकता 'शब्द' की एकता के समान अविभाज्य है। **शब्द के समान वाक्य भी अन्तर्मात्रात्मा है : स्वयं शब्द-तत्व है।**

प्रकाशकप्रकाश्यत्वं कार्यकारणरूपता।
अन्तर्मात्रात्मनस्तस्य शब्दतत्वस्य सर्वदा ॥ वा० २. ३२ ॥

अत: जब वाक्य की एकता और अखण्डता स्वीकार्य हो जाती है, तब क्रम आदि की कल्पना का अवकाश ही नहीं रहता। **क्रम** का अस्तित्व **उच्चारणकाल** पर आश्रित है।[1] **स्फोट** में उच्चारण-काल का प्रश्न ही नहीं उठता। चाहे समय दीर्घ हो या ह्रस्व 'स्फोट' एक, समान व अभिन्न ही होता है।[2] अत: 'वाक्य' हो या 'पद', ग्रहण की दृष्टि से, उनकी सत्ता में अन्तर नहीं आता। यदि काल का यह भेद कुछ महत्व नहीं रखता, तब मात्रा और क्रम का—वाक्य, पद या वर्ण का—विभाग केवल व्यावहारिक सुविधा के लिये है।[3]

और, सच तो यह है कि जब 'वाक्य' को, शब्द की ही भाँति, बुद्धि में नित्य माना गया है,[4] तब उस में पूर्वापर क्रम का प्रश्न ही नहीं उठता। पूर्वापर का भेद ध्वनि-मात्रा में हो सकता है, अर्थात्मक इकाई के रूप में, वाक्य में, नहीं :

नित्येषु तु कुतः पूर्वं परं वा परमार्थतः।
एकस्यैव तु सा शक्तिर्यदेवमवभासते ॥ वा० २. २२ ॥

१०१. **वाक्य की स्फोटात्मक एकता : बुद्ध्यनुसंहृति** -- इस प्रकार भर्तृहरि 'वाक्य' को स्फोटात्मक स्वीकार करते हैं। उनकी मुख्य धारणा **आभ्यन्तर स्फोट** को लेकर चलती है। 'आभ्यन्तर स्फोट' वह अवस्था है, जिसे भर्तृहरि ने **बुद्ध्यनुसंहृति** के रूप में माना है। श्रोता को वक्ता द्वारा उच्चरित शब्दों की अर्थोपलब्धि न होकर, उनकी दीर्घता या ह्रस्वता आदि का ध्यान न रह कर, जो स्फोटात्मक उपलब्धि होती है, वह बुद्धि का विषय होती है। उसका पदों के साथ सम्बन्ध खोजना व्यर्थ है। **पद** मिलकर, या वाक्य रूप में अकेले रहकर भी, जिस अर्थ — **वाक्यार्थ** — की अभिव्यक्ति देते हैं, वह शब्द के अर्थ की भाँति ही **स्फोटात्मक** होती है। 'स्फोट' बुद्धि का विषय है। 'ध्वनि' या 'नाद' उसके कारण हैं। **बुद्धिविषय** ही, इस प्रकार, वाक्य का जनक और कारण ठहरता है। वाक्य की सार्थकता भी उसे ही वहन करने में ठहरती है। भर्तृहरि के इस अभिप्रेत को निम्न चित्र द्वारा समझ सकते हैं :

बुद्धिविषय (बुद्ध्यर्थ)	——→	**माध्यम**	←——	**बुद्ध्यनुसंहृति (बुद्ध्यर्थ)**
↓		↓		↓
(वक्ता की प्रयोगभावना)		**(शब्द : वाक्य)**		**(श्रोता द्वारा गृहीत अर्थ)**

माध्यम को हम वाक्य कहें या शब्द, वह बुद्ध्यर्थ से उत्पन्न होकर बुद्ध्यर्थ को ही

१. वा० २. ५१, २३. २. वा० १. ७५, १०३ ३. वा० २. २३-२६, ३३.
४. वा० २ ३४७.

जगाता है (वा० ३. ३. ६३)। इसी हेतु उसे 'ध्वनिनित्य' न मान कर 'अर्थनित्य' (निरुक्त) और 'बुद्धिनित्य' (वा० २. ३४७) माना गया है। **ऐसा वाक्य भी शब्द ही है** (वा० २. ३०)।

१०२. **अविभाज्य शब्द** — बुद्धि-विषय के अतिरिक्त स्फोट का **बाह्यार्थ-सम्बद्ध** रूप भी स्वीकार किया गया है। इसे हम **स्थूलार्थ-निरूपक** भी कह सकते हैं। **बुद्ध्यनुसंहृति** एक भावना के रूप में रहती है : एक प्रतीति और विश्वास के रूप में ! **बाह्यार्थ** किसी चित्र के रूप में कोई वस्तु हमारे सामने प्रस्तुत करता है। अर्थ वाले प्रकरण में स्पष्ट किया जाएगा कि शब्द या वाक्य द्वारा प्रतीयमान यह चित्रपरक स्फोटात्मक अर्थ दो रूपों में सामने आता है : जाति-रूप और व्यक्ति-रूप। 'स्फोट' का यह चित्रात्मक ग्रहण आपाततः प्रत्येक शब्द में जातिरूप में ही होता है।[1] इसीलिए स्फोट को 'जाति' ही कहा गया है, यद्यपि उसी जातिरूप स्फोट में अनेक व्यक्तिचित्र भी उभरते प्रतीत होते हैं।[2] उस 'स्फोट' का इन्हीं व्यक्तिचित्रों पर आधारित अविभाज्य और अविकल दूसरा रूप 'व्यक्तिचित्र' माना गया है। दूसरे शब्दों में किसी भी वाक्य के प्रथम श्रवण में पहले एक सामान्य भावना (जाति स्फोट) फिर उसके प्रत्येक तत्व की वास्तविक स्थिति (व्यक्ति-स्फोट), और, अन्ततः, बुद्धि में उसकी विनिश्चयात्मक एकत्व प्रतीति—**बुद्ध्यनुसंहृति**—स्थिर होती है। इस 'जाति-स्फोट' की प्रतीति को ही **जातिः संघातवर्त्तिनी** के रूप में, तथा 'व्यक्ति-स्फोट' की अभिव्यक्त प्रतीति को **एकोऽनवयवः शब्दः** के रूप में स्वीकार किया गया है।

१०३. **जातिः संघातवर्तिनी** — भर्तृहरि के शब्दों में 'जाति स्फोट' की अभिव्यक्ति की तुलना हम एक चित्र से कर सकते हैं। चित्र एक और अविभक्त है। उसका ऐन्द्रियक प्रत्यक्ष और मानस प्रत्यक्ष, प्रथमतः, एक और अविभाज्य रूप में ही होता है। किन्तु, साथ ही साथ, नीलपीतादि वर्णों (**गुणों**), गौहरिणादि **द्रव्यों**, तथा उनके चरना, दौड़ना आदि **साध्यों** (क्रियाओं) की प्रतीति भी विद्यमान रहती है। जो चित्र प्रथमतः, आपात रूप में, स्पष्ट होता है, उसमें यह सब कुछ रह कर भी इस सब की अखण्डात्मक प्रतीति ही होती है, व्यक्ति-प्रतीति नहीं। इसी प्रकार 'वाक्य' भी एक चित्र जैसी दृष्टि हमारे इन्द्रिय-प्रत्यक्ष में ला देता है। उसकी यहीं अखण्ड प्रतीति बुद्धि में भी मानस-प्रत्यक्ष के रूप में होती है। किन्तु, इस प्रतीति में शब्दों या पदों द्वारा संकेतित कर्त्ता, कर्म, क्रिया आदि का भाव भी मिला रहता है। ये उसके व्यक्तिभाग हैं। इस पर भी 'वाक्य' द्वारा प्रस्तुत **अर्थ-चित्र**, विविध शब्दों या पदों के द्वारा समझे जाने वाले अर्थ-चित्रों में, बँटा हुआ नहीं होता। उसका ग्रहण **एक और अखण्ड** रूप में ही होता है। उस स्वतःपूर्ण - निराकांक्ष - चित्र के अविभाज्य अंशों-

१. वा० ३.१.६.　　२. वा० १.९३.

के रूप में ही इन व्यक्तिचित्रों की उपस्थिति उसमें रहती है :

यथैक एव सर्वार्थप्रत्ययः प्रविभज्यते ।
दृश्यभेदानुकारेण वाक्यार्थानुगमस्तथा ।। वा० २. ७ ।।
चित्रस्यैकस्वरूपस्य यथा भेदनिदर्शनैः ।
नीलादिभिः समाख्यानं क्रियते भिन्नलक्षणैः ।। वा० २. ८ ।।
तथैवैकस्य वाक्यस्य निराकांक्षस्य सर्वतः ।
शब्दान्तरैः समाख्यानं साकांक्षैरनुगम्यते ।। वा० २. ९ ।।

किन्तु, जिस प्रकार उस चित्र के हरिण, गौ आदि की सत्ता उस चित्र से व्यतिरिक्त नहीं कहा जा सकती, उसी प्रकार एक वाक्य के सभी (एक या अनेक) पद अपने आप में अधूरे चित्र की उपलब्धि देंगे : उनके द्वारा 'वाक्यार्थ' से व्यतिरिक्त पूर्ण चित्रों की सृष्टि सम्भव नहीं हो सकती। और, यदि वाक्य में पदों के प्रयोग को उनकी पृथक् सत्ता का आधार बनाया जाए, तो अनेक नई समस्याएँ उठ खड़ी होंगी। पदों में भी प्रकृति व प्रत्यय का शास्त्रीय या व्याकरणसम्मत विभाजन सत्य स्वीकार करना पड़ेगा।[1] पदों में वर्णों की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार करनी पड़ेगी।[2] पदभागों का पृथक् अर्थ स्वीकार करना होगा। पावक-लावक में '**आवक**', वृषभ-ऋषभ में **ऋषभ**, उदक-मोदक में **दक**, आदि के समान अर्थ की स्वीकृति का प्रश्न उठेगा। सन्ध्यक्षरों में या अन्यत्र भी वर्णों एवं वर्णभागों के सादृश्य का प्रश्न उठ पड़ेगा। **अन्वय** (संयोग) और **व्यतिरेक** (विभाग) के द्वारा यदि 'अर्थ' की वैयक्तिकता को स्वीकार किया जाय, तो वे दोनों केवल व्यावहारिक स्थितियाँ हैं।[3] वास्तविकता यह है कि वाक्य के उच्चारण होने पर हम अन्वय-व्यतिरेक का आश्रय लेकर अन्तिम सत्य पर नहीं पहुँचते। अन्तिम सत्य की प्रतीति हमें पहले ही क्षण में और आपाततः हो जाती है; अन्वय-व्यतिरेक जैसी किसी दुरूह और दुर्गम प्रक्रिया का आश्रय नहीं लेना पड़ता। यह आश्रय अविद्वान् के लिए भले ही सहायक हो सकता है, जो धीरे-धीरे किसी सत्य की उपलब्धि में समर्थ हो पाता है; विद्वान् या समझदार के लिए नहीं।

जैसा हम पहले कह चुके हैं, भर्तृहरि की निश्चित धारणा है कि 'अर्थ' एक और अविभाज्य है :

शब्दस्य न विभागोऽस्ति कुतोऽर्थस्य भविष्यति ।
विभागैः प्रक्रियाभेदमविद्वान्प्रतिपद्यते ।। वा० २. १३ ।।

यदि प्रत्यक्षोच्चरित पृथक्-पृथक् ध्वनियों से ही 'शब्द' विभक्त नहीं कहा जा सकता, तो केवल प्रत्यक्षोच्चरित पृथक्-पृथक् पद-मात्र से ही बुद्धिस्थ एक और अखण्ड, 'वाक्यार्थ' को **पदार्थों** के रूप में कैसे विभक्त किया जा सकता है ? यह विभाग

१. वा० २. १०–११. २. वा० २. २८, २९. ३. वा० २. १२.

अविद्वानों के लिए है, अथवा यह लोक-व्यवहार में समझने-समझाने के काम आता है। 'शास्त्र' में तो किसी प्रयोजन के लिए ही उसे पृथक् माना जाता है :

व्यवहारश्च लोकस्य पदार्थैः परिकल्पितः ।
शास्त्रे पदार्थः कार्यार्थं लौकिकः प्रविभज्यते ।। वा० ३. ३. ८६ ।

उसकी वास्तविक सत्ता नहीं है। 'ब्राह्मणकम्बल' में ब्राह्मण का अर्थ 'यज्ञोपवीतधारी याज्ञिक उपासक' से नहीं है। 'देवदत्त' और 'यज्ञदत्त' में 'दत्त' का अर्थ वही नहीं है, जो 'दा' धातु से बने **क्त**-प्रत्ययान्त रूप से समझा जाता है। स्वयं 'देवदत्त' शब्द भी, उसी प्रकार, वाक्य में उसी अर्थ को वहन नहीं करता, अपितु उस अर्थ में अनर्थक हो जाता है, जिसे वह प्रातिपदिक रूप में एकाकी रहने पर प्रकट करता।

ब्राह्मणार्थो यथा नास्ति कश्चिद् ब्राह्मणकम्बले ।
देवदत्तादयो वाक्ये तथैव स्युरनर्थकाः ।। वा० २. १४ ।।

अतः 'वाक्य' द्वारा **वाक्यार्थ** रूप में जो प्रतीति होती है, वह सामान्य और समग्र (**जातिरूपा**) ही होती है। जिस प्रकार 'भ्रमण' क्रिया में अन्य क्रियाओं के अंश रहने पर भी उससे हम एक समग्ररूप का ही ग्रहण करते हैं[1], उसी प्रकार वर्ण, वाक्य एवं पद के सुनने से भी हमें एक समग्र प्रतीति ही होती है, खण्डात्मक नहीं।[2] **उस अखण्ड प्रतीति में पूर्वापरक्रम या अन्य विभाग आदि की मान्यता न उचित है, न न्यायसंगत।**[3]

१०४. **अक्रम और अविच्छेद**—'व्यक्तिस्फोट' का मत जिस अर्थ को मान्यता देता है, उसमें व्यक्ति रूप की प्रधानता – बारीकियों की स्पष्टता – अधिक रहती है। परन्तु सूक्ष्मतम सत्यों के स्पष्टतम होने पर भी, **यह चित्र एक, समग्र और अविभाज्य रहता है**। उस एक और अखण्ड वाक्यार्थ में **क्रम** द्वारा प्रतीयमान शब्द का बाह्य रूप **अव्यक्त** ही रहता है। वह क्रमशः व्यक्त से व्यक्ततर होता जाता है। किन्तु, अन्ततः उसकी स्थिरता जिस रूप में बुद्धि में होती है, वहाँ उसका आभास अक्रम रूप में ही होता है।

अव्यक्तः क्रमवान् शब्दः उपांश्वयमधीयते ।
अक्रमस्तु वितत्येव बुद्धिर्यत्रावतिष्ठते ।। वा० २. १९।।

बुद्धि की यह स्थिरता ही अर्थ की चरमोपलब्धि है। इस अवस्था में उपलब्ध अर्थ अविभाज्य, समग्र व एक ही रहता है। वस्तुतः पद या वर्णों में तो मनुष्य द्वारा निर्मित **क्रम** खोजा भी जा सकता है, किन्तु बुद्धि में वह नहीं रह पाता। वहाँ एक क्रमहीन, व्यक्ति-स्वातन्त्र्यहीन और समग्र चित्र ही स्पष्ट होता है। उसमें 'विच्छेद' की सम्भावना स्वीकार करते ही वह प्रतिभागत एकता छिन्न-विच्छिन्न हो जाती है।

विच्छेद ग्रहणेऽर्थानां प्रतिभाऽन्यैव जायते ।
वाक्यार्थ इति तामाहुः पदार्थैरुपपादिताम् ।। वा० २. १४५ ।।

१०५. **एकोऽर्थः**—इस प्रकार 'स्फोट' के तीनों रूपों से ही अर्थ की एकात्मता और

१. वा० २.२०. २. वा० २.२१. ३. वा० २.२२.

अविभाज्यता सिद्ध होती है । **बाह्यस्फोट** से जाति तथा व्यक्ति-पक्ष एवं **आभ्यन्तर-स्फोट** से वाक्य की रचनागत, अर्थगत एवं बुद्धिगत एकता सिद्ध होती है । भर्तृहरि इसी आधार पर, 'अर्थ' या वाक्यार्थ रूप में, 'अभिधेय' की नित्य एकता व अविभाज्यता स्वीकार करते हैं ।[1] शब्द उसी अविभाज्य अर्थ के बाह्य 'रूप' को व्यक्त करते हैं । ये रूप अनेक हो सकते हैं । किन्तु, इनसे प्रकट होने वाला अर्थ, भर्तृहरि की दृष्टि में, न इन पद-रूपों पर आधारित होता है, न इनके क्रम पर आधारित होता है (भले ही बाहरी रूप में 'क्रम' प्रतीत हो), बल्कि उसकी प्रतीति 'अपद' और 'अक्रम' रूप में होती है ।

अविभागं तु शब्देभ्यः क्रमवद्भ्योऽपदक्रमम् ।
प्रकाशते तदन्येषां वाक्यं वाक्यार्थ एव च ।। वा० २. ४२२ ।।
अपदेऽर्थे पदन्यासः कारणस्य न विद्यते ।। वा० ३. ३. ७६ ।।
अलं स्यादपदस्थानमेतद्वाचः प्रचक्षते ।। वा० ३. ३. ७८ ।।
अत्यद्भुता त्वियंवृत्तिः यदभागं यदक्रमम् ।
भावानां प्रागभूतानामात्मतत्त्वं प्रकाशते ।। वा० ३. ३. ७९ ।।

क्रम को स्वीकार न करने पर वाक्य की **युगपत्** सत्ता का प्रश्न उठ पड़ता है । सत्य यह है कि 'क्रम' और 'युगपत्' दो सापेक्ष शब्द हैं । 'क्रम' भी **भाव** (सत्ता) में ही होता है और 'युगपत्' भी **भाव** का ही धर्म है । 'क्रम' यदि उच्चारणादि का धर्म है, तो ग्रहण का धर्म, अभिन्नकाल होने से, **यौगपद्य** है । **एक अस्तत्व की ही व्याख्या क्रम से भी की जा सकती है और एकत्र समग्रता या युगपत्–ग्रहण से भी :**

भावमेव क्रमं प्राहुः न भावादपरं क्रमः ।। वा० ३. ३. ८१ ।।
क्रमान्न यौदगपद्यस्य कश्चिद् भेदोऽस्ति तत्त्वतः ।। वा० ३. ३. ८२ ।।

इसको अधिक स्पष्ट करने के लिये इस प्रकार भी कह सकते हैं : जिस प्रकार किसी वस्तु को दूर से अथवा अन्धकार में देखने पर पहले कुछ और तथा बाद में कुछ और दिखाई देती है, उसी प्रकार पहले पदरूपों का ही ध्यान करके वाक्यार्थ की उपलब्धि में यत्नशील होने वाले को आरम्भ में विभक्त और बाद में, उन्हें पूरा सुनते ही, अविभक्त वाक्यार्थ की प्रतीति होती है :

यथैव दर्शनैः पूर्वैर्दूरात्सन्तमसेऽपि वा ।
अन्यथाकृत्यविषयमन्यथैवाऽध्यवस्यति ।। वा० १.९० ।।
व्यज्यमाने तथा वाक्ये वाक्याभिव्यक्तिहेतुभिः ।
भावावग्रहरुपेण पूर्वं बुद्धिः प्रवर्त्तते ।। वा० १.९१ ।।

फिर भी, ध्वनि के क्रमानुसार ही श्रोता की बुद्धि अर्थ ग्रहण में प्रवृत्त होती है ।

---
१. वा० ३.३.८५.

उसका ज्ञान भले ही अखण्ड-अक्रम हो, किन्तु ध्वनि-क्रम की भी ग्रहण में उपयोगिता तो है ही :

भागवत्स्वपि तेष्वेव रूपभेदो ध्वनेः क्रमात् ।

निर्भागेष्वभ्युपायो वा भागभेदप्रकल्पनम् ।। वा० १.९३ ।।

पर, इतने से ही वाक्य में पदों की सत्ता को अनावश्यक महत्त्व न दे बैठना चाहिए। **अपद वाक्य में पदों और उनके अर्थों की सत्ता केवल लाक्षणिक ही होती है, वास्तविक नहीं। अन्यथा पदों में भी वर्णों की अर्थवत्ता का प्रश्न उठ खड़ा होगा, जब कि सत्य इसके विपरीत है।**[1] वाक्य की अविभाज्यता में पदों की सत्ता स्वीकृत ही कैसे हो सकती है? इसलिये यदि भर्तृहरि ने अर्थ के रूप को **अशब्द** माना, और उन्होंने बौद्धादि दार्शनिकों की अर्थाविभास-कल्पना का वर्णन किया, तो केवल यह बताने के लिये ही कि **जो प्रतीति वाक्यार्थ या अर्थ के रूप में होती है, उसे प्रकृति-प्रत्यय या पद आदि किसी रूप से बाँधा नहीं जा सकता :**

अशब्दमपरेऽर्थस्य रूपनिर्धारणं विदुः ।

अर्थाविभासरूपा हि शब्देभ्यो जायते स्मृतिः ।। वा० २.४२४ ।।

भर्तृहरि इसे और स्पष्ट करके कहते हैं : **आकार का दर्शन सत्य नहीं है, फिर भी वस्तु जिस दृष्टि को देती है, वह अरूप होकर भी ग्राह्य हो जाती है।**[2] इसीलिये 'आकार' को असत्य और 'वस्तु' को सत्य माना गया है।[3] 'वाक्य' का आकार भी इसीलिये प्रयुक्त होता है, क्योंकि उससे 'अर्थ' की अभिव्यक्ति देनी अभीष्ट होती है :

अस्तित्वेनानुषक्तो वा निवृत्तात्मनि वा स्थितः ।

अर्थोऽभिधीयते यस्मादतो वाक्यं प्रयुज्यते ।। वा० २.४३० ।।

और, **अर्थ** की यह सत्ता सभी मतवादियों को माननी ही पड़ती है। **अतः वाक्य है वक्ता का अभिधेय,** जिसकी अभिव्यक्ति के माध्यम बनते हैं **पद**। उस 'अभिधेय' की स्पष्टता होने पर उन उपायभूत 'पदों' का महत्त्व अर्थात्मक रूप में ग्राह्य नहीं रह जाता : **उपादायाऽपि ये हेयास्तानुपायान् प्रचक्षते** (वा० २.२८)। इस प्रकार पद और पदार्थ **उपाय** ही हैं, **साध्य नहीं**। साध्य है 'वाक्यार्थ', जो वक्ता का अभिधेय है। अतः भर्तृहरि की परिभाषा को यदि एक सर्वग्राही वाक्य में बन्द करना हो तो यूँ कह सकते हैं : **अभिव्यक्ति की वह इकाई, जो स्वतः पूर्ण है, फिर भी जिसकी व्याख्या अपूर्ण एवं परस्पराश्रित कल्पित अंशों से करनी ही पड़ती है :**

तथैवैकस्य वाक्यस्य निराकांक्षस्य सर्वतः ।

शब्दान्तरैः समाख्यानं साकांक्षैरनुगम्यते ।। वा० २.९ ।।

---

१. वा० १.७४; २.२८, २९, ४४४.

२. वा० २.४२९. ३. वा० ३.२.२.

१०६. आठों मतों की वास्तविकता – वस्तुतः ये आठों ही मत किसी एक न एक सत्य का उद्‌घाटन करते हैं। **अन्तिम तीनों मत** जहाँ एक ओर अखण्ड 'अर्थ' की विश्लेषण बुद्धि से बढ़े हैं, वहां **पहले पाँचों मत** 'बाह्य रूप' और 'पद-प्रयोग' को लेकर चलें हैं। उनकी दृष्टि 'वाक्य' की बाह्य-रचना, आकार एवं उसके उच्चारण के आधार को लेकर बढ़ी है। कह सकते हैं, उन पाँचों मतों से हमें खण्ड सत्यों की की उपलब्धि होती है। परन्तु, यदि सत्य एक और अविभाज्य है तो उसकी दो व्याख्याएँ नहीं हो सकतीं। भर्तृहरि ने इसीलिये इन आठों मतों में से किसी एक को अपना समर्थन न देकर, सबके द्वारा अनुस्यूत और पुष्ट वाक्य एवं वाक्यार्थ की अविभाज्यता का अपना ही मत प्रस्तुत किया है। अन्तिम तीनों मतों द्वारा उसके मत की व्याख्या की जा सकती है।

१०७ आधुनिक दृष्टि – वाक्य की परिभाषा एवं स्वरूप के इस प्रकरण की समाप्ति से पूर्व, वाक्य के विषय में, कुछ नवीन धारणाओं पर भी एक दृष्टि डाल लेना अनुचित न होगा, ताकि भर्तृहरि के मत की वैज्ञानिकता पूर्ण स्पष्ट हो सके। गार्डिनर के शब्दों में, **वाक्य उस शब्द या शब्द-समूह को कहते हैं, जिससे किसी अभिधेय को पूर्ण अभिव्यक्ति मिलती है।**[१] वे ही अन्यत्र लिखते हैं, **वाक्य उस पूर्ण-अभिव्यक्ति को कहते हैं, जिसके बाद वक्ता शान्त हो जाता है।**[२] गार्डिनर की इस परिभाषा का समर्थन एक अज्ञात अरब वैयाकरण की इस परिभाषा से भी होता है – 'वाक्य वह है, जिसके बाद चुप रह जाना ही उचित प्रतीत होता है'। भर्तृहरि ने इसे **'प्राप्तरूपविभागायाः यो वाचः परमो रसः'** (वा० १.१२) के रूप में कहा है। येस्पर्सन इस प्रकार कहते हैं, **'निराकांक्ष मानुषी अभिव्यक्ति को वाक्य कहते हैं'**।[४] गार्डिनर की प्रथम परिभाषा तथा येस्पर्सन की इस उक्ति का भर्तृहरि की **'निराकांक्षस्य सर्वतः'**

---

१. A. H. Gardiner, in his 'Speech and Language',
"A sentence is a word or set of words revealing an intelligible purpose." (pp. 88).

२. "A sentence is an utterance which makes just as long a communication as the speaker has intended to make before giving himself a rest". (pp. 208).

३. "....a sentence is that after which silence seems best." (Language, NAL, pp. 133).

४. "A sentence is a (relatively) complete and independent human utterance—the completeness and independence shown by its standing alone, *i.e.* of being uttered by itself." (Philosophy of Grammar, pp. 807).

की युक्ति से पूर्ण मेल बैठता है। जोसुहा व्हाट्माऊ तथा कई अन्य भाषा-शास्त्री वाक्य के रचना-पक्ष की पूर्णता पर बल देते हैं।[1]

किन्तु, भर्तृहरि का युक्ति-क्रम यह सिद्ध करने के लिये पर्याप्त है कि वैया-करणों ने इस रचना-पक्ष की पूर्णता पर बल देकर जिस सत्य की उपेक्षा की थी, उसे, रचना पक्ष के अतिरिक्त, भाव या अर्थ-पक्ष पर विचार करके ही पाया जा सकता है। भर्तृहरि की उपलब्धि, आज के भाषा-तत्व की दृष्टि से भी, पूर्ण व निर्दोष है। कदाचित् वह कुछ अधिक वैज्ञानिक ही है।

---

१. "...it is a maximum syntactic construct." (Language, NAL, pp. 133).

शब्द का महत्व

१०८. **शब्द-रूप** — पहले कहा जा चुका है कि भर्तृहरि ने **शब्द** का प्रयोग दो अर्थों में किया है : **वाणी** और **शब्द** (प्रातिपदिक,धातु, आदि रूप) ।[1] वाक् की चर्चा पहले अध्यायों में पर्याप्त हो चुकी है । उन्हीं में शब्द-विषयक कुछ चर्चा भी आ चुकी है । यहाँ हम भर्तृहरि की शब्द-सम्बन्धी मान्यताओं की विवेचना किंचित् स्पष्टतर रूप में करना चाहेंगे । शब्द की व्यक्तिगत स्थिति, शब्द का रूप और स्वरूप, अर्थ से उसका सम्बन्ध, तथा उसकी वाक्य में स्थिति आदि ऐसे विषय हैं, जिन पर अधिक विचार अपेक्षित है । प्रस्तुत अध्याय में हम भर्तृहरि की शब्द-सम्बन्धी वैज्ञानिक धारणाओं पर ही विचार करेंगे । उसके स्वरूप और अर्थ से सम्बन्ध आदि पर बाद में विचार किया जाएगा । वाक्य को **वाणी की इकाई** मानने के बाद भी शब्द के विषय में यह चर्चा आवश्यक है, क्योंकि उसे भी अर्थात्मक मान्यता प्राप्त है ।

१०९. **'शब्द-ब्रह्म' की धारणा**—शब्द के विषय में भर्तृहरि की सर्वाधिक महत्वपूर्ण देन उसकी शब्द-ब्रह्म-विषयक धारणा है । इस विषय में उससे पूर्व बहुत से आचार्यों ने विविध रूप में पर्याप्त लिखा था, किन्तु इतनी स्पष्टता, समग्रता, युक्ति-सुलभता एवं वैज्ञानिकता के साथ इसे कोई अन्य प्रस्तुत न कर सका । चार पद, सात विभक्तियाँ, तीन काल, तीन पुरुष, दो उपग्रह, तीन वचन आदि विविध अंगोंपांगों के कारण शब्द को 'महान्' अथवा 'महादेव' बताया गया ।[2] दूसरी ओर, वैशेषिक दर्शन ने 'आकाश तत्व' का गुण 'शब्द' को बताया । **आकाश** नित्य व अविनाशी है । अतः उसका गुण - शब्द - भी नित्य और अविनाशी माना जाना चाहिए । आज का विज्ञान भी आकाश को 'ईथर' मानता है और शब्द की उत्पत्ति व विस्तृति का माध्यम-स्थल उसे ही स्वीकार करता है ।[3] वैज्ञानिक दृष्टि से भी शब्द की सत्ता कभी नष्ट नहीं होती, क्योंकि यह 'ईथर' की तरंगों के साथ-साथ धीरे-धीरे फैलता जाता है । यास्क ने इस भावना को भी कदाचित् समझा होगा । किन्तु, शब्द के सार्वत्रिक, व्यापक, एवं आवृत्तिशील प्रयोग को देखकर उसने **'व्याप्तिमत्वात्तु शब्दस्य'** (नि० १. २. ४.) के द्वारा उसकी जिस व्याप्तिमत्ता का संकेत देना चाहा, वह भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि से

---

१. द्वितीय अध्याय, च्छेद — २६ । २. 'चत्वारिशृंगाः'... । महा० १. १. १ ।
३. आकाश को ईथर न मानने वाले भी ध्वनि-तरंगों को वहन करने की उसकी सामर्थ्य मानते हैं ।

अधिक महत्वपूर्ण थी। **एक ही शब्द किस प्रकार नये-नये रूप ग्रहण करके भी अपने मूल से विचलित नहीं होता, प्रत्युत केन्द्रस्थ रहता है** – इस सत्य की ओर यास्क ने ही पहले-पहल इंगित किया। पतंजलि ने 'महान् देवः' की व्याख्या अवश्य की, किन्तु वे उसमें भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि न ला सके; यद्यपि **सप्तद्वीपा वसुमती**[1] आदि कहते हुए उन्होंने शब्द की नित्यता को ठोस भाषा-वैज्ञानिक युक्ति के आधार पर भी सिद्ध कर दिया। यास्क ने शब्द को **अर्थनित्यः**[2] कहा था। पतंजलि ने शब्द की परिभाषा ही कर दी -- 'जिससे किसी पदार्थ या अर्थ का विनिश्चय हो' : **प्रतीतपदार्थको हि ध्वनिः लोके शब्दः** (महा० १. १. १)। उन दोनों ने ही उसे **अर्थनित्य** स्वीकार किया। अतः पाणिनि के 'अर्थवत्'[3] की अपेक्षा वे कुछ अधिक व्यापक परिभाषा में चले गए। दूसरी ओर, योगदर्शन, वेदान्त एवं शैवदर्शन के माध्यम से ब्रह्म-विषयक एक नई धारणा बल पकड़ रही थी। पतंजलि द्वारा प्रणीत **योगदर्शन** के विस्तृत अनुशीलन ने जिस **नाद** की धारणा को पुष्ट किया, वह कालान्तर में, **नाद-ब्रह्म** के रूप में, उक्त दर्शनों में सम्पुष्ट हुई। वेदान्त ने ब्रह्म को शुद्ध **ब्रह्म** कहा, तो शैवदर्शन ने उसे **नाद-रूप** ही स्वीकार किया। भर्तृहरि की शब्द-ब्रह्म सम्बन्धी धारणा पर उक्त सभी धारणाओं का प्रभाव पड़ा है। किन्तु, 'नाद-ब्रह्म' का रूपान्तरमात्र ही उनके 'शब्द-ब्रह्म' को नहीं कहा जा सकता। 'नाद-ब्रह्म' के सिद्धान्त ने स्फोट-सम्बन्धी विचार को सम्पुष्ट किया। किन्तु, जहाँ 'नाद-ब्रह्म' की धारणा केवल 'ब्रह्म' का आध्यात्मिक रूप स्पष्ट करने में सहायक है, वहाँ 'शब्द-ब्रह्म' की धारणा 'शब्द' के महत्व, उसकी व्यापकता, आदि को आधार बना कर चली है। शब्द को 'ब्रह्म' कहते ही जितनी भी सम्भावनाएँ उठ सकती हैं, भर्तृहरि ने उन सबका ध्यान रखा है। उसने शब्द को 'ब्रह्म' केवल प्रशंसा के लिए नहीं कहा, बल्कि, शैवों के **नाद-सिद्धान्त** एवं **मन्थन-सिद्धान्त** का पूरा-पूरा अध्ययन करके, शब्द और **ब्रह्म** की तुलना की है। शैवों का **विवर्त्त-सिद्धान्त** भी वहाँ पूरी तरह अनुकृत हुआ है। किन्तु, यह सब शुद्ध भाषा-वैज्ञानिक आधार पर ही हुआ है। अतः इस सिद्धान्त की उपस्थापना में उन्हें अन्यों से भिन्न मानना अधिक उचित है।

११०. **भर्तृहरि की व्याख्या** – शब्द-ब्रह्म की भर्तृहरि प्रणीत व्याख्या को हृदयंगम करने के लिए हमें उसकी दार्शनिक और वैज्ञानिक दृष्टियों को एक दूसरे का उपकारक मानना होगा। केवल **दार्शनिक** व्याख्या करके हम एक महान् भ्रम का सृजन करेंगे, जब कि केवल **वैज्ञानिक** दृष्टि हमें सत्य तक ले जाकर भी, उसे पूरी तरह हृदयंगम न करा सकेगी। प्रथम काण्ड (ब्रह्म-काण्ड) के प्रथम दस श्लोकों के अध्ययन से हमें

---

१. महा० १. १. १. २. अर्थनित्यः परीक्षेत (नि० २. १. ३.)।
३. अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम् (पा० १. २. ४५.)।

उनकी मान्यता के **शब्द-ब्रह्म** का पूरा आभास हो जाएगा। कुछ-व्याख्याकारों ने प्रायः इन सभी श्लोकों को उनके दार्शनिक रूप एवं अध्यात्मवादी प्रवृत्ति को स्पष्ट करने के लिए उद्धृत किया है। किन्तु, इनकी सही व्याख्या इन्हें भाषा-तत्व (लिंग्विस्टिक्स) की आधारभूत स्थापनाओं के रूप में सिद्ध कर देगी।[1] यहाँ हमें इन सब पर क्रमिक दृष्टि डालनी अधिक उचित एवं सावसर रहेगी।

१११. **अनादि-निधन : अक्षर** -- सर्वप्रथम भर्तृहरि ने शब्द को **अनादि-निधन** कहा है। **शब्दो नित्यः** या **अर्थनित्यः** कहने वालों ने शब्द की नित्यता को जिस आधार पर सिद्ध किया है, **अनादि-निधन** उसी की दूसरी व्याख्या है। वैज्ञानिकदृष्ट्या भी यदि आकाश (ईथर) तत्व अविनश्वर और अनादि है, तब उसमें होने वाली गुणरूप ध्वनि (शब्द) भी नित्य है। लौकिक दृष्टि से भी शब्द-प्रयोग का न तो **आदि** जाना जा सकता है, न उसका **अन्त** ही निश्चित होता है। वह एक समय में नष्टप्राय सा होकर भी पुनः प्रयोग में आ सकता है। '**महान् हि शब्दस्य प्रयोगविषयः; सप्तद्वीपा वसुमती, त्रयो लोकाः, चत्वारो वेदाः, साङ्गाः सरहस्याः, बहुधा भिन्नाः, एकशतम-ध्वर्यु शाखाः** (महा० १. १. १), इत्यादि प्रकरण द्वारा पतंजलि शब्द की व्यापकता एवं उसकी नित्यता को लौकिकदृष्ट्या सिद्ध करते हैं। किन्तु, भर्तृहरि, किसी शब्द-विशेष के जन्म या मरण की बात न लेकर, 'शब्द-तत्व' की बात कर रहे हैं। '**शब्द आ सकते हैं, रह सकते हैं, अप्रयुक्त होकर अदृश्य हो सकते हैं। किन्तु, शब्द-तत्व तो सृष्टि रचना के प्रथम प्रयास से आज तक चलता ही आया है, और चलता रहेगा भी। फिर, यह शब्द और शब्द-तत्व नित्य बृंहणशील (ब्रह्म) भी है।**' 'ब्रह्म' के जो अनेकानेक अर्थ अनेक रूप में लिये गए हैं, उन सब के मूल में बृंहणशीलता एवं प्रसरणशीलता का भाव है ही। यह बृंहणशीलता या प्रसरणशीलता वस्तुतः किस रूप में हो सकती है ?, इसका वैज्ञानिक उत्तर भर्तृहरि स्वयं देते हैं : **परस्तु शब्दसन्तानः प्रचयापचयात्मकः** (वा० १. १०३)। ध्वनियाँ उठ कर मिट जाती हैं। शब्द दीर्घ हो या ह्रस्व, उसका स्फोट तत्क्षण ही हो जाता है। फिर भी एक 'विस्तार' है, जो घटा-बढ़ी के रूप में निरन्तर चलता रहता है। यह अर्थ-विस्तार ही शब्द को व्यापक से व्यापकतर बना देता है। यदि **ब्रह्म** का अर्थ, बृंहणशील न करके, **ज्ञान** भी किया जाय, तो भर्तृहरि भी अन्यत्र उसकी ज्ञान-मूलकता का स्पष्ट उद्घोष करते हैं :

> **न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।**
> **अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते॥** वा० १. १२४॥

और, फिर वह शब्द तत्व है अक्षर : अहीन। शब्द-प्रयोग के आधिक्य में भी वह व्यय

---

१. **सूर्यनारायण शुक्ल की चौखम्बा सीरीज में प्रकाशित टीका में व्याकरणात्मक दृष्टि अपनाई गई है।**

या हीन न होकर बद्धमूल एवं बृंहणशील ही होता जाता है। ऐसा 'शब्द-तत्व' केवल नाम से ही ब्रह्म नहीं है, प्रत्युत, अध्यात्म के ब्रह्म की भाँति, वह भी जगत् की प्रक्रिया का स्रोत एवं परम निधान है। ब्रह्म से ही यह जगत्, स्पन्दन-प्रक्रिया द्वारा, जन्म लेता है तथा उसी में अन्ततः लीन हो जाता है। इसी प्रकार शब्द—ब्रह्म के 'विवर्त्त'[1] से ही वह शब्दराशि उत्पन्न होती है, जो विश्व के किसी भी प्रकार के व्यवहार का माध्यम बनती है। जगत् का पारस्परिक व्यवहार इस शब्द-तत्व के सहारे ही आरम्भ होता है: उसकी सुषुप्ति में जागतिक व्यवहार भी मूक हो जाते हैं।

अनादिनिधनं ब्रह्म, शब्दतत्वं यदक्षरम्।
विवर्त्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः॥ वा० १. १॥

इसे केवल पश्यन्ती-वाक् से सम्बद्ध मान बैठना भ्रमकारक ही होगा।[2]

११२. **शब्द एक है** – भर्तृहरि के वाक्यपदीय का दूसरा श्लोक इस प्रकार है :—

एकमेव यदाम्नातं भिन्नशक्तिव्यपाश्रयात्।
अपृथक्त्वेऽपि शक्तिभ्यः पृथक्त्वेनेव वर्त्तते॥ वा० १. २॥

'तत्व के रूप में शब्द एक और अविभाज्य है। विभिन्न उपायों का आश्रय लेकर उसे विभिन्न वर्गों में बाँट दिया जाता है। फिर, यह वर्गभेद चाहे संज्ञा, क्रिया, उपसर्गादि का हो, उद्देश्य-विधेयादि का, प्रकृतिप्रत्ययादि का, अथवा कार्य एवं नित्य आदि का हो। क्रियमाण ये विभाग केवल कल्पितमात्र हैं। इनका वास्तविक आधार कुछ भी नहीं है। इन में बाँटा जाकर भी वह एक-दूसरे से, तथाकथित द्वारा, विभाजन अविच्छेद्य है।' यह विभाजन-प्रक्रिया यहीं तो समाप्त नहीं होती। काल वृत्ति, संख्या, गुण, पुरुष, उपग्रह, लिंग आदि को लेकर विविध प्रकार के भेदोपभेद किये जाते हैं। क्या वे भेद एक ही तत्व के नहीं हैं? उदाहरणार्थ **क्रिया या भाव एक ही है।** किन्तु, वही **भाव** विविध पक्षों या कालों के आधार पर ६ भागों में बाँटा लिया जाता है: **षड् भावविकारा**

---

१. यहाँ 'विवर्त्त' या 'वि+वृत्' के भर्तृहरिकृत अन्य प्रयोगों को देख लेना भी अभीष्ट होगा। इस काण्ड के १८, ११२, ११७, तथा १२० श्लोकों में वे इस प्रयोग को दोहराते हैं। १८ में वे 'तमसि ज्योतिः शुद्धं विवर्त्तते' कहकर स्थिति, उद्गम, प्रसार और लीनता की बात एक साथ ही कर रहे हैं। प्रकरण है 'परं ब्रह्म' (वा० १. २२) का: व्याकरण द्वारा प्राप्य 'शब्द-ब्रह्म' का। ११२ में परिणमन और उद्गम की भावना है। ११७ में विवर्त्तमानाशक्ति की चर्चा है। वहाँ इस विवर्त्त का परिणाम भेदवान् उच्चरित रूपों को माना गया है। १२६ में भूतकालिक प्रयोग के द्वारा उत्पत्ति की चर्चा है। परिणामतः इस, प्रथम, श्लोक में भी इन अर्थों से, समवेत रूप में ही, उनका अभिप्राय है; विवर्त्तवाद से नहीं।

२. टीका, सूर्यनारायण शुक्ल द्वारा, वा० १. १।

भवन्तीति वार्ष्यायणिः ; जायते, ऽस्ति, विपरिणमते, वर्द्धते, ऽपक्षीयते, विनश्यतीति (नि० १. २. ८) । तथाकथित **जन्म** से लेकर **विनाश** तक किसी भी भाव की छह अवस्थाएँ होती हैं । वे अवस्थाएँ काल को आधार बनाकर ही एक दूसरे से भिन्न मानी जाती हैं । एक ही भाव को विभिन्न दृष्टिकोणों से देखने मात्र का परिणाम ही यह विभाजन है । इस सत्य को यास्क भी जानते थे : **जायते इति पूर्वभावस्य आदिमाचष्टे । नापरमावभाचष्टे, न प्रतिषेधति,** इत्यादि (नि० १. २. ६) । किसी अन्य स्थिति का निषेध न होकर एक विशिष्ट स्थिति का कथनमात्र ही है, इस विभाजन का आधार । अन्यथा, भर्तृहरि जानते हैं कि जन्मादि विकारों के कारण भाव या क्रिया का विभाजन अवैज्ञानिक एवं असत्य है । जन्म और विनाश अथवा आविर्भाव और तिरोभाव उसकी दृष्टि में एक हैं ।[1] विभिन्न भाव-विकार एक ही सत्ता के विविध उपाश्रयों से प्राप्त विभाग हैं । इसीलिये उन्होंने कहा :

अध्याहितकलां यस्य कालशक्तिमुपाश्रिताः ।
जन्मादयो विकाराः षड् भावभेदस्य योनयः ।। वा० १. ३ ।।

अर्थात्, 'ये छहों विकार इस एक तत्व (**शब्द-ब्रह्म**) के विविध अंशों के ही द्योतक हैं, किसी सम्पूर्ण सत्ता के नहीं ।'

१०३. अन्य युक्तियाँ — शब्द-ब्रह्म के इस **सर्वबीजत्व** अथवा मौलिक एवं तात्विक रूप की चर्चा करते हुए वे आगे कहते हैं : **जिस प्रकार ब्रह्मवादी ब्रह्म को ही भोक्ता, भोक्तव्य एवं भोग आदि रूपों में विभक्त करके इस विश्व को उस एक तत्व की ही लीला स्वीकार करते हैं, उसी प्रकार यह शब्द-ब्रह्म भी इस पारस्परिक व्यवहारलीला का एकमात्र मूल है : शब्द, अर्थ, एवं प्रतिभा के रूप में यही अपनी स्थिति बनाये रखता है ।**[2] अगले तीन श्लोकों में (वा० १.५-७) में भर्तृहरि ने शब्द-ब्रह्म की प्राप्ति का उपाय **वेद** को माना है : '**ज्ञान या वेद एक और नित्य है । वह अविभाज्य है । पर इसके भी विविध भेद कल्पित किये ही गये हैं । प्रत्येक ने अपनी-अपनी शाखा का महत्त्व प्रदर्शित करना चाहा है, यद्यपि तत्व सबका एक ही है । विविध शाखाएँ हों या स्मृतियाँ, उनका प्रयोजन ज्ञात हो या अज्ञात, उनकी कल्पना विविध तथ्यों के आधार पर की गई है । एक ही सत्य की वे विविधतामयी उद्घोषणामात्र हैं । परन्तु, ज्ञान की नित्य एकता को पहचानने वाले उनकी मौलिक एकता को पहचानते हैं ।**' और, 'फिर इस एक तत्त्व (**शब्द-ब्रह्मोद्भव ज्ञान**) के अनेकविध अर्थवादों या मान्यताओं को अंगीकार करने का अर्थ है, अपने अज्ञान को स्वीकार करना । हम स्वयं अपने संशय का प्रदर्शन ही इन विविध **वादों** के माध्यम से करते हैं' (वा० १.८) । इसलिये, सत्य तो यह है कि हमें शुद्ध **शब्द-ब्रह्म** की उपलब्धि में यत्नशील

---

१. वा० ३.३.५६, ६०; ३.प.२५, २७. **२. वा० १.४ .**

रहना चाहिए, न कि उसके बाह्य भेदों में उलझ कर ही रह जाना चाहिए । भाषा-तत्व का यदि सत्य-ज्ञान हो जाए तब, एक पद का पूर्ण ज्ञान हो या सम्पूर्ण शास्त्रों का, उसका मूल्य एक बराबर ही हो जाता है । श्रुति ने भी एक पद के ज्ञान में यही लाभ बताया है : **एकः शब्दः सम्यग्ज्ञातः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके कामधुग्भवति** (महा० सूत्र ६.१.८४) ।[1] इस एक शब्द को **प्रणवरूप** या **ब्रह्मरूप** कह सकते हैं । जिसने शब्द-ब्रह्म की वास्तविकता को जान लिया, उसके लिये शब्दों की संख्या का महत्त्व ही नहीं रह जाता । सत्य एक है, वाद अनेक हैं । उन विविध वादों या रूपों के आवरण के नीचे भी सत्य ढका नहीं जा सकता । इसी प्रकार शब्द-ज्ञान के तथाकथित विस्तार के पीछे भी शब्द-तत्व की वास्तविकता छिपी नहीं रहीं रह सकती । अतः उस एक शब्द-तत्व की उपलब्धि भी समस्त ज्ञान की उपलब्धि का कारण बन सकती है ।

सत्या विशुद्धिस्तत्रोक्ता विद्यैवैकपदागमा ।
युक्ता प्रणवरूपेण सर्ववादाविरोधिना ॥ वा० १.९ ॥

इस प्रकार शब्द-ब्रह्म या शब्द-तत्व ही सब विद्याओं का मूल ठहरता है । उन विद्याओं के ध्येय भिन्न-भिन्न ठहर सकते हैं, क्योंकि उनका आधार लोक-परक होता है । फिर भी, उन सबके प्रसार, प्रचार और संवर्धन का माध्यम शब्द-सिद्धि ही है ।

विधातुस्तस्य लोकानामङ्गोपाङ्गनिबन्धनाः ।
विद्याभेदाः प्रतायन्ते ज्ञानसंस्कारहेतवः ॥ वा० १.१० ॥

शब्द की साधना ही शब्द-ब्रह्म के सहभोग एवं आस्वाद का आनन्द देती है । अतः शब्द रचना, शब्द-प्रवृत्ति एवं उसकी प्रसरणशीलता का पूर्ण ज्ञान आवश्यक है ।[2]

११४. **कुछ विवेच्य शब्द** – उक्त दस श्लोकों पर गम्भीर दृष्टिपात करने के बाद यह स्पष्ट हो जाएगा कि भर्तृहरि की शब्द-ब्रह्म-विषयक धारणा पूर्ण वैज्ञानिक है । इस प्रसंग में **ब्रह्म, विवर्त्त, शक्ति** तथा **सर्वबीज** आदि शब्दों पर विशेष ध्यान देना होगा । **ब्रह्म** का अर्थ हम कुछ भी लें, उसमें 'बृंहण' या विस्तार – अथवा निरन्तर गतिमयता – का भाव तो रहेगा ही ।[3] शब्द इस अर्थ में **अनादि-निधन** नहीं है कि वह कभी लुप्तरूप नहीं होता । बल्कि, वह ऐसा इसलिये है कि उसका विस्तार, प्रयोग, अथवा आकृतिगत परिवर्तन-परिवर्द्धन निरन्तर होता रहता है । और, इस प्रकार उसका प्रयोग नैरन्तर्य-सिद्ध रहता है । फिर, यह 'ब्रह्म' शब्द, शब्द-रूपों के लिये व्यवहृत न होकर, शब्द-तत्व या वाक्-तत्व के लिए प्रयुक्त हुआ है । उस वाक्-तत्व का न **आदि** विनिश्चित किया जा सकता है, न **अन्त** । वह वाक्-तत्व ही नाना पद-रूपों में विभक्त

---

१. भर्तृहरि ने इसे इस प्रकार पढ़ा है : 'एकः शब्दः सम्यग्ज्ञातः शास्त्रादिषु प्रयुक्तः स्वर्गे लोके कामधुग्भवति' (त्रिपदी टी० १.१.१) । २. वा० १.१३२.
३. विस्तृत-विवेचना के लिए देखें डॉ० प्रो० गोण्डा की 'Brahman'.

होकर भी अविभक्त रहता है। फिर भी वह निरन्तर गतिशील एवं **प्रवृद्धिशील है।** **विवर्त्त** शब्द कुछ अधिक उलझन भरा है। इसका अर्थ 'प्रलय' या 'अन्त' कर बैठना ठीक नहीं है। **'अर्थभावेन विवर्त्तते'** में विवृत्ति, **विवृति,** एवं 'व्यावृत्ति' तीनों के भाव आ जाते हैं। भावों का आदान-प्रदान एवं जागतिक प्रक्रिया का ह्रास-विकास इसी शब्द-तत्व पर आधारित रहता है। 'विवृत्ति' अर्थ है **विशिष्टरूपा स्थिति** । 'विवृति' का अर्थ है **विस्तार** । 'व्यावृत्ति' का अर्थ है **पुनः लौट आना।** शब्द प्रयोगिक रूप में **स्थिर रहता है;** इसे ही हम उसकी **धारणा-शक्ति** (पावर ऑफ रिटेंशन) कह सकते हैं। उसमें **अर्थ सम्बन्धी संकोच-विस्तार** की शक्ति रहती है; यह उसकी **विस्तार-शक्ति** (पावर ऑफ एक्सपेंशन) है। वह पुनः-पुनः नव-नव रूप में व्यवहार में आता है, यह उसकी 'व्यावर्तन' की शक्ति (पावर ऑफ रिवाइवल) कही जा सकती है। ये ही तीनों शक्तियाँ 'विवर्त्त' द्वारा अभिहित होती हैं। जगत् की प्रक्रिया की स्थिति, विकास एवं व्यावर्त्तन – सब – इसी शब्द-प्रयोग पर आधारित होता है: **अर्थप्रवृत्तितत्त्वानां शब्दा एव निबन्धनम्** (वा० १.१३)।

११५. **शक्ति – विवर्त्त** के प्रसंग में **शक्ति** की स्पष्ट व्याख्या आ चुकी है। **धारणा, विस्तार,** एवं **व्यावर्त्तन** की शक्तियाँ ही शब्द की वास्तविक शक्तियाँ हैं। **शक्तिग्रह** की व्याख्या वस्तुतः इन तीन शक्तियों की स्वीकृति से ही की जा सकती है। इन शक्तियों की ही भिन्नता के कारण हम शब्द-प्रयोग की विभिन्न स्थितियों को एक ही 'शब्द-तत्त्व' में गृहीत न कर, उन्हें विभिन्न नामों से स्मरण करते हैं। **धारणा** या स्थिति-शक्ति को स्वयं भर्तृहरि **कालशक्ति** (वा० १.३) कहते हैं। उसके कारण ही क्रियाओं के विविध प्रयोगार्ह रूपों में भावैक्य होने पर भी उन्हें छः भेदों में बाँट लिया जाता है। परन्तु, यह शक्ति भी अपनी स्वतन्त्र सत्ता नहीं रखती। वस्तुतः ये सभी शक्तियाँ 'शब्द' की हैं, और उसी के आश्रित हैं। इन्हें शब्द की **नियामिका** नहीं कहा जा सकता। शब्द का वास्तविक महत्त्व तो है, उसके **सर्वबीज** होने में। **शब्द धातु या प्रातिपदिक के रूप में तो सर्वबीज है ही, समस्त ज्ञान-विज्ञान का आधार होने से भी वह सर्वबीज है।** उसकी विविध शक्तियों का परिणाम ही नाना वाक्-विस्तारों के रूप में सम्मुख आता है।[1]

११६. **सर्वबीजत्व** – इस प्रकार इन चार शब्दों में ही भर्तृहरि की **'शब्द-ब्रह्म'** सम्बन्धी धारणा स्पष्ट हो जाती है। गति (ब्रह्म) एवं स्थिति-विस्तार-व्यावर्त्तन (विवर्त्त) के द्वारा अपनी विविध शक्तियों को प्रदर्शित करता हुआ शब्द-तत्त्व ही **सर्वबीज** बनता है। 'सर्वबीज' की इस धारणा को स्पष्टता से समझने के लिए हमें शब्द-विषयक, भर्तृहरि के, एक और विचार की भी छान-बीन करनी होगी। उन्होंने

---

१. 'विवर्त्त' की अन्य चर्चा के लिए देखें अनुच्छेद १११ की प्रथम टिप्पणी।

रहना चाहिए, न कि उसके बाह्य भेदों में उलझ कर ही रह जाना चाहिए। भाषा-तत्व का यदि सत्य-ज्ञान हो जाए तब, एक पद का पूर्ण ज्ञान हो या सम्पूर्ण शास्त्रों का, उसका मूल्य एक बराबर ही हो जाता है। श्रुति ने भी एक पद के ज्ञान में यही लाभ बताया है : **एकः शब्दः सम्यग्ज्ञातः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके कामधुग्भवति** (महा० सूत्र ६.१.८४)।[1] इस एक शब्द को **प्रणवरूप** या **ब्रह्मरूप** कह सकते हैं। जिसने शब्द-ब्रह्म की वास्तविकता को जान लिया, उसके लिये शब्दों की संख्या का महत्त्व ही नहीं रह जाता। सत्य एक है, वाद अनेक हैं। उन विविध वादों या रूपों के आवरण के नीचे भी सत्य ढका नहीं जा सकता। इसी प्रकार शब्द-ज्ञान के तथाकथित विस्तार के पीछे भी शब्द-तत्व की वास्तविकता छिपी नहीं रहीं रह सकती। अतः उस एक शब्द-तत्व की उपलब्धि भी समस्त ज्ञान की उपलब्धि का कारण बन सकती है।

सत्या विशुद्धिस्तत्रोक्ता विद्यैवैकपदागमा।
युक्ता प्रणवरूपेण सर्ववादाविरोधिना॥ वा० १.९॥

इस प्रकार शब्द-ब्रह्म या शब्द-तत्व ही सब विद्याओं का मूल ठहरता है। उन विद्याओं के ध्येय भिन्न-भिन्न ठहर सकते हैं, क्योंकि उनका आधार लोक-परक होता है। फिर भी, उन सबके प्रसार, प्रचार और संवर्धन का माध्यम शब्द-सिद्धि ही है।

विधातुस्तस्य लोकानामङ्गोपाङ्गनिबन्धनाः।
विद्याभेदाः प्रतायन्ते ज्ञानसंस्कारहेतवः॥ वा० १.१०॥

शब्द की साधना ही शब्द-ब्रह्म के सहभोग एवं आस्वाद का आनन्द देती है। अतः शब्द रचना, शब्द-प्रवृत्ति एवं उसकी प्रसरणशीलता का पूर्ण ज्ञान आवश्यक है।[2]

११४. **कुछ विवेच्य शब्द** – उक्त दस श्लोकों पर गम्भीर दृष्टिपात करने के बाद यह स्पष्ट हो जाएगा कि भर्तृहरि की शब्द-ब्रह्म-विषयक धारणा पूर्ण वैज्ञानिक है। इस प्रसंग में **ब्रह्म, विवर्त्त, शक्ति** तथा **सर्वबीज** आदि शब्दों पर विशेष ध्यान देना होगा। **ब्रह्म** का अर्थ हम कुछ भी लें, उसमें 'बृंहण' या विस्तार – अथवा निरन्तर गतिमयता – का भाव तो रहेगा ही।[3] शब्द इस अर्थ में **अनादि-निधन** नहीं है कि वह कभी लुप्तरूप नहीं होता। बल्कि, वह ऐसा इसलिये है कि उसका विस्तार, प्रयोग, अथवा आकृतिगत परिवर्तन-परिवर्द्धन निरन्तर होता रहता है। और, इस प्रकार उसका प्रयोग नैरन्तर्य-सिद्ध रहता है। फिर, यह 'ब्रह्म' शब्द, शब्द-रूपों के लिये व्यवहृत न होकर, शब्द-तत्व या वाक्-तत्व के लिए प्रयुक्त हुआ है। उस वाक्-तत्व का न **आदि** विनिश्चित किया जा सकता है, न **अन्त**। वह वाक्-तत्व ही नाना पद-रूपों में विभक्त

१. भर्तृहरि ने इसे इस प्रकार पढ़ा है : 'एकः शब्दः सम्यग्ज्ञातः शास्त्रादिषु प्रयुक्तः स्वर्गे लोके कामधुग्भवति' (त्रिपदी टी० १.१.१)।　　२. वा० १.१३२.
३. विस्तृत-विवेचना के लिए देखें डॉ० प्रो० गोण्डा की 'Brahman'.

होकर भी अविभक्त रहता है। फिर भी वह निरन्तर गतिशील एवं प्रवृद्धिशील है। **विवर्त्त** शब्द कुछ अधिक उलझन भरा है। इसका अर्थ 'प्रलय' या 'अन्त' कर बैठना ठीक नहीं है। **'अर्थभावेन विवर्त्तते'** में विवृत्ति, **विवृति**, एवं 'व्यावृत्ति' तीनों के भाव आ जाते हैं। भावों का आदान-प्रदान एवं जागतिक प्रक्रिया का ह्रास-विकास इसी शब्द-तत्व पर आधारित रहता है। 'विवृत्ति' अर्थ है **विशिष्टरूपा स्थिति**। 'विवृति' का अर्थ है **विस्तार**। 'व्यावृत्ति' का अर्थ है **पुनः लौट आना**। शब्द प्रयोगिक रूप में **स्थिर रहता है**; इसे ही हम उसकी **धारणा-शक्ति** (पावर ऑफ रिटेंशन) कह सकते हैं। उसमें **अर्थ सम्बन्धी संकोच-विस्तार** की शक्ति रहती है; यह उसकी **विस्तार-शक्ति** (पावर ऑफ एक्सपेंशन) है। वह पुनः-पुनः नव-नव रूप में व्यवहार में आता है, यह उसकी 'व्यावर्तन' की शक्ति (पावर ऑफ रिवाइवल) कही जा सकती है। ये ही तीनों शक्तियाँ 'विवर्त्त' द्वारा अभिहित होती हैं। जगत् की प्रक्रिया की स्थिति, विकास एवं व्यावर्त्तन – सब – इसी शब्द-प्रयोग पर आधारित होता है: **अर्थप्रवृत्तितत्त्वानां शब्दा एव निबन्धनम्** (वा० १.१३)।

११५. **शक्ति** – **विवर्त्त** के प्रसंग में **शक्ति** की स्पष्ट व्याख्या आ चुकी है। **धारणा, विस्तार**, एवं **व्यावर्त्तन** की शक्तियाँ ही शब्द की वास्तविक शक्तियाँ हैं। **शक्तिग्रह** की व्याख्या वस्तुतः इन तीन शक्तियों की स्वीकृति से ही की जा सकती है। इन शक्तियों की ही भिन्नता के कारण हम शब्द-प्रयोग की विभिन्न स्थितियों को एक ही 'शब्द-तत्त्व' में गृहीत न कर, उन्हें विभिन्न नामों से स्मरण करते हैं। **धारणा** या स्थिति-शक्ति को स्वयं भर्तृहरि **कालशक्ति** (वा० १.३) कहते हैं। उसके कारण ही क्रियाओं के विविध प्रयोगार्ह रूपों में भावैक्य होने पर भी उन्हें छः भेदों में बाँट लिया जाता है। परन्तु, यह शक्ति भी अपनी स्वतन्त्र सत्ता नहीं रखती। वस्तुतः ये सभी शक्तियाँ 'शब्द' की हैं, और उसी के आश्रित हैं। इन्हें शब्द की **नियामिका नहीं** कहा जा सकता। शब्द का वास्तविक महत्त्व तो है, उसके **सर्वबीज** होने में। **शब्द धातु या प्रातिपदिक के रूप में तो सर्वबीज है ही, समस्त ज्ञान-विज्ञान का आधार होने से भी वह सर्वबीज** है। उसकी विविध शक्तियों का परिणाम ही नाना वाक्-विस्तारों के रूप में सम्मुख आता है।[1]

११६. **सर्वबीजत्व** – इस प्रकार इन चार शब्दों में ही भर्तृहरि की 'शब्द-ब्रह्म' सम्बन्धी धारणा स्पष्ट हो जाती है। गति (ब्रह्म) एवं स्थिति-विस्तार-व्यावर्त्तन (विवर्त्त) के द्वारा अपनी विविध शक्तियों को प्रदर्शित करता हुआ शब्द-तत्त्व ही **सर्वबीज** बनता है। 'सर्वबीज' की इस धारणा को स्पष्टता से समझने के लिए हमें शब्द-विषयक, भर्तृहरि के, एक और विचार की भी छान-बीन करनी होगी। उन्होंने

---

१. 'विवर्त्त' की अन्य चर्चा के **लिए देखें अनुच्छेद १११ की प्रथम टिप्पणी**।

यह विचार **शब्द-तत्त्व** और **अनादि-निधन** शब्दों के द्वारा व्यक्त किया है। यह तो स्पष्ट है कि भर्तृहरि यहाँ 'शब्द' का प्रयोग प्रयोगार्ह 'शब्द-रूपों' (**पद**) या उनके मूल रूपों (**धातु-प्रातिपदिक**) आदि के लिए नहीं कर रहे। स्पष्टतः वे **शब्द-मात्रा** या **वाक्-वृत्ति** की चर्चा कर रहे हैं। 'तत्त्व' का अर्थ है **मूलभाव** या 'मूलवृत्ति'। शब्द-प्रयोग की मूलवृत्ति या उसका 'मूलभाव' अक्षर है, अहेय है। शब्द प्रयोग की मूल-वृत्ति नष्ट नहीं होती, भले ही किसी शब्द-विशेष का प्रयोग एवं प्रचलन बन्द हो या वह निरन्तर रूप में चलता रहे। शब्द को **तत्त्व** मानने का एक और भी कारण है। 'तत्त्व' का एक अर्थ **गुण** भी ठहरता है। भारतीय दर्शनों ने पंच-महाभूतों में एक भूत **आकाश** को भी स्वीकार किया है। **'शब्दगुणोऽयमाकाशः'** के रूप में आकाश का गुण उन्होंने 'शब्द' को स्वीकार किया है। वर्तमान वैज्ञानिक धारणा के अनुसार भी आकाश (स्पेस) को ईथर तत्त्व से निर्मित माना गया है। इस ईथर के माध्यम से ही हज़ारों-लाखों मील दूर की भी ध्वनि हम तक पहुँच पाती है। 'ईथर' शब्द-ध्वनियों के वहन का माध्यम है। 'शब्द' उसी में उठी तरंगों के रूप में रहता है। वर्तमान विज्ञान भी ऐसे **शब्द को नित्य और अविनश्वर** स्वीकार करता है। इस प्रकार, दार्शनिक और वैज्ञानिक धरातल पर, शब्द आकाश का गुण ठहरता है, और इसीलिए अविनश्वर और नित्य है। इसके अतिरिक्त एक अन्य एतत्सम्बद्ध धारणा में भी भारतीय व पाश्चात्य वैज्ञानिक एकमत हैं। ईथर में उत्पन्न विविध तरंगों के द्वारा ही शब्द का धारण एवं प्रसारण होता है।[1] ये तरंगें निरन्तर फैलती जाती हैं, धीमी भी पड़ती जाती हैं, किन्तु, फिर भी, नष्ट नहीं होतीं। इसे हम शब्द की **व्यापनशील वृत्ति** कह सकते हैं। **'व्याप्तिमत्वात्तु शब्दस्य'** का अर्थ भी बहुत कुछ यही है। निरुक्त (१.२.४) की यह उक्ति इसी आशय से प्रेरित है। दुर्गाचार्य ने अपनी टीका में इस सूत्र की व्याख्या शारीरिक व्याप्ति की दृष्टि से की है,[2] फिर भी उसका आधार आकाश-जन्यता ही है। परन्तु इसकी दो अन्य व्याख्याएँ भी की जाती हैं। एक के अनुसार शब्द व्यापनशीला बुद्धि को व्याप्त करने से 'व्याप्तिमान' है।[3] दूसरी के अनुसार उसका प्रयोग-क्षेत्र असीम है।[4] पर इनसे भी अधिक युक्तिगम्य एवं वैज्ञानिक है भर्तृहरि

---

१. आजकल ब्रह्माण्ड-किरणों को भी, 'ईथर' के स्थान पर, शब्द की तरंगों का वाहक माना जाने लगा है।

२. 'शरीरे ह्यभिधानाभिधेयरूपा बुद्धिर्हृदयान्तर्गताकाश-प्रतिष्ठिता' ...आदि (नि० १.२.४. दुर्गवृत्ति)।

३. 'व्याप्तिभावमापन्नः श्रोत्रद्वारेणानुप्रविश्य प्रत्याय्यस्य बुद्धिं सर्वार्थरूपां०' (दुर्गवृत्ति नि० १.२.४)।

४. 'महान् शब्दस्य प्रयोग विषयः' (महा० १.१.१, वा० ५)।

की यह युक्ति :

अल्पे महति वा शब्दे स्फोटकालो न भिद्यते ।
परस्तु शब्दसन्तानः प्रचयापचयात्मकः ।। वा० १.१०४ ।।

अर्थात्, 'शब्द व्यापक है, अपनी 'आकृति' (फार्म) के कारण नहीं, अपने 'अर्थ-विस्तार' के कारण' । उस 'तत्त्व' का ही प्रपंच-विस्तार एक प्रयोगार्हा 'वाक्' है ।

११७. **अनादि-निधन** – यह विशेषण भी 'शब्द-तत्त्व' के लिए ही है । वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करें या दार्शनिक दृष्टि से – जन्म-नाश, आविर्भाव-तिरोभाव, या आदि-निधन आदि शब्द हमारी दृष्टि, पहुँच या बुद्धि की अपनी सीमाओं के द्योतक हैं, न कि किसी वास्तविकता के ।[1] 'स्थिति' को हम 'सत्ता' कहते हैं । 'शब्द है' यही सत्य है : मैंने उसे बोला या किसी ने उसे सुना, इसीसे उसे 'उत्पन्न' कहना तथा क्योंकि अब वह नहीं सुनाई दे रहा, इसीसे उसे 'विनष्ट' कहना केवल एक भ्रम ही है । भर्तृहरि ने इस सत्य को अनेकत्र स्पष्ट शब्दों में दुहराया है ।[2] वे तो जन्म-नाश, भाव-अभाव एवं आविर्भाव-तिरोभाव को दो सापेक्ष स्थितियाँ-मात्र स्वीकार करते हैं । हमारे ज्ञान की अपनी सीमाएं हैं । इस ज्ञान की पहुँच में जब कोई वस्तु आ जाती है, उस स्थिति को हम उसका **आविर्भाव, भाव** या **जन्म** कह देते हैं । जब वह हमारी उस ज्ञान सीमा से परे हो जाती है, तब **तिरोभाव, विनाश** या **अभाव** नाम दे देते हैं । इस प्रकार ये नाम हमने अपने ज्ञान की सीमाओं के कारण, सर्वथा व्यावहारिक सुविधा के लिए, रख लिए हैं । व्यावहारिक सुविधा के लिए ही इन शब्दों का प्रयोग होता है । अन्यथा, सत्य यह है कि जो चीज है वह मिट नहीं सकती, जो नहीं है वह उत्पन्न नहीं हो सकती ।

नासदुत्पादो नृशृंगवत् ।। सांख्य १.११५ ।।
नासतो विद्यते भावो नाऽभावो विद्यते सतः ।। गीता २.१६ ।।
नाभावो जायते भावो, नैति भावोऽनुपाख्यताम् ।
एकस्मादात्मनोऽनन्यौ भावाभावौ विकल्पितौ ।। वा० ३.३.६० ।।

इस प्रकार शब्द 'अनादि-निधन' है : वह नित्य है; वही 'शब्द-ब्रह्म' है ।

११८. **सिद्ध और नित्य – शब्दो नित्यः** की धारणा भारतीय चिन्ताधारा में आरम्भ से ही चलती आई है । कात्यायन ने **'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे'**[3] के रूप में इसे सिद्धान्त-रूप देना चाहा । पतंजलि ने इसकी व्याख्या में, उसे **'सिद्धे शब्दे अर्थे सम्बन्धे च'** कह कर, शब्द को **नित्य** कहा । इसी प्रकरण में उसने शब्द के कार्य व नित्य–दो–रूपों पर

१. देखिए अनुच्छेद ११२. २. वा० ३.३.५७–६०; एवं ३.८.२५, २६.
३. महा० १.१.१, वा० १.

भी विचार किया। शब्द को अन्ततः उन्होंने 'नित्य' ही स्वीकार किया। भर्तृहरि ने भी शब्द को न्याय, मीमांसा एवं महाभाष्य के अनुकरण पर नित्य ही स्वीकार किया है। शब्द की नित्यता-विषयक उसके विचारों की की कुछ झाँकी ऊपर मिल ही चुकी है। यहाँ उसके एतद्विषयक अन्य युक्तिक्रम पर प्रकाश डालना भी असंगत न होगा।

(१) उच्चरित शब्द नित्य नहीं है। वह तो क्षीयमाण ध्वनि है। नित्य शब्द है वह तत्त्व, जिसे ये ध्वनियाँ स्पष्ट करती हैं :

अजस्रवृत्तिर्यः शब्दः सूक्ष्मत्वान्नोपलभ्यते।
व्यजनाद्वायुरिव स स्वनिमित्तात्प्रतीयते॥ वा० १.११७॥

वस्तुतः आकारमात्र ही अनित्य है। नित्य तो है वह भावना या **बुद्धिस्थ शब्द**, जो इन आकारों द्वारा प्रकट किया जाता है।

सत्यं वस्तु तदाकारैरसत्यैरवधार्यते।
असत्योपाधिभिः शब्दैः सत्वमेवाभिधीयते॥ वा० ३.२.२॥

इसीलिए **आकार** (फॉर्म) को **आत्मा** का प्रतिरूप मानना ही उचित है। स्वतन्त्र रूप में आकार असत्य है, अनित्य है :

आत्मा वस्तु स्वभावश्च शरीरं तत्वमित्यपि।
द्रव्यमित्यस्य पर्यायास्तच्च नित्यमिति स्मृतम्॥ वा० ३.२.१॥

तभी **तत्व-भूत** उस शब्द को ही 'नित्य' कहा गया है :

तेष्वाकारेषु यः शब्दस्तथाभूतेषु वर्तते।
तत्त्वात्मकत्वात्तेनापि नित्यमेवाभिधीयते॥ वा० ३.२.६॥
सत्यमाकृतिसंहारे यदन्ते व्यवतिष्ठते।
तन्नित्यं शब्दवाच्यं तच्छब्दत्वं न तु भिद्यते॥ वा० ३.२.१॥

इसे ही हम **बुद्धिस्थ शब्द** या **शब्द-भावना** कह सकते हैं।

(२) शब्द की नित्यता है, उसकी **प्रयोग-नित्यता** के कारण। 'वाक्' का प्रयोग लोक-जीवन के लिए अनिवार्य है। शब्द को अनित्य मानते हुए लोक-व्यवहार की असम्भाविता को स्वीकार करना होगा :

वाग्रूपता चेदुत्क्रामेदवबोधस्य शाश्वती।
न प्रकाशः प्रकाशेत सा हि प्रत्यवमर्शिनी॥ वा० १.१२५॥

लोक-जीवन का सम्पूर्ण आधार ही इस शब्द-व्यवहार पर आधारित है :

इतिकर्त्तव्यता लोके सर्वा शब्दव्यपाश्रया॥ वा० १.१२२॥

ऋषि-लोग भी इस लोक-परम्परा का उल्लंघन नहीं कर सकते :

ऋषीणामपि यज्ज्ञानं, तदप्यागमपूर्वकम्॥ वा० १.३०॥
यच्चोपघातजं ज्ञानं, यच्च ज्ञानमलौकिकम्।
न ताभ्यां व्यवहारोऽस्ति, शब्दाः लोकनिबन्धनाः॥ वा० २.२९९॥

(३) एक समय में किसी विशिष्ट अर्थ में प्रचलित शब्द कालान्तर में किसी अन्य अर्थ में भी प्रचलित हो सकता है :

एकस्मिन्नपि दृश्येऽर्थे दर्शनं भिद्यते पृथक् ।

कालान्तरेण चैकोऽपि तं पश्यन्त्यन्यथा पुनः ।। वा० २.१३८ ।।

इसी भावना को पतंजलि एवं भर्तृहरि ने कात्यायन के 'अप्रयुक्ते दीर्घसत्रवत्' (वार्तिक ४) की व्याख्या में भी स्पष्ट किया है ।

(४) कात्यायन के वार्तिक **'सर्वे देशान्तरे'** (वा० ५) की व्याख्या में भर्तृहरि, पतंजलि के आशय को स्पष्ट करते हुए, कहते हैं :

"यथा पुरुषीशब्दः स्त्रीलिंगः, क्वचिदप्रयुक्तो, मैत्रावरुणीये च कल्पे प्रयुज्यते । शवतिर्गतिकर्मा सर्वविभक्त्यंतः कम्बोजेष्वेव भाषितो, विकार एनमार्या भाषन्ते शव इति । जीवितः प्रकृतिर्मृतो विकारः" (त्रिपदी टीका १.१.१) ।

प्रादेशिक प्रयोगों में घटा-बढ़ी एवं अर्थ विस्तार, सम्भव ही नहीं, अनिवार्य भी है ।

(५) शब्द पुराने अर्थों को छोड़ कर नए अर्थों में भी रूढ़ हो जाते हैं, पर उनकी मूल भावना अक्षुण्ण रहती है :

तथा स्वरूपं शब्दानां सर्वार्थेष्वनुषज्यते ।

अर्थमात्रं विपर्यस्तं स्वरूपे तु स्थितः स्थिरा ।। वा० २.२५८ ।।

(६) शब्द अर्थनित्य हैं : उनका अर्थ से नित्य सम्बन्ध है (वा० १.२३) । अतः उनके **कार्य** अथवा **नित्य** रूपों पर बहस करना भ्रामक है । सत्य तो यह है कि मानव-प्राणी के प्रथम आविर्भाव की समस्या के समान नित्य व कार्य का परस्पर सम्बन्ध भी अनादि है :

नित्यत्वे कृतकत्वे वा तेषामादिर्न विद्यते ।

प्राणिनामिव सा चैषा व्यवस्थानित्यतोच्यते ।। वा० १.२८ ।।

११६. **बुद्धिस्थ शब्द ही महान् देव है** – भर्तृहरि की शब्द-विषयक एक अन्य धारणा पर भी दृष्टिपात करना अनुचित न होगा । शब्द के वास्तविक स्वरूप को स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा है :

अपि प्रयोक्तुरात्मानं शब्दमन्तरवस्थितम् ।

प्राहुर्महान्तमृषभं येन सायुज्यमिष्यते ।। वा० १. १३१ ।।

वस्तुतः, इसे भर्तृहरि की उक्त धारणाओं से भिन्न मानना उचित नहीं है । इसमें वे शब्द के वास्तविक स्वरूप को ही अधिक स्पष्ट करते हैं । वैदिक मन्त्र की व्याख्या करते हुए पतंजलि ने शब्द को 'महान् देव' कहा है । **चत्वारि शृंगा त्रयोअस्यपादा**[1], इत्यादि मन्त्र का अर्थ करते हुए उन्होंने व्याकरणात्मक सभी विभागों का अन्तर्भाव उस

१. महा० १. १. १.

में कर लिया है। इस प्रकार, शब्द की विविध सीमाओं एवं उसके विविध विस्तारों को दिखाने के बाद, वे उसे **महान् देव** घोषित करते हैं। 'शब्द' ही मनुष्यों के पास दिव्यात्मिका शक्ति है। किन्तु, भर्तृहरि व्याकरण के परम्परागत रूप को वस्तविक नहीं मानते। उन्होंने **व्याकरण** को एक नई दृष्टि से देखा है। इसीलिये, शब्द की व्याकरणगत सीमाओं तक ही न रुक कर, वे व्याकरण के ध्येयभूत वाक् के **परम रस**[2] को ही शब्द या वाक् का सत्य रूप मानते हैं। शब्द या वाक् का वह रूप **रूप-विभाग** की सीमा से परे है। किन्तु, व्याकरण का विषय ये ही **रूप-विभाग** हैं। वस्तुतः, शब्द का तात्विक रूप उठना आरम्भ होता है वक्ता की आत्मा से, **वागात्मा** से। वक्ता की इच्छा का आश्रय-स्थल यही आत्मा है। अभिव्यक्ति की इच्छा उसकी आत्मा को आन्दोलित करती है। यह इच्छा बाद में **मनोभाव** और **बुद्धिस्थ शब्द** का रूप ग्रहण करती है। तब इसी की अभिव्यक्ति नाना आकृतियों या रूप-विभागों द्वारा होती है, जिन्हें हम श्रुति द्वारा ग्रहण करते हैं।

अरणिस्थं यथा ज्योतिः प्रकाशान्तरकारणम् ।

तद्वच्छब्दोऽपि बुद्धिस्थः श्रुतीनां कारणं पृथक् ।। वा० १. ४७ ।।

बुद्धिस्थ शब्द को भी **रूप** देने का मूल कारण है यह **आत्मा** ही। आत्मा अभिव्यक्ति की इच्छा से विचलित होकर ही शब्द ढूँढ़ने के कार्य में बुद्धि की सहायता लेता है।

आत्मा बुद्ध्या समर्थ्यार्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया ।। पा० शि० ६ ।।

अतः शब्द का ज्ञेय और उसका क्षेत्र केवल दृश्य रूपों तक ही सीमित नहीं है, बल्कि उसका सत्य और वास्तविक स्वरूप इस आकृति-भेद से परे है (वा० ३. २. ११.)। शब्द के उस रूप को भर्तृहरि 'महान् ऋषभ' कहते हैं। व्याकरण का भी ध्येय वही है; वह उसका विवेच्य भले ही न हो।

---

२. प्राप्तरूपविभागाया: यो वाचः परमो रसः ।
यत्तत्पुण्यतमं ज्योतिस्तस्य मार्गोऽयमाञ्जसः ।। वा० १. १२ ।।

शब्द का स्वरूप

१२०. **वैज्ञानिक दृष्टि** — शब्द के महत्त्व के विषय में जानने के बाद शब्द के स्वरूप के विषय में जान लेना भी अत्यावश्यक है। यहाँ यह उल्लेख कर देना प्रासंगिक ही होगा कि इस विषयमें विचार पर्याप्त पहले से होता आया है। भर्तृहरि की विशेषता इसी बात में है कि उन्होंने वैज्ञानिक स्तर पर इस प्रश्न पर, अत्यन्त विस्तार में जाकर, विचार किया है। उनके विचारों को वर्तमान **भाषा-तात्विक अध्ययन** की छाया में पढ़ने पर हमें कुछ असमाहित समस्याएँ भी सुलझती दीखेंगी।

१२१. **परम्परा** — 'शब्द क्या है ?' इस प्रश्न पर सर्वप्रथम विचार पतंजलि ने किया है। मीमांसा, सांख्य, न्याय, आदि में भी इस प्रश्न की विवेचना हुई है। वृत्तिकार ने मीमांसा के मत का विश्लेषण करते हुए लिखा है : **'अथ गौरित्यत्र कः शब्दः ? गकारौकारविसर्जनीयाः इति भगवानुपवर्षः। श्रोत्रग्रहणे ह्यर्थे शब्दशब्दः प्रसिद्धः। यद्येवमर्थप्रत्ययो नोपपद्यते।...अतो गकारादिव्यतिरिक्तोऽन्यो गोशब्दोऽस्ति, यतोऽर्थ-प्रतिपत्तिः स्यात्'**।[1] अर्थात्, 'शब्द उस ध्वनिसमूह को नहीं कहते, जिनके संयोग से तथाकथित शब्द-रूप बनता है, बल्कि शब्द वह है जिससे किसी अर्थ का विनिश्चय या प्राप्ति होती है।' यह बात इसलिये स्पष्ट करनी अधिक आवश्यक थी, क्योंकि औदुम्बरायण आदि आचार्यों ने यास्क से बहुत पूर्व ही **'इन्द्रियनित्यं वचनम्'**[2] की धारणा चला दी थी। उच्चरित ध्वन्यंशों को शब्द-निर्माण में असमर्थ पाकर ही उन्होंने शब्द की **ध्वनिसमूहपरक** सत्ता मानने से इन्कार किया था। उनकी धारणा के अनुसार शब्द (वाक्य) धारणा या बुद्धि का विषय है, इन्द्रियजन्य उत्पत्ति का नहीं।[3] किन्तु, उनके विपरीत एक दूसरा विचार भी उस समय बलवान् था, जिसके अनुसार उच्चरित ध्वनि-समूह ही शब्द गिना जाता था। पतंजलि ने इस मत को ही व्याख्यान्तर द्वारा **'तस्मात् ध्वनिः शब्दः'**[4] के रूप में कहा है। किन्तु, सत्य यह है कि वे यहाँ 'शब्द' का व्यावहारिक अर्थ बता रहे हैं, न कि वैज्ञानिक। वैज्ञानिक परिभाषाएँ तो वे पहले ही दे चुके हैं : **येनोच्चारितेन सास्नालाङ्गूलककुदखुरविषाणिनां सम्प्रत्ययो भवति स शब्दः** ; अथवा, **प्रतीत पदार्थको हि लोके ध्वनिः शब्द इत्युच्यते** (म० १.१.१)। इन दोनों ही

---

१. वृत्तिकार ग्रन्थ, पृ० ४५।
२. निरुक्त, १.२.१७ (१)।
३. इस विषय को अनुच्छेद ६६ और ८३ में स्पष्ट किया जा चुका है।
४. महा० १.१.१.

परिभाषाओं में अर्थ-सम्प्रत्यय की बात कही गई है। जो भी ध्वनि-समूह किसी भी अर्थ-सम्प्रत्यय को देने में समर्थ है, वही 'शब्द' कहलाने का अधिकारी है। पतंजलि की यह परिभाषा यास्क की मान्यता के अनुकूल है : **अर्थनित्यः परीक्षेत** (नि० १.१.३)। शब्दों के निर्माण या उनकी प्रवृत्ति की परीक्षा भी उनके अर्थों के आधार पर ही होनी चाहिये। इसी भाव को लेकर कात्यायन ने **'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे'** की बात कही थी। पतंजलि ने उसी की व्याख्या में शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को नित्य माना था। इसका अर्थ हुआ कि जब भी हम कुछ सुनते हैं, जब तक उससे कुछ अर्थ-प्रतीति नहीं होती तब तक, उसे **शब्द** नहीं कह सकते। अनर्थक ध्वनि हो या तथाकथित 'शब्द', यदि उन से **किसी पदार्थ का सम्प्रत्यय** नहीं होता, तो उनका महत्त्व एक समान है। वे श्रोता के लिये अर्थहीन रहते हैं। **पदार्थ के सम्प्रत्यय** का अर्थ किसी आकार की उपलब्धि ही नहीं है, बल्कि कोई भी विनिश्चय या प्रतिक्रियात्मक उपलब्धि, जो श्रोता के मन में किसी ध्वनि-विशेष द्वारा उठती है, 'सम्प्रत्यय' कहलाती है। ऐसी प्रतीति को पैदा करने वाली ध्वनि ही शब्द कहलाएगी, चाहे हम उसमें **धातु** खोज पायें या नहीं।[1]

१२२. **भर्तृहरि की मान्यता** — भर्तृहरि की धारणा का आधार यही मान्यता है। **नित्याः शब्दार्थसम्बन्धास्तत्राम्नाता महर्षिभिः** (वा० १.२३), में उन्होंने शब्द को अर्थ से अविच्छेद्य ही माना है। यहाँ उनका संकेत यास्क, पाणिनि, कात्यायन एवं पतंजलि की ओर है। 'अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्' (पा० १.२.४५) में अप्रत्यक्षतः पाणिनि ने प्रातिपादिक, धातु व प्रत्यय को **नित्य अर्थवान्** स्वीकार किया है। सुबन्त हो या तिङन्त, शब्द रूपों (**वर्ड-फॉर्म्स**) का समस्त विस्तार प्रातिपादिक या धातु से ही सम्भव हो पाता है। अतः प्रयोगार्ह पदों के निर्माण का मूलाधार ही उनकी **अन्त-र्भावना** ठहरती है। पाणिनि ने प्रत्यक्षतः उपसर्ग और निपात आदि को भी प्राति-पदिक ही स्वीकार किया है, क्योंकि वे उनसे भी सुबन्तादि प्रत्ययों की स्थिति, सिद्धान्ततः, स्वीकार करते हैं। बाद में **'अव्ययादाप्सुपः'**[2] के रूप में भले ही वे उन प्रत्ययों का अदर्शन (लोप) स्वीकार करते हैं। इस प्रकार भाषा के विभाज्य सभी अंगों की अर्थवत्ता उसने नैत्यिक रूप में स्वीकार की है। पतंजलि ने कात्यायन के **'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे'** की व्याख्या में **कार्य व नित्य** के अन्तर को बताते हुए शब्द को, सापेक्ष दृष्टि से, **नित्य** ही ठहराया है। साथ ही उन्होंने अर्थ को भी **नित्य** स्वीकार किया है, तथा उसके शब्द से सम्बन्ध को भी। इसी भावना के आधार पर भर्तृहरि ने शब्दार्थ के नित्य-सम्बन्ध की बात कही।

---

१. "Words are linguistic units, but they are not phonetic units: no merely phonetic analysis...etc." (**येस्पर्सन, 'फिलॉसफ़ी ऑफ ग्रामर',** पृ० ९२)।

२. पा० २.४.८२.

१२३. **शब्द और अर्थ एक हैं** – प्रश्न यह उठता है कि क्या शब्द और अर्थ दो भिन्न वस्तुएँ हैं या अभिन्न और अपृथक् ? पाश्चात्य विद्वानों ने **भावना** (इण्टेण्ट) एवं **रूप** (फॉर्म) को लेकर पर्याप्त चर्चा की है। भावना के सम्मुख रूप को वे महत्वहीन स्वीकार करते हैं। प्रो० व्हाट्माऊ के शब्दों में, 'अभिव्यक्ति के समस्त प्रयत्न व माध्यम हमारी चेतना को अभिव्यक्त करने के लिये ही होते हैं।[१]' ब्लूमफ़ील्ड ने भावना के स्थान पर अर्थ (मीनिंग) को महत्त्व दिया है।[२] स्पष्ट है कि शब्दों के रूप व आकृति का उतना महत्त्व नहीं है जितना उस भावना का, जो 'अर्थ' के रूप में वक्ता (और श्रोता) के **मन का विषय** रहती है। जब तक यह 'भावना' न हो, तब तक न शब्द-रूप का आविर्भाव होता है, न उच्चारण। शब्द 'स्मृति' या परम्परागत रूप में भले ही नित्य हो, किन्तु उसकी नित्यता और अमरता का वैज्ञानिक आधार है उसके प्रयोग में। और, यह प्रयोग सम्भव है वक्ता की भावना से ही। 'भावना' के बिना 'वाक्' की स्थिति ही निराधार है।

आद्यः करणविन्यासः प्राणस्योर्ध्वं समीरणम् ।
स्थानानामभिघातश्च न विना शब्दभावनाम् ॥ १.१२२ ॥

तो क्या शब्द-भावना ही 'शब्द' है और वही अर्थ है ? इस सम्बन्ध में भर्तृहरि के दो वक्तव्य अवधेय हैं। प्रथम : **एक ही शब्द विभिन्न स्थितियों में विविध अर्थों का द्योतन करा सकता है।**[3] द्वितीय : **एक ही बुद्धिस्थ शब्द (शब्द-भावना) अनेक श्रुति-रूपों को जन्म दे सकता है।**[४]

वस्तुतः इस वैविध्य के दो कारण हो सकते हैं : **ऐन्द्रियक (मेकेनिकल)** और **भावनात्मक (मेण्टल)**। ऐन्द्रियक अथवा भौतिक कारणों में काल, स्थान, प्रकरणादि का भी समावेश हो जाता है।[५] भावनात्मक पक्ष में वक्ता व श्रोता – दोनों – की मनःस्थिति का अन्तर्ग्रहण हो जाता है। शब्द और अर्थ के सम्बन्ध का विनिश्चय उन दोनों की मनःस्थिति पर आधारित होता है।

---

१. "Thus an utterance is a part of the performance of a mechansim devised to define, delimit, formulate, identify and evaluate an external act or expression to our consciousness." (Language, NAL, pp. 68.)

२. "In practice, then, all linguists, both mentallists and mechanics, define meanings in terms of the speaker's situation and, whenever this seems to add anything, of the hearer's response." (Lang., pp. 144, 9,4 para.)

३. वा० २.२५२, २५६. ४. वा० १.४६. ५. वा० १.३८; २.१३६.

वक्त्राऽन्यथैव प्रक्रान्तो भिन्नेषु प्रतिपत्तृषु ।
स्वप्रत्ययानुकारेण शब्दार्थः प्रविभज्यते ॥ वा २.१३७ ॥

अथवा, यत्नेनानुमितोऽप्यर्थः कुशलैरनुमातृभिः ।
अभियुक्ततरैरन्यैरन्यथैवोपपद्यते ॥ वा० १.३४ ॥

वक्ता एवं श्रोता की **भावना की भिन्नता** किसी अनभीप्सित अथवा विपरीत परिणाम पर ले जाती है, जबकि उनकी **भावनात्मक एकता** उन्हें प्रायोगिक भावना के मूल तक ले जाती है : **बुद्ध्यर्थादेव बुद्ध्यर्थे जाते तदपि दृश्यते** ।[१] कुछ भी हो, ऐन्द्रियक कारण हों या भावनात्मक, 'शब्द' का **रूप** (फॉर्म) किसी एक **भावना या संकेत** (इण्टेण्ट या इण्डिकेशन) को लेकर ही चलता है । वस्तुतः लोक-व्यवहार में हम शब्द-प्रयोग करते ही इस अर्थ-भावना के बल पर हैं । जो कुछ हम सुनते व समझते हैं, वह भी, शब्द का, बाह्य रूप न होकर, उसके द्वारा अभिप्रेत **भावना** ही होती है । लोक में उस शब्द का, **शब्द-रूप** की दृष्टि से, किंचित् भी प्रायोगिक महत्त्व नहीं रहता । यह व्याकरणात्मक अथवा शास्त्रीय दृष्टि ही है, जो उसके बाह्य-रूप (प्रकृति-प्रत्ययादि) पर विचार करती है । प्रयोग करने वाले या समझने वाले का मन इन सब उलझनों को सुलझाने नहीं बैठ जाता । वह तो सीधा वक्ता की भावना या वक्तव्य-विषय को पा लेना चाहता है । इसीलिये व्यवहारतः इन 'रूपों' का उतना महत्त्व नहीं है, जितना उन द्वारा प्रस्तावित भावनाओं का :

लोकेऽर्थरूपतां शब्दः प्रतिपन्नः प्रवर्त्तते ।
शास्त्रे तूभयरूपत्वं प्रविभक्तं विवक्षया ॥ वा० २.१३३ ॥

अर्थात्, 'व्यवहार में शब्द का वास्तविक रूप ही अर्थ को समझा जाता है, जब कि शास्त्र में अर्थ और उसके **बाह्य-रूप** – दोनों – का विचार होता है ।'

१२४. **बाह्य व अन्तः रूप** – भर्तृहरि की इस दृष्टि को गार्डिनर ने अधिक सही रूप में समझा है । उन्होंने शब्द के दो पार्श्व या रूप स्वीकार किये हैं : दोनों एक दूसरे से अभिन्न । इन्हें उन्होंने 'अन्तःरूप' और 'बाह्य-रूप' का नाम दिया है । प्रथम को हम भावना का मूल (प्रातिपदिक) या अर्थ कह सकते हैं, और द्वितीय को पद-रूप आकार ।[२] उन्होंने संज्ञाक्रिया आदि के समस्त भेदों को 'बाह्याकारनिबन्धनाः' ही माना है ।[3] वस्तुतः **'इनर फॉर्म'** (अन्तः रूप) के द्वारा भी वे प्रातिपदिक आदि के

१. वा० ३.३.३३.

२. "But true enough it is that differences of inner word-form, as I shall call the semantic aspect, are often accompanied by outer word-form, and that the term word-form owes its origin to the later" (Sp. and lg., pp. 131, 41 para).

३. "I maintain that the so-called "parts of sceech" are distincions of word-form". (ibid, pp. 134, 41 para).

बाह्यरूप (**वर्ड फॉर्म**) को न कह कर उनके अर्थवत् रूप पर ही बल देते हैं। भर्तृहरि **निमित्तभूत शब्द** तथा **प्रयुज्यमान शब्द** के प्रयोग द्वारा इसी अन्तर एवं बाह्य-रूप के भेद को स्पष्ट करते हैं:

द्वावुपादानशब्देषु शब्दौ शब्दविदो विदुः।
एको निमित्तं शब्दानामपरोऽर्थे प्रयुज्यते ॥ वा० १.४४ ॥

किन्तु, साथ ही वे यह स्पष्ट कर देते हैं कि ये दोनों एक ही आत्मा के दो पार्श्व हैं; दो भिन्न वस्तुएँ नहीं हैं:

आत्मभेदस्तयोः कश्चिदस्तीत्याहुः पुराणगाः।
बुद्धिभेदादभिन्नस्य भेदमेके प्रचक्षते ॥ वा० १. ४५ ॥

भर्तृहरि जानते हैं कि अर्थभावना के द्योतन या प्रत्यायन में समर्थ हुए बिना शब्द के बाह्याकार का कोई महत्व ही नहीं रह जाता। शब्द का जीवन ही है अर्थ की द्योतकता पर। जब तक शब्द उस अर्थभावना से सम्बद्ध नहीं हो जाता, तब तक वह सत्ताहीन सा ही रहता है। सुना-अनसुना तब तक एक-सा ही रहता है:

विषयत्वमनापन्नैः शब्दैर्नार्थः प्रकाश्यते।
न सत्तयैव तेऽर्थानामगृहीताः प्रकाशकाः ॥ वा० १.५६ ॥

तब ये 'रूप' और 'अर्थ' (भावना) क्या हैं? क्या ये दो वस्तुएँ हैं, या एक? भर्तृहरि इन्हें एक ही मानते हैं: एक वस्तु के दो धर्म मात्र:

भेदोनावगृहीतौ द्वौ शब्दधर्मावपोद्धृतौ।
भेदकार्येषु हेतुत्वमविरोधेन गच्छतः॥ वा० १. ५९ ॥

अतः 'शब्द' केवल उस वर्ण-समूह या ध्वनि-समूह का नाम नहीं है, जो एक साथ या निरन्तर रूप में उच्चरित किया जाता है, बल्कि उस ध्वनि समूह का नाम है, जो उच्चारण-समकाल ही हमें किसी प्रतीति का साक्षात् करा देती है:

यस्मिंस्तूच्चरिते शब्दे यदा योऽर्थः प्रतीयते।
तमाहुरर्थं तस्यैव नान्यदर्थस्य लक्षणम् ॥ वा० २. ३३० ॥
प्रतीतपदार्थको हि ध्वनिः लोके शब्दः ॥ महा० १. १. १ ॥

इसी सत्य को प्रो० व्हाट्माऊ दूसरे शब्दों में कहते हैं: **शब्द का रूप निर्धारण किन्हीं आन्तरिक धारणाओं के आधार पर निश्चित एवं स्थिर होता है।**[1] वृत्तिकार इसे ही इस प्रकार कहते हैं: **अतो गकारादिव्यतिरिक्तोऽन्यो गोशब्दोऽस्ति यतोऽर्थप्रतिपत्तिः स्यात्** (वृत्ति० पृ० ४५)।

---

1. "A word is, from this point of view, a cohesive sequence of phonemes the arrangement of which is determined by strong internal probabilities." (Language, NAL, pp. 69).

१२५. **बाह्य रूप और भावना** – यह प्रश्न वस्तुतः शब्द के आविर्भाव से सम्बन्ध रखता है। वाक् के 'उच्चारण तथा ग्रहण' प्रकरण में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि उच्चारण-प्रक्रिया के आरम्भ से पूर्व ही वक्ता का मन, एक शब्द या वाक्य के रूप में, अपने वक्तव्य को केन्द्रित कर लेता है। वक्तव्य के 'मनोभाव' के रूप में इस परिसीमन को ही 'बुद्धिस्थ शब्द' कहते हैं। इस 'बुद्धिस्थ शब्द' को हम उसी मनोभाव के वाहक अनेक शब्दों के रूपों द्वारा भी व्यक्त कर सकते हैं (वा० १.४६)। प्रयोक्ता के द्वारा प्रयुक्त 'शब्द' या 'बाह्यरूप' को ही श्रोता सब से पहले ऐन्द्रियक रूप में ग्रहण करता है। वस्तुतः यह रूप-ग्रहण माध्यम-मात्र ही होता है, क्योंकि श्रोता या ग्रहीता का वास्तविक ध्यान तो होता है प्रयोक्ता द्वारा प्रयुक्त 'शब्द-भावना' (मनोभाव) पर ! भर्तृहरि के शब्दों में :

यथा प्रयोक्तुः प्राग्बुद्धिः शब्देष्वेव प्रवर्त्तते।
व्यवसायो ग्रहीतॄणामेवं तेष्वेव जायते ॥ वा० १.५४॥

अर्थात्, 'निश्चय ही वक्ता या प्रयोक्ता किसी अभिप्राय (अर्थ) को व्यक्त करना चाहता है और उसके लिए 'शब्द रूप' को माध्यम चुनता है। श्रोता उसी शब्द-रूप को सुनकर वक्ता के मनःस्थित अभिप्राय तक पहुँचने का यत्न करता है।

शब्दः कारणमर्थस्य स हि तेनोपजन्यते।
तथा च बुद्धिविषयादर्थाच्छब्दः प्रतीयते ॥ वा० ३.३.३२॥

अर्थात्, 'शब्द और अर्थ – दोनों – का अन्योन्याश्रित अस्तित्व ही उनके पारस्परिक सम्बन्ध को अधिक स्पष्ट कर सकता है'। फिर भी, इतना तो सत्य है कि शब्द का उच्चरित बाह्यरूप किसी एक निश्चित भावना का वाहक होता है। उसके प्रयोग के पीछे कोई एक स्थिरीकृत धारणा होती है; भले ही यह धारणा प्रयोग-प्रयोग के अनुसार अपना सम्बन्ध बदलती रहती है। 'पर्यायवाचक' आदि शब्दों में भी यही बात मूल में रहती है :

बहुष्वेकाभिधानेषु सर्वेष्वेकार्थकारिषु।
यत्प्रत्योक्ताऽभिसंधत्ते शब्दस्तत्राऽवतिष्ठते ॥ वा० २.४०६॥

इसे ही प्रो० व्हाट्माऊ इस प्रकार कहते हैं – 'शब्द के प्रयोगिक अर्थ को समझने के लिए उस के प्रायोगिक-महत्त्व का ज्ञान होना भी आवश्यक है'।[१] इसका अर्थ हुआ कि शब्द का बाहरी रूप भी अपने परिवेश के साथ महत्वपूर्ण है। भर्तृहरि ने इसीलिए, 'ज्ञान' और 'ज्ञेय' की भाँति, शब्द-स्वरूप और अर्थ का सम्बन्ध माना है :

आत्मरूपं यथा ज्ञाने ज्ञेयरूपं च विद्यते।
अर्थरूपं तथा शब्दे स्वरूपं च प्रकाशते[२] ॥ वा० १.५१॥

---

१. "Logically and Linguistically......of different environments." (Language, NAL, pp. 71)
२. यथासंख्य अलंकार।

अर्थात्, 'जिस प्रकार ज्ञान में उस का अपना रूप और उसके विषय – ज्ञेय – का स्वरूप स्थित होता है, उसी प्रकार शब्द में अर्थ और स्वरूप की स्थिति होती है।"

१२६. **शब्द और अर्थ : सापेक्ष संज्ञाएँ** – परन्तु, तब भी प्रश्न यह रह जाता है कि शब्द का 'स्वरूप' क्या है ? भर्तृहरि **बाह्यवस्तु** और **बाह्यरूप** की व्याख्या करते हैं : जब अर्थ-शब्द के बाह्य रूप से सम्बद्ध हो जाता है, तब उसे ही **बाह्य-वस्तु** कहते हैं :

यो वाऽर्थो बुद्धिविषयः बाह्याकारनिबन्धनः ।

स बाह्यवस्त्विति ज्ञातः शब्दार्थः केश्चिदिष्यते ।। वा० २. १३४।।

'इस बाह्याकार-सम्बद्धता को ही कुछ लोग 'शब्दार्थ' कह बैठते हैं'। 'शब्दार्थ' का सम्बन्ध धातु या ध्वनि आदि से किसी रूप में भी नहीं है[1]। प्रो० व्हाट्माऊ की दृष्टि में : 'शब्द के साथ सम्बद्ध यह आकार जितने भी अन्य शब्दों से पुकारा जाता है, उन्हें ही हम **शब्दार्थ** (शब्दकोष में दिया अर्थ) मान बैठते हैं'।[2] **पर्यायों** या **एकार्थों** की परिभाषा हम भले ही 'शब्दार्थ' के अन्तर्गत कर लें, वस्तुतः शब्दार्थ का सम्बन्ध किन्हीं ध्वनि-विशेषों से नहीं है। फिर भी, शब्द ध्वनियों से बनते हैं। शब्द निर्माण करने वाली ध्वनियों की संख्या निश्चित करना असम्भव है। 'वाक्' में उनके प्रयोग एवं सम्बन्ध-निश्चिति के चिह्न (या आधार) **प्रत्यय** ही माने गए हैं। अन्यथा, पदों या शब्दों की अपनी सत्ता, वाक्-प्रयोग की दृष्टि से, महत्वहीन ही मानी गई है। शब्द, स्वतन्त्र रूप में, जिस संकेत या विनिश्चिय को प्रदान करता है, प्रत्ययों से सम्बद्ध होते ही उसका मुख्य ध्येय, उसका विनिश्चयमात्र न रह कर, किसी एक बृहद् अभिधेय के अंश-मात्र की अभिव्यक्ति करना हो जाता है। अतः वहाँ तथाकथित शब्दार्थ (इसीलिए शब्द) का भी महत्व नहीं रह जाता। फिर, शब्द में प्रयुक्त ध्वनियों का अपना विशेष महत्व है भी नहीं। उनका न कोई अर्थ है, न प्रयोजन विशेष।[3] परन्तु, उनके बिना शब्द या वाक्य का निर्माण भी सम्भव नहीं है।[4]

तो, क्या ध्वनियों के संयोग से ही शब्द बनता है ? भर्तृहरि की दृष्टि में यह असम्भव है। ध्वनियों या स्वर-व्यंजनादि की समस्या जिस 'शब्द' के प्रसंग में उठती है, वह उसका उच्चरित रूप है। वह शब्द मन में जिस स्थिति, विषय, या आकार में रहता है, वहाँ किन्हीं वर्ण आदि अंशों का विभाजन सम्भव नहीं। उच्चरित ध्वनियों का विभाग ही शब्द-सीमा के विनिश्चय में अन्तर डाल सकता है। पर,

---

१. वा० २.२३०,

२. "Hence dictionary meaning may be stated in terms of definition – synonym or homonym, in terms of form and syntex, but not in terms of phonology (Speech-sounds), except by distinguishing meanings as the same or not as the same." (pp. 69).

३. वा० १.७४. ४. वा० १.७३.

उच्चरित ध्वनियाँ जब उच्चारण-समकाल में ही प्रध्वंसितप्राय हो जाती हैं (अथवा अदृश्य हो जाती हैं), तब उनका अन्तर भी महत्वहीन हो जाता है। सत्य तो यह है कि ज्यों ही प्रयोक्ता अपनी भावना को एक सीमा प्रदान कर देता है, वह सीमित प्रयोग श्रोता के मन में श्रुति-समकाल ही एक चित्र स्फोट-रूप में जगा देता है। यह चित्र ही हम देखते हैं। हमारे श्रोत्र जिस ध्वनि या ध्वनि-समूह को सुन चुके होते हैं, उसे हम 'शब्द' कह बैठते हैं। स्फोट में उपस्थित यह चित्र (यस्मिंस्तूच्चरिते[1]) हमारे लिए 'अर्थ' बन जाता है।

१२७. स्फोट बीच की कड़ी है – **स्फोट** के विषय में प्रश्न उठ सकता है: हम 'स्फोट' को शब्द कहें या अर्थ? ज्ञातव्य यह है कि स्फोट द्वारा श्रुति-समकाल जो चित्र या भाव हमें उपलब्ध होता है, क्या उसका ग्रहण उन ध्वनियों के ग्रहण से भिन्न रूप व भिन्न काल में होता है, अथवा उनसे एक और अभिन्न होकर? निश्चय ही यह ग्रहण अभिन्न रूप में होता है: तो क्या स्फोट ही शब्द है? क्योंकि शब्द की ध्वनियाँ कितनी ही लम्बी हों, स्फोट सब का सक्षण होता है (वा० १.१०४)। सम्भवत: इस सारूप्य को देखकर ही पतंजलि ने कहा था: **एवं तर्हि स्फोटः शब्दः** (महा० १.१.१)। किन्तु, दूसरी ओर शब्द को स्फोट से भिन्न स्वीकार करने वाले मत भी हैं। उनकी दृष्टि में स्फोट का सम्बन्ध 'अर्थ' से ही हो सकता है। परन्तु, भर्तृहरि जानते हैं कि शब्द-रूप में उच्चरित होने वाली ध्वनियाँ भी किसी भावना-विशेष से ही उच्चरित होती हैं। उनका भी निर्वाचन होता है, तब जाकर शब्द का एक रूप बाहर आता है।

अथायमान्तरो ज्ञाता सूक्ष्मे वागात्मनि स्थितः।
व्यक्तये स्वस्य रूपस्य शब्दत्वेन विवर्त्तते॥ वा० १.११२॥

फिर, शब्द और अर्थ में यह दृश्यमान अन्तर क्यों? 'स्फोट' के द्वारा उन दोनों के एकीकरण की आवश्यकता क्यों? भर्तृहरि भी शब्द की दो स्थितियों को स्वीकार कर लेते हैं: **एक बुद्धि और मन में स्थित रूप तथा दूसरा ध्वनिजन्य प्राणस्थित रूप**।[2] 'स्फोट' इन दोनों के बीच की कड़ी है। 'स्फोट' के द्वारा ही एक में दूसरे की अभेद्य प्रतीति सम्भव हो पाती है। अन्यथा, **'शब्दस्वरूपमर्थस्तु, पाठोऽन्यैरुप वर्ण्यते'** (वा२.२६२) में कथित दोनों विवाद उठते ही रहेंगे। भर्तृहरि की दृष्टि में: **'अर्थस्वरूपे शब्दानां स्वरूपाद्वृत्तिरिष्यते'** (वा० २.२६४)। **शब्द का स्वरूप अर्थ ही है: वह भावना, जो उच्चारण समकाल ही 'स्वरूप' के रूप में प्राप्त होती है। वही शब्द का अभिधेय है। वही प्रतिपाद्य है। उसी में शब्द की उपयोगिता है।**

---

१. वा० २.३३०. २. वा० १.११७.

शब्द और पद

१२८. **शब्द का मूल रूप** – शब्द के स्वरूप पर विचार कर लेने के बाद यह आवश्यक अपिच अनिवार्य हो जाता है कि उसकी प्रायोगिक स्थिति पर भी विचार कर लिया जाय। 'शब्द' जिस रूप में हमारे सामने आता है, वह उसकी प्रायोगिक स्थिति ही है। कोशों में लिखा शब्द का रूप व्यावहारिक नहीं है। उस रूप में वह किसी वक्तव्य का अंग नहीं बनता। किसी वक्तव्य, वाक्य, या वाक्-व्यक्ति का अंग बनने के के लिए उसमें स्वाभाविक स्थिति की अपेक्षा कुछ परिवर्तन-परिवर्धन अपेक्षित होता है। यह परिवर्तन-परिवर्धन उस शब्द को अन्य वाक्यांगों से मिलाकर किसी एक पूर्ण भावाभिव्यक्ति के लिए उत्सुक – **साकांक्ष** – बना देता है। स्वभावतः इस स्थिति में कोई भी शब्द, अर्थ-सम्बन्धी अपनी सीमाओं तक ही सीमित न रह कर, क्रिया या अन्य वाक्याशों के प्रति अपने सम्बन्धों को व्यक्त करने के लिए भी उत्सुक हो जाता है। क्रियावाचक शब्द भी काल, वचन, आदि के बन्धन में पड़कर, केवल **स्व-अर्थ** की अपेक्षा, **पराश्रित अर्थ** की अभिव्यक्ति देने लगते हैं। वाक् या वाक्य के अन्य विविध अंगों के प्रति किसी शब्द में आई हुई यह सम्बन्ध-भावना किसी संकेत द्वारा प्रकट हो या न हो, भावनात्मक रूप में, उसकी सत्ता से निषेध नहीं किया जा सकता। इन सम्बन्ध-संकेतों को सस्कृत-व्याकरण में 'प्रत्यय' नाम से अभिहित किया गया है। ये प्रत्यय संज्ञा के बाद भी जुड़ते हैं, तथा क्रियाओं के बाद भी। संज्ञाओं के बाद जुड़ने वाले सम्बन्ध द्योतक इन प्रत्ययों को संस्कृत में 'सुप्' कहा जाता है, तथा क्रियाओं के साथ संयुक्त होने वाले सम्बन्ध द्योतक प्रत्ययों को 'तिङ्' के नाम से अभिहित किया जाता है। प्रत्ययों की एक बड़ी राशि इनके अतिरिक्त भी बच जाती है। किन्तु, वाक्यस्थ शब्दों के पारस्परिक सम्बन्ध-द्योतन में ये दोनों ही कोटियाँ काम में आती हैं। इन दोनों के संयोग से बनने वाले शब्द-रूपों को हम संज्ञा-रूप एवं क्रिया-रूप ही गिनते हैं। वे मूल-शब्द जिनसे ये संज्ञा-रूपों अथवा क्रिया-रूपों में परिणत होते हैं, क्रमशः 'प्रातिपदिक' और 'धातु' कहे जाते हैं। **प्रातिपदिक** का अर्थ है प्रत्येक पद-रूप में प्राप्त समान अंश और **धातु** का अर्थ है आधार-अंश। दोनों ही विविध शब्द-रूपों के 'मूल' कल्पित किए जाते हैं। इस प्रकार अर्थ भावना वाले जिस 'शब्द' पर अब तक विचार किया गया, वह **प्रातिपदिक** और **धातुरूप** ही ठहरता है। वाक्-प्रयोग में उसका रूप परिवर्तित हो या न हो, उसमें कुछ न कुछ अतिरिक्त सम्बन्ध-भावना आ

ही जाती है। उसे हम भाषा की **अर्थपूर्ण इकाई** भले ही मान लें,[1] किन्तु उसे वाणी अथवा भाषा की **प्रायोगिक इकाई** स्वीकार करना सर्वथा भ्रामक ही रहेगा। भर्तृहरि इस अर्थपूर्ण इकाई को ही 'शब्द' मानते हैं।

१२९. **प्रायोगिक रूप : पद** — शब्द के प्रायोगिक रूप को भर्तृहरि भी **पद** नाम ही देते हैं। यह 'पद' नाम भारतीय भाषा-शास्त्र के इतिहास में बहुत प्राचीन है। वेदों में भी इसका प्रयोग बहुलता से हुआ है। **'चत्वारि वाक् परिमिता पदानि'** (१.१६४.४५) में इन पदों की स्पष्ट चर्चा आई है।[2] यास्क के 'निरुक्त' से पूर्व निश्चय ही 'पद' की स्थिति व तत्सम्बन्धी अन्य धारणाएँ स्थिर रूप ग्रहण कर चुकी थीं। **'पदप्रकृतिः संहिता'** तथा **'पदप्रकृतीनि सर्वचरणानां पार्षदानि'** (नि० १. १७. ४) में 'पद' का प्रयोग निश्चित रूप से उसी अर्थ में हुआ है, जिसमें उसका प्रयोग पाणिनि ने किया है। यही नहीं, **चत्वारि पदजातानि** (नि० १. १. ८, एवं १. १२०१) में भी 'पद' का प्रयोग उसी अर्थ में हुआ है। **पद** शब्द का पर्यायवाची नहीं है, वह वाक् में शब्द की प्रायोगिक स्थिति का द्योतक है। नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात आदि के विभाग का प्रश्न उठता ही तब है, जब 'शब्द' की प्रायोगिक स्थिति पर विचार आरम्भ होता है। **आख्यात** तब तक रूप ग्रहण नहीं करती, जब तक उसके साथ धातुमूलक प्रत्यय संयुक्त न हो जाएँ। **उपसर्ग** और **निपात** की विभाजक रेखा भी उपसर्ग के धातु के साथ संयोग में ही है। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि पदों का विभाजन उनके व्यवहारकाल में एवं उनके व्यावहारिक रूपों में ही सम्भव है, अन्यथा नहीं। इसी भावना के अनुसार पतंजलि भी जब **'चत्वारि वाक् परिमिता पदानि'** या **'चत्वारि शृङ्गा'** का अर्थ करते हैं, तो वे **'नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्च'**[3] के रूप में ही उन्हें परिगणित करते हैं। भर्तृहरि जब 'पद' शब्द का प्रयोग करते हैं, तब इसी भावना से प्रेरित होकर। उनके अनुसार,

> **द्विधा कैश्चित्पदं भिन्नं चतुर्धा पंचधाऽपि वा।**
> **अपोद्धृत्यैव वाक्येभ्यः प्रकृतिप्रत्ययादिवत्** ॥ **वा० २. १** ॥

अर्थात्, '**पद** की स्थिति वाक्य में ही है। वाक्य से व्यतिरिक्त होकर उस की सत्ता वैसे ही अर्थशून्य हो जाती है, जैसे 'पद' से पृथक् होकर प्रकृति और प्रत्यय की। वाक्य में स्थित पद को कितने विभागों में बाँटा जाए? इस विषय में विद्वानों में मतभेद है। यद्यपि यह पद-भेद काल्पनिक है, तो भी कुछ इन भेदों को **दो** मानते हैं; कुछ की दृष्टि में ये भेद **चार** हैं; और कुछ इन्हें **पांच** स्वीकार करते हैं।' भर्तृहरि ने

---

१. See, Sp. & Lg., pp. 88.
२. महा० १. १. १.
३. महा० १. १. १.

पाँचवें भेद को 'कर्मप्रवचनीय' के नाम से पृथक् गिना है। इस भेद की सत्ता पाणिनि एवं पतंजलि ने भी स्वीकार की थी। किन्तु, उन्होंने इसकी स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार न की थी। पाणिनि की दृष्टि से तो उपसर्ग, निपात एवं कर्मप्रवचनीय – तीनों – का ही अन्तर्भाव **अव्ययों** में हो जाता है। परन्तु, पतंजलि ने उपसर्ग और निपात का पृथक्-पृथक् वर्गों के रूप में परिगणन किया है। भर्तृहरि ने पाँचों का पृथक् परिगणन केवल इसीलिए किया है कि यदि पद-विभाजन करना ही है, तो पूरी तरह करना चाहिए। अन्यथा, वह विभाजन तो है ही अवास्तविक। इस विभाजन की चर्चा हम अगले अध्याय में करेंगे।

१३०. **पद की रचना** – यहां प्रसंग है 'पद' की रचना एवं स्थिति का। पाणिनि ने पद-रचना या पद-ज्ञान का आधार सूत्र माना है – **सुप्तिङन्तं पदम्** (पा० १.४.१४) अर्थात्, 'सुबन्त एवं तिङन्त का नाम पद है'। 'सुप्' उन प्रत्ययों का नाम है, जो संज्ञाओं के अन्त में, विभक्ति रूपों में, व्यवहृत होते हैं। उन्हें हम 'कारक' या विभक्ति के प्रत्यय कहते हैं। 'तिङ्' उन प्रत्ययों को कहते हैं, जिनके सहयोग से क्रियारूपों का निर्माण होता है। 'पद' नाम प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक और अनिवार्य है कि कोई भी 'प्रातिपदिक' या 'धातु' इन प्रत्ययों से संयुक्त हो। प्रश्न उठता है उपसर्ग, निपात, एवं कर्मप्रवचनीयादि के विषय में ! क्या वे सब भी प्रत्यय-संयुक्त होते हैं ? यदि वे प्रत्यय-संयुक्त नहीं हैं, तो फिर उन्हें 'पद' नहीं माना जा सकता। व्यावहारिक सत्य यह है कि लोक-प्रयोग में उन्हें हम किसी भी प्रत्यय से संयुक्त नहीं पाते। तब, क्या उन्हें 'पद' कहना भ्रामक है ? पाणिनि इस समस्या को दूसरे ही रूप में देखते हैं। वे देखते हैं कि हम उपसर्गादि का प्रयोग करते हैं। उन्हें संज्ञाक्रियादि के समान स्वतन्त्र अथवा समस्त रूप में भी प्रयोग कर लेते हैं। यदि यह सत्य है, तब उनकी व्यावहारिक स्थिति संज्ञाक्रियादि से भिन्न नहीं होनी चाहिए। साथ ही वे यह भी जानते हैं कि उपसर्गादि का प्रयोग एक ही (स्थिर) **रूप** में रूढ़ होता है। उसमें कारकादि संयोग कभी भी लक्षित नहीं होता। इसलिए वे बीच का पक्ष प्रस्तुत करते हैं। वे मानते हैं कि 'शब्द' होने के नाते से, तथा धातु-भिन्न होने के नाते से, 'सुप्' या 'कारक' प्रत्यय तो इन सब के साथ भी संयुक्त होते हैं, पर लोक-प्रचलन के कारण, अथवा उनकी प्रयोग-स्थिरता के कारण, उन प्रत्ययों का व्यावहारिक रूप में प्रयोग जनता नहीं करती। इन अव्ययों का नैत्यिक प्रयोग एक ही रूप में रूढ़ हो चुका होता है। यह रूप किसी भी वचन या विभक्ति का हो, एक ही रहता है : **अपरिवर्तनीय**।[1] इसीलिए तीनों लिंगों, तीनों वचनों एवंसमस्त विभक्तियों आदि में इस प्रकार की शब्द-राशि का प्रयोग स्थिर, एकरूप एवं अपरिवर्तित होता है। इसीलिए पाणिनि ऐसी

---

१. **उदाहरणार्थ – नीचैः, उच्चैः आदि।**

शब्दराशि को **निपात** (स्वत:सिद्ध) एवं **अव्यय** (अपरिवर्त्तनीय) मानते हैं। और, उसकी व्याख्या करते हैं : **अव्ययादाप्सुपः** (पा० २. ४. ८२) के द्वारा : अव्यय रूप पदों के साथ सुप् आदि कारकसूचक प्रत्ययों का प्रयोग लोक में नहीं देखा जाता, अतः उसका अदर्शन (लोप)[1] मानना चाहिए।' परिणामतः एक ओर वे अव्ययों की कारक-सम्पन्न स्थिति भी स्वीकार करते हैं, दूसरी ओर कारक चिन्हों के प्रयोग का अभाव भी स्वीकार करते हैं। इस प्रकार उपसर्ग, निपात, एवं कर्मप्रवचनीय 'पद' भी कहलाते हैं और 'अव्यय' भी। तब उनका परिगणन किस अर्थवत् इकाई में हो ? पाणिनि इन्हें **प्रातिपदिक** में ही मानते हैं; क्योंकि धातु और प्रत्यय में इनका समावेश नहीं होता।[2] वे इन्हें संज्ञा अथवा क्रिया से सम्बद्ध नहीं मानते। प्रातिपदिक और संज्ञा एक ही चीज़ नहीं हैं। भर्तृहरि ने इन्हें 'पद' मानते हुए संज्ञा, क्रिया आदि के समान ही महत्त्व दिया है। व्यावहारिक एवं वैज्ञानिक दृष्टि से 'अव्यय' को चाहे **एक** मानें, या उपसर्ग निपातादि रूप में **तीन** – वस्तुतः दोनों दृष्टियाँ एक ही सत्य को देखने के दो उपाय हैं। **अर्थात्मक एवं प्रायोगिक दृष्टि से उन्हें स्वतन्त्र मानना ही उचित है।**

१३१. **पद बनने से पूर्व : अङ्ग** — प्रत्ययों के संयोग से पूर्व 'शब्द' की स्थिति क्या है ? क्या उसे हम स्वतन्त्र अथवा प्रयोगार्ह स्थिति स्वीकार कर सकते हैं ? जहाँ तक प्रयोग का प्रश्न है, उस रूप में उनका प्रयोग नहीं हो सकता। भर्तृहरि के अनुसार : **पदानां संहिता योनिः संहिता वा पदाश्रया** (वा० २.५९)। अर्थात्, 'पदों का अस्तित्व ही संहिता या वाक्य-व्यक्ति पर आश्रित होता है; अथवा संहिता का विभाग पदों के रूप में ही किया जाता है।' अतः वाक् में प्रयुक्त शब्द-रूप 'पद' ही हो सकते हैं : कारकादिसंयुक्त शब्द ही। स्वभावतः 'पद' रूप में परिवर्तन से पूर्व शब्द प्रयोगार्ह नहीं कहला सकता। ये पदरूप भी नित्य नहीं है, परिवर्तन एवं परिवर्द्धनशीलता के कारण। 'पद' का लक्षण ही इस द्विविधा का निवारक हो सकता है। एक शब्द 'कमल' है, और दूसरा शब्द 'कमलनयन' है। पहली स्थिति में, 'कमल' किसी पुष्प-व्यक्ति का नाम है। दूसरी में, वह पुरुष-व्यक्ति के नाम या उसके विशेषण का अंगभूत होकर 'पुष्प' का वाचक नहीं रहता। शब्द एक है, किन्तु, दो पदरूपों में बँटने के कारण, उसकी संकेत या संप्रत्यय की शक्ति में अन्तर आ गया है।[3] इसी प्रकार विभिन्न पदों में उसकी स्थिति में अन्तर आ जाता है :

> **समानेऽपि तु शब्दत्वे दृष्टः संप्रत्ययः पदात्।**
> **प्रतिवर्ण्णं त्वसौ नास्ति, पदस्यार्थमतो विदुः ।। वा० २.५४ ।।**

---

१. **'अदर्शनं लोपः'** (पा० १. १. ६०)।
२. **'अर्थवदधातु०'**। पा० १. २. ४५।
३. **वा० २.१४ से तुलनीय।**

यदि कोई इसी आधार पर प्रत्येक वर्ण का अर्थ निश्चित करना चाहे, तो 'पद' की परिभाषा का स्मरण दिलाना आवश्यक हो जायगा। 'कमलनयन' या 'कमल' की पद-सत्ता का निर्णय उनके सुबन्तादि होने से किया गया था। 'कमल' में प्रयुक्त 'क्', 'म्', 'ल्' आदि में इस प्रकार का विभाग नहीं किया जा सकता। अतः प्रत्ययादि द्वारा सूचित रूपात्मक विभाग को स्वीकार करके **पद** ही ऐसी इकाई ठहरती है, जिसे प्रयोगार्ह और सार्थक स्वीकार किया जा सकता है। परन्तु, यह इकाई व्याकरणात्मक दृष्टि से ही है, 'वाक् की इकाई' इसे नहीं माना जा सकता। 'शब्द' की स्थिति 'पद' के सम्मुख अप्रयोज्य ठहरती है। पदस्थिति में आने से पूर्व शब्द की इस प्रकार की निर्जित और बलहीन स्थिति को पाणिनि ने 'अंग' संज्ञा दी है। वाक् में प्रयोगार्ह स्थिति प्राप्त करने से पूर्व शब्द अपनी स्वतन्त्र सत्ता से हीन होकर, अपनी रूपात्मक और अर्थात्मक व्यक्ति के लिए, पराश्रित अथवा साकांक्ष हो उठता है। अथवा, यह किसी अन्य अंगी का 'अंग' बन जाता है: **यस्मात्प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम्** (पा० १. ४.१३)। पर, यह स्थिति होती है 'पद' बनने से – प्रत्यय-संयोग से – पूर्व ही, अन्यत्र नहीं। तब 'पद' को, शब्द का परिवर्तित या परिवर्द्धित रूपमात्र न कह कर, शब्द की अपेक्षा, एक पृथक् व भिन्न स्थिति का कहना होगा; यद्यपि उसे 'स्वतन्त्र' भी नहीं कहा जा सकता।

१३२. **पदों की सार्थकता** – पदों की स्थिति-परीक्षा के बाद, उनकी अर्थवत्ता पर विचार कर लेना भी अप्रासंगिक न होगा। कहा जा चुका है कि पद-निर्माण की मूल भावना ही उसकी अर्थात्मक **पराश्रितता** पर आधारित है। कारकादि प्रत्ययों का संयोग किसी-न-किसी प्रकार की **सम्बन्ध-भावना** का द्योतक होता है। पद में दूसरे पदों (क्रियादि) से मिल कर किसी **अभिधेय** को पूरी तरह प्रकट करने की भावना जग जाती है। इस अवस्था को 'साकांक्ष' नाम दिया गया है। 'वाक्य' की परिभाषा करते हुए मीमांसा ने **'साकांक्षं चेद् विभागे स्यात्'** कहा है। अर्थात्, यदि हम वाक्य का पद-विभाग करें, तो प्रत्येक पद अपनी अर्थ-व्यक्ति के लिए भी **साकांक्ष** (एक-दूसरे पर आश्रित) दिखाई देगा। यद्यपि भर्तृहरि पदों को साकांक्ष मान कर उनकी स्वतन्त्र सत्ता के समर्थक नहीं हैं, फिर भी वाक्य में पदों की उपस्थिति उन्होंने भी स्वीकार की ही है।[1] वाक्य का निर्माण प्रत्यक्षतः विभक्त या पृथक्-पृथक् दीखने वाले इन पदों पर ही निर्भर करता है। हाँ, वाक्य को एक **संहिता** या अविभाज्य इकाई वे अवश्य स्वीकार करते हैं। 'वाक्य' को अविभाज्य इकाई स्वीकार करने के बाद प्रश्न यह उठता है कि प्रत्येक 'पद' के बाद 'सुप्' या 'तिङ्' प्रत्ययों के प्रयोग का महत्त्व क्या रह जाता है? और, यह भी कि यदि ये प्रत्यय न हों, तो क्या पद

१. वा० २.५६.

या पदार्थ की, वाक्य या वाक्यार्थ में, स्थिति कभी स्पष्ट हो सकेगी ? प्रश्न कुछ उलझे से प्रतीत होते हैं। सत्य यह है कि शब्द और पद के अन्तर को बिना हृदयंगम किये यह बात स्पष्ट नहीं हो सकती। इस अन्तर को स्पष्ट करते हुए हम पूर्व कह चुके हैं कि शब्द में **संकेत** और **प्रत्यय** की जो शक्ति रहती है, वह उसमें प्रत्यय-संयोग के बिना भी रहती है। पद-स्थिति में यह बात किसी सीमा तक **प्रथमा विभक्ति** में ही दिखाई देती है। **कर्त्ता कारक** में 'कर्त्ता' या स्वयं 'वस्तु' की अपनी **संकेतात्मिका** (इण्डिकेटव) शक्ति की प्रधानता रहती है। इस कारक में शब्द के मूल रूप में अन्तर भी प्रायः नगण्य स्थानों पर ही आता है। यह अन्तर भी एकदम विभेदक नहीं होता। अतः पद-रूप ग्रहण करने पर भी शब्द यदि कहीं अपनी संकेतात्मिका शक्ति को अक्षुण्ण रख पाता है, तो इसी कर्त्ता-कारक में। अन्यथा, अन्यत्र सभी कारकों में शब्द की अपनी संकेतिका शक्ति मुख्य नहीं रहती। **सम्बन्ध की सूचिका शक्ति** (प्रत्यय) की प्रधानता होने से उसकी संकेतात्मिका शक्ति गौण हो जाती है। 'गृहं गच्छति' में घर मुख्य नहीं है — संकेतित नहीं है, अतः घर का चित्र गौण रह जाता है। वह एक लक्ष्य के रूप में सामने भले ही आता है, पर उसकी ओर बढ़ते हुए कदमों का जो चित्र सामने आता है, उसमें जाने की क्रिया अथवा जाने वाले व्यक्ति की मुख्यता हो जाती है। संकेत के रूप में यहाँ क्रिया ही प्रधान हो जाती है। स्वभावतः इस वाक्य में, या 'देवदत्तस्य गृहं पश्य', 'भोजनाय उत्सुकः' आदि वाक्यों में **गृह, देवदत्त, भोजन** आदि कोई भी वस्तु अपने संकेत अथवा व्यक्तिगत प्रत्यय की ग्राहिका उस रूप में नहीं है, जिस रूप में वह वाक्य-व्यतिरिक्त अवस्था में समझी जाती। स्पष्टतः, वाक्य में उन शब्दों के (पदरूप) प्रयोग का उद्देश्य ही बदल गया है। शब्द का एकाकी रूप में अभिधेय उसका व्यक्तिगत **अर्थ**, या उस द्वारा उत्पन्न **प्रत्ययमात्र**, ही था। उस स्थिति में उसके उच्चारण से एक वस्तु या भाव-विशेष का प्रत्ययमात्र ही अभीष्ट एवं सम्भाव्य था। किन्तु, वाक्य में प्रयोग की अवस्था में उसका प्रयोजन ही बदल जाता है। अब वह किसी बृहत्तर अभिधेय का 'अंग' बन कर आता है। जो चित्र श्रोता के मन में उभरता है, तथा वक्ता जिस चित्र को शब्दों अथवा पदों के माध्यम से व्यक्त कर रहा होता है, उसमें पृथक्-पृथक् पदों द्वारा अभिहित और संकेतित वस्तुएँ गौण रह जाती हैं। उस चित्र की समग्रता में **कार्य की एकता** मुख्य हो जाती है। पद या शब्द का व्यक्तिगत संकेत **कार्य** नहीं है। **कार्य की एकता** को द्योतित करने में उस पद का संकेत एक अंशमात्र ही बन पाता है।

> **क्रियाऽनुषङ्गेण विना न पदार्थः प्रतीयते।**
> **सत्यो वा विपरीतो वा व्यवहारो न सोऽस्त्यतः॥ वा० २.४३२॥**

इस प्रकार 'पद' रूप में आकर 'शब्द' अपनी स्वतन्त्रता खो बैठता है, और उसकी

अर्थात्मिका शक्ति **अंश या अंग** बन कर रह जाती है।[1]

१३३. **पद साकांक्ष है** – 'पद' का यह अंश या अंग-रूप **संकेत** किसी भी रूप में, उस के स्वतन्त्र अस्तित्व की सूचना नहीं देता। स्वतन्त्र या स्वतःपूर्ण (निराकांक्ष) अर्थ होता है 'वाक्य' का। यह 'वाक्य' एक शब्द से बनता है, एक 'वर्ण' से, या अनेक पदों से – यह पृथक् बात है। 'वाक्य' का अर्थ ही है **अभिधेय**। एक पद या वर्ण से बनने वाला वाक्य भी केवल उसी पद या वर्ण के अर्थभर की सूचना का वाहक नहीं होता। उसके लिए प्रतीतिपरक **वाक्यार्थ** का संकेतक होना आवश्यक शर्त है।[2] वस्तुतः वर्ण हो, पद या वाक्य हो, लोक-प्रयोग में हम जिस अर्थ-बुद्धि से प्रेरित होकर उनका प्रयोग करते हैं, वह उनकी, संकेतात्मिका शक्ति न होकर, विशिष्ट अर्थ को अभिव्यक्त करने की सामर्थ्य है। उसमें पदों का, उनके युगपत् अथवा क्रमिक रूप में उत्पन्न होने का, अथवा पृथक्-पृथक् पदार्थ को अभिव्यक्त करने का प्रश्न ही नहीं उठता। एक पद भी एक पूर्ण अभिधेय का द्योतक बन जाता है। वह अपने अर्थ की क्षण-प्रतीति मात्र दे पाता है, परन्तु तभी उससे सम्बद्ध अन्य अर्थ स्पष्ट होकर किसी पूर्ण **अभिधेय** को स्पष्ट कर देते हैं।[3] अतः वाक्य और वाक्यार्थ ही अभिप्रेत होते हैं; 'शब्दार्थ' या 'पदार्थ' वाणी के अभिधेय नहीं हैं। इसलिये पदों के स्वतन्त्र होने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। वाक्य की इस स्वतःपूर्णता को देख कर ही उसे **निराकांक्ष**, तथा पदों की इस पराश्रितता को देखकर ही उन्हें **साकांक्ष**, कहा गया है। यदि हम पदों को स्वतःपूर्ण और निराकांक्ष मान बैठें, तब **वाक्य की एकता** कभी सिद्ध ही न हो सकेगी। वे एक दूसरे के सहायकमात्र ही बन सकेंगे :

> **निराकांक्षाणि निर्वृत्तौ प्रधानानि परस्परम्।**
> **तेषामनुपकारित्वात् कथं स्यादेकवाक्यता ॥ वा० २.३५५ ॥**

वे सब 'साकांक्ष' पद मिलकर ही एक-वाक्यता का निर्माण करते हैं :

> **तथैवैकस्य वाक्यस्य निराकांक्षस्य सर्वतः।**
> **शब्दान्तरैः समाख्यानं साकांक्षैरनुगम्यते ॥ वा० २.६ ॥**

१३४. **पदार्थ की सत्ता** – अब स्थिति यह है कि भले ही पदार्थ की गौण सत्ता हो या अंशभूत, अन्ततः उसकी सत्ता है तो सही। क्या वह अंशगत सत्ता ही उसके अर्थात्मक महत्व का कारण नहीं मानी जानी चाहिये! भर्तृहरि 'पद' की **वाक्यगत-स्थिति** को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि पद की सत्ता ही सर्वथा कल्पित है। वाक्य की इकाई से उसे पृथक् करके देखना ही भ्रम है।[4] यदि वाक्य में विभक्त पदों की स्थिति स्वीकार की जाय, तो पदों में वर्णों की, और वर्णों में भी वर्णभागों की, स्थिति को

---

१. तुलनीय वा० २.१४.
२. वा० २.४०, ३४६.
३. वा० २.३३८, ३४४.
४. वा० २.१०.

या पदार्थ की, वाक्य या वाक्यार्थ में, स्थिति कभी स्पष्ट हो सकेगी ? प्रश्न कुछ उलझे से प्रतीत होते हैं। सत्य यह है कि शब्द और पद के अन्तर को बिना हृदयंगम किये यह बात स्पष्ट नहीं हो सकती। इस अन्तर को स्पष्ट करते हुए हम पूर्व कह चुके हैं कि शब्द में **संकेत** और **प्रत्यय** की जो शक्ति रहती है, वह उसमें प्रत्यय-संयोग के बिना भी रहती है। पद-स्थिति में यह बात किसी सीमा तक **प्रथमा विभक्ति** में ही दिखाई देती है। **कर्त्ता कारक** में 'कर्त्ता' या स्वयं 'वस्तु' की अपनी **संकेतात्मिका** (इण्डिकेटव) शक्ति की प्रधानता रहती है। इस कारक में शब्द के मूल रूप में अन्तर भी प्रायः नगण्य स्थानों पर ही आता है। यह अन्तर भी एकदम विभेदक नहीं होता। अतः पद-रूप ग्रहण करने पर भी शब्द यदि कहीं अपनी संकेतात्मिका शक्ति को अक्षुण्ण रख पाता है, तो इसी कर्त्ता-कारक में। अन्यथा, अन्यत्र सभी कारकों में शब्द की अपनी संकेतिका शक्ति मुख्य नहीं रहती। **सम्बन्ध की सूचिका शक्ति** (प्रत्यय) की प्रधानता होने से उसकी संकेतात्मिका शक्ति गौण हो जाती है। '**गृहं गच्छति**' में घर मुख्य नहीं है — संकेतित नहीं है, अतः घर का चित्र गौण रह जाता है। वह एक लक्ष्य के रूप में सामने भले ही आता है, पर उसकी ओर बढ़ते हुए कदमों का जो चित्र सामने आता है, उसमें जाने की क्रिया अथवा जाने वाले व्यक्ति की मुख्यता हो जाती है। संकेत के रूप में यहाँ क्रिया ही प्रधान हो जाती है। स्वभावतः इस वाक्य में, या 'देवदत्तस्य गृहं पश्य', 'भोजनाय उत्सुकः' आदि वाक्यों में **गृह, देवदत्त, भोजन** आदि कोई भी वस्तु अपने संकेत अथवा व्यक्तिगत प्रत्यय की ग्राहिका उस रूप में नहीं है, जिस रूप में वह वाक्य-व्यतिरिक्त अवस्था में समझी जाती। स्पष्टतः, वाक्य में उन शब्दों के (पदरूप) प्रयोग का उद्देश्य ही बदल गया है। शब्द का एकाकी रूप में अभिधेय उसका व्यक्तिगत **अर्थ**, या उस द्वारा उत्पन्न **प्रत्ययमात्र**, ही था। उस स्थिति में उसके उच्चारण से एक वस्तु या भाव-विशेष का प्रत्ययमात्र ही अभीष्ट एवं सम्भाव्य था। किन्तु, वाक्य में प्रयोग की अवस्था में उसका प्रयोजन ही बदल जाता है। अब वह किसी बृहत्तर अभिधेय का 'अंग' बन कर आता है। जो चित्र श्रोता के मन में उभरता है, तथा वक्ता जिस चित्र को शब्दों अथवा पदों के माध्यम से व्यक्त कर रहा होता है, उसमें पृथक्-पृथक् पदों द्वारा अभिहित और संकेतित वस्तुएँ गौण रह जाती हैं। उस चित्र की समग्रता में **कार्य की एकता** मुख्य हो जाती है। पद या शब्द का व्यक्तिगत संकेत **कार्य** नहीं है। **कार्य की एकता** को द्योतित करने में उस पद का संकेत एक अंशमात्र ही बन पाता है।

क्रियाऽनुषङ्गेण विना न पदार्थः प्रतीयते।
सत्यो वा विपरीतो वा व्यवहारो न सोऽस्त्यतः ॥ वा० २.४३२ ॥

इस प्रकार 'पद' रूप में आकर 'शब्द' अपनी स्वतन्त्रता खो बैठता है, और उसकी

अर्थात्मिका शक्ति **अंश या अंग** बन कर रह जाती है।[1]

१३३. **पद साकांक्ष है** – 'पद' का यह अंश या अंग-रूप **संकेत** किसी भी रूप में, उस के स्वतन्त्र अस्तित्व की सूचना नहीं देता। स्वतन्त्र या स्वतःपूर्ण (निराकांक्ष) अर्थ होता है 'वाक्य' का। यह 'वाक्य' एक शब्द से बनता है, एक 'वर्ण' से, या अनेक पदों से – यह पृथक् बात है। 'वाक्य' का अर्थ ही है **अभिधेय**। एक पद या वर्ण से बनने वाला वाक्य भी केवल उसी पद या वर्ण के अर्थभर की सूचना का वाहक नहीं होता। उसके लिए प्रतीतिपरक **वाक्यार्थ** का संकेतक होना आवश्यक शर्त है।[2] वस्तुतः वर्ण हो, पद या वाक्य हो, लोक-प्रयोग में हम जिस अर्थ-बुद्धि से प्रेरित होकर उनका प्रयोग करते हैं, वह उनकी, संकेतात्मिका शक्ति न होकर, विशिष्ट अर्थ को अभिव्यक्त करने की सामर्थ्य है। उसमें पदों का, उनके युगपत् अथवा क्रमिक रूप में उत्पन्न होने का, अथवा पृथक्-पृथक् पदार्थ को अभिव्यक्त करने का प्रश्न ही नहीं उठता। एक पद भी एक पूर्ण अभिधेय का द्योतक बन जाता है। वह अपने अर्थ की क्षण-प्रतीति मात्र दे पाता है, परन्तु तभी उससे सम्बद्ध अन्य अर्थ स्पष्ट होकर किसी पूर्ण **अभिधेय** को स्पष्ट कर देते हैं।[3] अतः वाक्य और वाक्यार्थ ही अभिप्रेत होते हैं; 'शब्दार्थ' या 'पदार्थ' वाणी के अभिधेय नहीं हैं। इसलिये पदों के स्वतन्त्र होने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। वाक्य की इस स्वतःपूर्णता को देख कर ही उसे **निराकांक्ष**, तथा पदों की इस पराश्रितता को देखकर ही उन्हें **साकांक्ष**, कहा गया है। यदि हम पदों को स्वतःपूर्ण और निराकांक्ष मान बैठें, तब **वाक्य की एकता** कभी सिद्ध ही न हो सकेगी। वे एक दूसरे के सहायकमात्र ही बन सकेंगे :

> **निराकांक्षाणि निर्वृत्तौ प्रधानानि परस्परम्।**
> **तेषामनुपकारित्वात् कथं स्यादेकवाक्यता॥ वा० २.३५५॥**

वे सब 'साकांक्ष' पद मिलकर ही एक-वाक्यता का निर्माण करते हैं :

> **तथैवैकस्य वाक्यस्य निराकांक्षस्य सर्वतः।**
> **शब्दान्तरैः समाख्यानं साकांक्षैरनुगम्यते॥ वा० २.६॥**

१३४. **पदार्थ की सत्ता** – अब स्थिति यह है कि भले ही पदार्थ की गौण सत्ता हो या अंशभूत, अन्ततः उसकी सत्ता है तो सही। क्या वह अंशगत सत्ता ही उसके अर्थात्मक महत्व का कारण नहीं मानी जानी चाहिये! भर्तृहरि 'पद' की **वाक्यगत-स्थिति** को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि पद की सत्ता ही सर्वथा कल्पित है। वाक्य की इकाई से उसे पृथक् करके देखना ही भ्रम है।[4] यदि वाक्य में विभक्त पदों की स्थिति स्वीकार की जाय, तो पदों में वर्णों की, और वर्णों में भी वर्णभागों की, स्थिति को

---

१. तुलनीय वा० २.१४.
२. वा० २.४०, ३४९.
३. वा० २.३३८, ३४४.
४. वा० २.१०.

या पदार्थ की, वाक्य या वाक्यार्थ में, स्थिति कभी स्पष्ट हो सकेगी ? प्रश्न कुछ उलझे से प्रतीत होते हैं। सत्य यह है कि शब्द और पद के अन्तर को बिना हृदयंगम किये यह बात स्पष्ट नहीं हो सकती। इस अन्तर को स्पष्ट करते हुए हम पूर्व कह चुके हैं कि शब्द में **संकेत** और **प्रत्यय** की जो शक्ति रहती है, वह उसमें प्रत्यय-संयोग के बिना भी रहती है। पद-स्थिति में यह बात किसी सीमा तक **प्रथमा विभक्ति** में ही दिखाई देती है। **कर्त्ता कारक** में 'कर्त्ता' या स्वयं 'वस्तु' की अपनी **संकेतात्मिका** (इण्डिकेटव) शक्ति की प्रधानता रहती है। इस कारक में शब्द के मूल रूप में अन्तर भी प्रायः नगण्य स्थानों पर ही आता है। यह अन्तर भी एकदम विभेदक नहीं होता। अतः पद-रूप ग्रहण करने पर भी शब्द यदि कहीं अपनी संकेतात्मिका शक्ति को अक्षुण्ण रख पाता है, तो इसी कर्त्ता-कारक में। अन्यथा, अन्यत्र सभी कारकों में शब्द की अपनी संकेतिका शक्ति मुख्य नहीं रहती। **सम्बन्ध की सूचिका शक्ति** (प्रत्यय) की प्रधानता होने से उसकी संकेतात्मिका शक्ति गौण हो जाती है। 'गृहं गच्छति' में घर मुख्य नहीं है — संकेतित नहीं है, अतः घर का चित्र गौण रह जाता है। वह एक लक्ष्य के रूप में सामने भले ही आता है, पर उसकी ओर बढ़ते हुए कदमों का जो चित्र सामने आता है, उसमें जाने की क्रिया अथवा जाने वाले व्यक्ति की मुख्यता हो जाती है। संकेत के रूप में यहाँ क्रिया ही प्रधान हो जाती है। स्वभावतः इस वाक्य में, या 'देवदत्तस्य गृहं पश्य', 'भोजनाय उत्सुकः' आदि वाक्यों में **गृह, देवदत्त, भोजन** आदि कोई भी वस्तु अपने संकेत अथवा व्यक्तिगत प्रत्यय की ग्राहिका उस रूप में नहीं है, जिस रूप में वह वाक्य-व्यतिरिक्त अवस्था में समझी जाती। स्पष्टतः, वाक्य में उन शब्दों के (पदरूप) प्रयोग का उद्देश्य ही बदल गया है। शब्द का एकाकी रूप में अभिधेय उसका व्यक्तिगत **अर्थ**, या उस द्वारा उत्पन्न **प्रत्ययमात्र**, ही था। उस स्थिति में उसके उच्चारण से एक वस्तु या भाव-विशेष का प्रत्ययमात्र ही अभीष्ट एवं सम्भाव्य था। किन्तु, वाक्य में प्रयोग की अवस्था में उसका प्रयोजन ही बदल जाता है। अब वह किसी बृहत्तर अभिधेय का 'अंग' बन कर आता है। जो चित्र श्रोता के मन में उभरता है, तथा वक्ता जिस चित्र को शब्दों अथवा पदों के माध्यम से व्यक्त कर रहा होता है, उसमें पृथक्-पृथक् पदों द्वारा अभिहित और संकेतित वस्तुएँ गौण रह जाती हैं। उस चित्र की समग्रता में **कार्य की एकता** मुख्य हो जाती है। पद या शब्द का व्यक्तिगत संकेत **कार्य** नहीं है। **कार्य की एकता** को द्योतित करने में उस पद का संकेत एक अंशमात्र ही बन पाता है।

> **क्रियाऽनुषङ्गेण विना न पदार्थः प्रतीयते।**
> **सत्यो वा विपरीतो वा व्यवहारो न सोऽस्त्यतः॥ वा० २.४३२॥**

इस प्रकार 'पद' रूप में आकर 'शब्द' अपनी स्वतन्त्रता खो बैठता है, और उसकी

अर्थात्मिका शक्ति **अंश या अंग** बन कर रह जाती है।[1]

१३३. **पद साकांक्ष है** – 'पद' का यह अंश या अंग-रूप **संकेत** किसी भी रूप में, उस के स्वतन्त्र अस्तित्व की सूचना नहीं देता। स्वतन्त्र या स्वतःपूर्ण (निराकांक्ष) अर्थ होता है 'वाक्य' का। यह 'वाक्य' एक शब्द से बनता है, एक 'वर्ण' से, या अनेक पदों से – यह पृथक् बात है। 'वाक्य' का अर्थ ही है **अभिधेय**। एक पद या वर्ण से बनने वाला वाक्य भी केवल उसी पद या वर्ण के अर्थभर की सूचना का वाहक नहीं होता। उसके लिए प्रतीतिपरक **वाक्यार्थ** का संकेतक होना आवश्यक शर्त है।[2] वस्तुतः वर्ण हो, पद या वाक्य हो, लोक-प्रयोग में हम जिस अर्थ-बुद्धि से प्रेरित होकर उनका प्रयोग करते हैं, वह उनकी, संकेतात्मिका शक्ति न होकर, विशिष्ट अर्थ को अभिव्यक्त करने की सामर्थ्य है। उसमें पदों का, उनके युगपत् अथवा क्रमिक रूप में उत्पन्न होने का, अथवा पृथक्-पृथक् पदार्थ को अभिव्यक्त करने का प्रश्न ही नहीं उठता। एक पद भी एक पूर्ण अभिधेय का द्योतक बन जाता है। वह अपने अर्थ की क्षण-प्रतीति मात्र दे पाता है, परन्तु तभी उससे सम्बद्ध अन्य अर्थ स्पष्ट होकर किसी पूर्ण **अभिधेय** को स्पष्ट कर देते हैं।[3] अतः वाक्य और वाक्यार्थ ही अभिप्रेत होते हैं; 'शब्दार्थ' या 'पदार्थ' वाणी के अभिधेय नहीं हैं। इसलिये पदों के स्वतन्त्र होने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। वाक्य की इस स्वतःपूर्णता को देख कर ही उसे **निराकांक्ष**, तथा पदों की इस पराश्रितता को देखकर ही उन्हें **साकांक्ष**, कहा गया है। यदि हम पदों को स्वतःपूर्ण और निराकांक्ष मान बैठें, तब **वाक्य की एकता** कभी सिद्ध ही न हो सकेगी। वे एक दूसरे के सहायकमात्र ही बन सकेंगे :

निराकांक्षाणि निर्वृत्तौ प्रधानानि परस्परम्।
तेषामनुपकारित्वात् कथं स्यादेकवाक्यता ॥ वा० २.३५५ ॥

वे सब 'साकांक्ष' पद मिलकर ही एक-वाक्यता का निर्माण करते हैं :

तथैवैकस्य वाक्यस्य निराकांक्षस्य सर्वतः।
शब्दान्तरैः समाख्यानं साकांक्षैरनुगम्यते ॥ वा० २.६ ॥

१३४. **पदार्थ की सत्ता** – अब स्थिति यह है कि भले ही पदार्थ की गौण सत्ता हो या अंशभूत, अन्ततः उसकी सत्ता है तो सही। क्या वह अंशगत सत्ता ही उसके अर्थात्मक महत्व का कारण नहीं मानी जानी चाहिये ! भर्तृहरि 'पद' की **वाक्यगत-स्थिति** को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि पद की सत्ता ही सर्वथा कल्पित है। वाक्य की इकाई से उसे पृथक् करके देखना ही भ्रम है।[4] यदि वाक्य में विभक्त पदों की स्थिति स्वीकार की जाय, तो पदों में वर्णों की, और वर्णों में भी वर्णभागों की, स्थिति को

---

१. तुलनीय वा० २.१४.
२. वा० २.४०, ३४६.
३. वा० २.३३८, ३४४.
४. वा० २.१०.

या पदार्थ की, वाक्य या वाक्यार्थ में, स्थिति कभी स्पष्ट हो सकेगी ? प्रश्न कुछ उलझे से प्रतीत होते हैं। सत्य यह है कि शब्द और पद के अन्तर को बिना हृदयंगम किये यह बात स्पष्ट नहीं हो सकती। इस अन्तर को स्पष्ट करते हुए हम पूर्व कह चुके हैं कि शब्द में **संकेत** और **प्रत्यय** की जो शक्ति रहती है, वह उसमें प्रत्यय-संयोग के बिना भी रहती है। पद-स्थिति में यह बात किसी सीमा तक **प्रथमा विभक्ति** में ही दिखाई देती है। **कर्त्ता कारक** में 'कर्त्ता' या स्वयं 'वस्तु' की अपनी **संकेतात्मिका** (इण्डिकेटव) शक्ति की प्रधानता रहती है। इस कारक में शब्द के मूल रूप में अन्तर भी प्रायः नगण्य स्थानों पर ही आता है। यह अन्तर भी एकदम विभेदक नहीं होता। अतः पद-रूप ग्रहण करने पर भी शब्द यदि कहीं अपनी संकेतात्मिका शक्ति को अक्षुण्ण रख पाता है, तो इसी कर्त्ता-कारक में। अन्यथा, अन्यत्र सभी कारकों में शब्द की अपनी संकेतिका शक्ति मुख्य नहीं रहती। **सम्बन्ध की सूचिका शक्ति** (प्रत्यय) की प्रधानता होने से उसकी संकेतात्मिका शक्ति गौण हो जाती है। 'गृहं गच्छति' में घर मुख्य नहीं है — संकेतित नहीं है, अतः घर का चित्र गौण रह जाता है। वह एक लक्ष्य के रूप में सामने भले ही आता है, पर उसकी ओर बढ़ते हुए कदमों का जो चित्र सामने आता है, उसमें जाने की क्रिया अथवा जाने वाले व्यक्ति की मुख्यता हो जाती है। संकेत के रूप में यहाँ क्रिया ही प्रधान हो जाती है। स्वभावतः इस वाक्य में, या 'देवदत्तस्य गृहं पश्य', 'भोजनाय उत्सुकः' आदि वाक्यों में **गृह, देवदत्त, भोजन** आदि कोई भी वस्तु अपने संकेत अथवा व्यक्तिगत प्रत्यय की ग्राहिका उस रूप में नहीं है, जिस रूप में वह वाक्य-व्यतिरिक्त अवस्था में समझी जाती। स्पष्टतः, वाक्य में उन शब्दों के (पदरूप) प्रयोग का उद्देश्य ही बदल गया है। शब्द का एकाकी रूप में अभिधेय उसका व्यक्तिगत **अर्थ**, या उस द्वारा उत्पन्न **प्रत्ययमात्र**, ही था। उस स्थिति में उसके उच्चारण से एक वस्तु या भाव-विशेष का प्रत्ययमात्र ही अभीष्ट एवं सम्भाव्य था। किन्तु, वाक्य में प्रयोग की अवस्था में उसका प्रयोजन ही बदल जाता है। अब वह किसी बृहत्तर अभिधेय का 'अंग' बन कर आता है। जो चित्र श्रोता के मन में उभरता है, तथा वक्ता जिस चित्र को शब्दों अथवा पदों के माध्यम से व्यक्त कर रहा होता है, उसमें पृथक्-पृथक् पदों द्वारा अभिहित और संकेतित वस्तुएँ गौण रह जाती हैं। उस चित्र की समग्रता में **कार्य की एकता** मुख्य हो जाती है। पद या शब्द का व्यक्तिगत संकेत **कार्य** नहीं है। **कार्य की एकता** को द्योतित करने में उस पद का संकेत एक अंशमात्र ही बन पाता है।

> **क्रियाऽनुषङ्गेण विना न पदार्थः प्रतीयते।**
> **सत्यो वा विपरीतो वा व्यवहारो न सोऽस्त्यतः॥** वा० २.४३२॥

इस प्रकार 'पद' रूप में आकर 'शब्द' अपनी स्वतन्त्रता खो बैठता है, और उसकी

अर्थात्मिका शक्ति **अंश या अंग** बन कर रह जाती है ।[1]

१३३. **पद साकांक्ष है** – 'पद' का यह अंश या अंग-रूप **संकेत** किसी भी रूप में, उस के स्वतन्त्र अस्तित्व की सूचना नहीं देता । स्वतन्त्र या स्वतःपूर्ण (निराकांक्ष) अर्थ होता है 'वाक्य' का । यह 'वाक्य' एक शब्द से बनता है, एक 'वर्ण' से, या अनेक पदों से – यह पृथक् बात है । 'वाक्य' का अर्थ ही है **अभिधेय** । एक पद या वर्ण से बनने वाला वाक्य भी केवल उसी पद या वर्ण के अर्थभर की सूचना का वाहक नहीं होता । उसके लिए प्रतीतिपरक **वाक्यार्थ** का संकेतक होना आवश्यक शर्त है।[2] वस्तुतः वर्ण हो, पद या वाक्य हो, लोक-प्रयोग में हम जिस अर्थ-बुद्धि से प्रेरित होकर उनका प्रयोग करते हैं, वह उनकी, संकेतात्मिका शक्ति न होकर, विशिष्ट अर्थ को अभि-व्यक्त करने की सामर्थ्य है । उसमें पदों का, उनके युगपत् अथवा क्रमिक रूप में उत्पन्न होने का, अथवा पृथक्-पृथक् पदार्थ को अभिव्यक्त करने का प्रश्न ही नहीं उठता । एक पद भी एक पूर्ण अभिधेय का द्योतक बन जाता है । वह अपने अर्थ की क्षण-प्रतीति मात्र दे पाता है, परन्तु तभी उससे सम्बद्ध अन्य अर्थ स्पष्ट होकर किसी पूर्ण **अभिधेय** को स्पष्ट कर देते हैं ।[3] अतः वाक्य और वाक्यार्थ ही अभिप्रेत होते हैं; 'शब्दार्थ' या 'पदार्थ' वाणी के अभिधेय नहीं हैं । इसलिये पदों के स्वतन्त्र होने का तो प्रश्न ही नहीं उठता । वाक्य की इस स्वतःपूर्णता को देख कर ही उसे **निराकांक्ष**, तथा पदों की इस पराश्रितता को देखकर ही उन्हें **साकांक्ष**, कहा गया है । यदि हम पदों को स्वतःपूर्ण और निराकांक्ष मान बैठें, तब **वाक्य की एकता** कभी सिद्ध ही न हो सकेगी । वे एक दूसरे के सहायकमात्र ही बन सकेंगे :

> **निराकांक्षाणि निर्वृत्तौ प्रधानानि परस्परम् ।**
> **तेषामनुपकारित्वात् कथं स्यादेकवाक्यता ॥ वा० २.३५५ ॥**

वे सब 'साकांक्ष' पद मिलकर ही एक-वाक्यता का निर्माण करते हैं :

> **तथैवैकस्य वाक्यस्य निराकांक्षस्य सर्वतः ।**
> **शब्दान्तरैः समाख्यानं साकांक्षैरनुगम्यते ॥ वा० २.६ ॥**

१३४. **पदार्थ की सत्ता** – अब स्थिति यह है कि भले ही पदार्थ की गौण सत्ता हो या अंशभूत, अन्ततः उसकी सत्ता है तो सही । क्या वह अंशगत सत्ता ही उसके अर्था-त्मक महत्व का कारण नहीं मानी जानी चाहिये ! भर्तृहरि 'पद' की **वाक्यगत-स्थिति** को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि पद की सत्ता ही सर्वथा कल्पित है । वाक्य की इकाई से उसे पृथक् करके देखना ही भ्रम है ।[4] यदि वाक्य में विभक्त पदों की स्थिति स्वीकार की जाय, तो पदों में वर्णों की, और वर्णों में भी वर्णभागों की, स्थिति को

---

१. **तुलनीय वा० २.१४.**
२. **वा० २.४०, ३४६.**
३. **वा० २.३३८, ३४४.**
४. **वा० २.१०.**

स्वीकार करना होगा।[1] जिस प्रकार शरीर के अवयव और अंश होकर भी इन्द्रियांग शरीर से पृथक् होकर निष्प्रयोजन हो जाते हैं, उसी प्रकार वाक्य के अंश और अंग होकर भी 'पद' उससे विभक्त होकर अर्थहीन और निष्प्रयोजन रह जाते हैं।[2] तो क्या पदार्थों की सत्ता है ही नहीं, और पद-प्रयोग निष्प्रयोजन है ? भर्तृहरि **पदार्थ** को एक व्यावहारिक कल्पना मात्र स्वीकार करते हैं : एक अविभक्त आत्मा को विभक्त आत्मा के रूप में देखने का तरीका मात्र ! लोक-व्यवहार में समझने-समझाने की सुविधा के लिये ही ऐसी युक्ति का आश्रय लिया जाता है।[3] और फिर, यथाकथंचित् यदि पदार्थ की 'अंगात्मक' सत्ता स्वीकार भी कर ली जाय, तब भी 'वाक्यार्थ' की उपलब्धि ही ध्येय एवं साध्य ठहरती है। वह **वाक्यार्थ** स्वतः अविभाज्य और एक है।

अनेकशक्तेरेकस्य प्रविभागोऽनुगम्यते।
एकार्थत्वं हि वाक्यस्य मात्रयाऽपि प्रतीयते ।। वा० २.४४८ ।।
अभिन्नो भेदरूपेण य एकोऽर्थो विवक्षितः।
तत्राऽवयवधर्मेण समुदायोऽनुगृह्यते ।। वा० २.४७३ ।।

इसलिये 'पद' की स्थिति वाक्य में कल्पितमात्र ही है, वास्तविक नहीं :

पदे न वर्ण्णा विद्यन्ते, वर्ण्णेष्ववयवा न च।
वाक्यात्पदानामत्यन्तं प्रविवेको न कश्चन ।। वा० १.७४ ।।

वाक्य और वाक्यार्थ अपद (पद-विहीन) हैं, अ-क्रम हैं। उनका शब्द या पद में विभाग अनुचित है। 'क्रम' मानने वालों की दृष्टि में भी :

अविभागं तु शब्देभ्यः क्रमवद्भ्योऽपदक्रमम्।
प्रकाशते तदन्येषां वाक्यं वाक्यार्थ एव च ।। वा० २.४२२ ।।

वाक्य, पद-क्रम में निहित होकर भी, अर्थात्मक – अर्थात् वाक्यार्थ – की दृष्टि से **अपद** एवं **अ-क्रम** ही है। भर्तृहरि तो 'वाक्' की निष्पत्ति को मानते ही अभाग और अक्रम हैं :

अत्यद्भुता त्वियं वृत्तिर्यदभागं यदक्रमम्।
भावानां प्रागभूतानामात्मतत्त्वं प्रकाशते ।। वा० ३.३.७६ ।।

---

१. वा० २.२८. २. वा० २.४२६, ४२७. ३. वा० २. ४४५; ३.३.८६.

पद भेद

१३५. भर्तृहरि की दृष्टि – भर्तृहरि की भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि का विवेचन करते हुए एक ऐसे विषय को ले बैठना, जिसकी सत्ता को ही वे सार्थक स्वीकार नहीं करते, सर्वथा अनुचित जान पड़ता है। भर्तृहरि ने **पद** और **पदार्थ** को व्यावहारिक सुविधा की वस्तु माना है। वे उनके **उच्चारणात्मक** (ध्वन्यात्मक) और **अर्थात्मक** अस्तित्व को स्वतन्त्र स्वीकार नहीं करते। **ध्वन्यात्मक** पक्ष में उनका स्पष्ट कथन है कि 'पद' ध्वनिभागों से बनते हैं। जब ध्वनिभाग ही नित्य नहीं हैं, तो पदों की ध्वन्यात्मक एकता कैसे मानी जाय?[१] **अर्थात्मक-सत्ता** के विषय में भी उनका स्पष्ट उद्घोष है कि वाक्य से पृथक् करने पर पदों में अर्थ का निवास नहीं होता।[२] पदार्थों की स्थिति, उनकी दृष्टि में, वास्तविक न होकर व्यावहारिक या काल्पनिक ही है।[३] और, इतना स्पष्ट कहने वाले वैज्ञानिक के युक्तिक्रम का उपहास करके हम, 'पद-भेद' के रूप में, एक ऐसे विषय पर विचार करें, जिसकी वैज्ञानिक उपयोगिता का वह सर्वथा विरोधी है, यह अनुचित ही प्रतीत होता है। फिर भी, आदि-काल से ही भाषा-विषयक अध्ययन में पद-विभाग का विवेचन होता आया है। आज भी, भाषा-तत्व के पूर्ण विश्लेषण के बाद भी, विद्वान् इस विषय में मतैक्य प्रदर्शित नहीं कर पाए हैं। इसलिये भर्तृहरि जैसे महान् भाषाविद् के इस विषय के विचारों का – उसके पद-भेद विषयक उल्लेखों का – अध्ययन होना आवश्यक है। उनका विवेचन इस विषय में, उपेक्षापूर्ण न होकर, पूर्ण एवं नितान्त वैज्ञानिक है। ऐसा करते हुए उन्होंने वैयाकरणों द्वारा मान्य पद-विभाग को केवल गिनवाया ही नहीं है, बल्कि उसकी रचनात्मक एवं अर्थात्मक सभी सम्भावनाओं पर भी विचार किया है। उनके अध्ययन का अन्तिम परिणाम एक ही है: **वाक्यार्थ के सम्मुख इन पदों के अर्थ की वैयक्तिक-सत्ता नहीं रहती**। किन्तु फिर भी, उन्होंने तद्विषयक सभी मान्यताओं को अपने ध्यान में रखा है। अतः 'पद-विभाग' पर, इस विवेचन में, दृष्टि डालना उचित एवं सप्रसंग ही होगा।

१३६. पद-संख्या – पदों की संख्या के विषय में पाश्चात्य और भारतीय विद्वानों ने पर्याप्त विचार किया है। अरस्तू अथवा अर्वाचीन परम्परानुगामी पाश्चात्य वैयाकरणों को छोड़कर शेष सभी प्रायः मिलते-जुलते परिणामों पर पहुँचे हैं। यह संख्या कम-से

१. वा० २.२९. २. वा० २.४२७. ३. वा० २.४४४,४४५; ३.३.८६.

कम 'तीन' और अधिक से अधिक से 'पाँच' रही है। ऋग्वेद के एक मन्त्र (ऋ० १.१६४.४५) में वाणी के चार 'पद' माने गये हैं। **पतंजलि** ने इसकी व्याख्या में **नाम, आख्यात, उपसर्ग** और **निपात** को 'पद' गिनाया है।[1] यही गणना **यास्क** ने अपने निरुक्त (नि० १.१.८) में प्रदर्शित की है। **पाणिनि** ने 'धातु, और 'प्रातिपदिक' की सत्ता को **आख्यात** और **नाम** का मूल तो स्वीकार किया ही है, उन्होंने **उपसर्ग** और **निपात** के साथ **कर्मप्रवचनीय** की सत्ता का भी उल्लेख किया है। किन्तु इस सबके अतिरिक्त एक ऐसी शब्द-राशि पर भी उनका ध्यान गया, जो इन पाँचों वर्गों में गृहीत नहीं हो सकती। उन्होंने उपसर्ग, निपात, एवं कर्मप्रवचनीय, के साथ ही उस अवशिष्ट शब्द-राशि को अव्यय नाम दे डाला। इस प्रकार शुद्ध वैयाकरण अथवा भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि से उन्होंने तीन ही तत्व स्वीकार किए। इस सबकी विस्तृत चर्चा हम 'शब्द और पद' नामक सप्तम अध्याय में कर आए हैं। पाश्चात्य विद्वानों में से **भाषावैज्ञानिक** दृष्टि से ब्लूमफील्ड एवं व्हाट्माऊ तथा **व्याकरणात्मक** दृष्टि से वोर्रा और येस्पर्सन के निरीक्षणों को अधिक-सयुक्तिक कहा जा सकता है। **ब्लूमफील्ड एवं व्हाट्माऊ** इस विभाग को ही अस्वाभाविक मानते हैं। उन्हें प्रत्येक विभाग एक दूसरे के क्षेत्र को घेरता-सा दिखाई देता है। अर्थात्मक दृष्टि से भी वे उन्हें अपूर्ण एवं असमर्थ इकाइयाँ स्वीकार करते हैं। दूसरी ओर, **वोर्रा** उनकी संख्या चार तक – **नाम, आख्यात, अव्यय** और **निपात** (नाउन्स, वर्ब्स, पार्टिसिपल, और पार्टिकल) के रूप में – सीमित करते हैं। और, येस्पर्सन इस संख्या को, **सत्व, विशेषण, सर्वनाम, आख्यात** एवं **निपात** (सब्जैक्टिव, ऍड्जैक्टिव्, प्रोनाउन, वर्ब, और पार्टिकल) के रूप में, पाँच तक ले जाते हैं। **येस्पर्सन** ने विशेषण एवं सर्वनाम को 'नाम' या 'संज्ञा' से पृथक् स्वीकार किया है, जब कि **वोर्रा** ने अव्यय (पार्टिसिपल) को निपात से भिन्न माना है। येस्पर्सन के विभाग में अन्तर अर्थात्मक दृष्टि से आ जाता है। अर्थात्मक महत्त्व की दृष्टि से प्रथम तीनों ही विभाग एक समान पंगु सिद्ध हो जाते हैं। जहाँ तक 'द्रव्यात्मक-संकेत-सत्ता' का सम्बन्ध है, उनके गिनाये प्रथम तीनों विभाग ही अपनी 'द्रव्य' पर आश्रित अभिव्यक्ति देते हैं। दूसरी ओर, वोर्रा के विभाग में भी अन्तिम दोनों भेदों के विषय में विपक्षात्मक अथवा निषेधात्मक युक्तियाँ दी जा सकती हैं ब्लूमफील्ड और व्हाट्माऊ की युक्ति-सरणि एकदम स्वाभाविक एवं वैज्ञानिक है ?[1] यही युक्ति-सरणि यास्क के निरुक्त में सर्वप्रथम उठाई गई थी। **तद्यत्रोभे भावप्रधाने भवतः** (नि० १.१.१०) में यही तथ्य निहित है। नाम और आख्यात के इस विभाग की व्याकरणात्मक मान्यता की बात पाणिनि एवं पतंजलि के 'नामधातु-प्रकरण' में स्पष्ट देखी जा सकती है।

---

१. महा० १.१.१, 'चत्वारि पदजातानि।'

१. इस सबकी विस्तृत चर्चा के लिए ब्लूमफील्ड की 'लैंग्वेज,' व्हाटमाऊ की 'लैंग्वेज', एवं येस्पर्सन की 'दि फ़िलॉसफ़ी ऑफ ग्रामर' के सम्बद्ध प्रकरण देखें।

पाणिनि ने धातुपाठ में, **चुरादिगण** में, जिन भी धातुओं का पाठ किया है, उनमें से अधिकांश, 'धातु' न होकर, 'नाम' ही हैं। नामों के **आख्यात** होने के सम्बन्ध में निरुक्त-कार, पतंजलि आदि एकमत हैं। परन्तु, सभी **'नाम'** आख्यातज भी स्वीकार नहीं किये गये। पाणिनि द्वारा उणादि-सूत्र-कल्पना इसी सत्य की व्याख्या है। **अव्यय** को एक इकाई मानें या, उपसर्ग, निपात, कर्मप्रचनीय तथा 'अवशिष्ट अव्ययों'[1] के रूप में, चार पृथक्-पृथक् इकाइयाँ, यह भी एक विवादास्पद प्रश्न है। **अवशिष्ट अव्ययों** को 'नाम' के अन्दर गिनने का प्रयास भ्रामक सिद्ध होगा। जन-प्रवृत्ति में कभी वे भी नामों के समान 'सुबन्त' होकर चले थे, परन्तु बाद में वे निपातों के समान 'गतिहीन' होकर एक ही रूप में स्थिर हो गये। इसीलिए वे 'अव्यय' कहलाए: **स्वरादि निपातमव्ययम्** (पा० १.१.३७)। परन्तु अन्ततः पाणिनि भी उन्हें तात्विक विवेचना के आधार पर उपसर्ग, निपात एवं कर्मप्रचनीय से भिन्न ही स्वीकार करते हैं। उनका ग्रहण 'नाम' में ही हो सकता है। शेष को तीन मानें, दो या एक, इस विषय में मतभेद हो सकता है। पतंजलि इनकी संख्या को 'दो' तक सीमित करते हैं। भर्तृहरि, बिना विवाद में गए, इन्हें तीन मानकर ही इनका विवेचन करते हैं। वे पद को 'पाँच' कहकर उक्त सत्य का उल्लेख मात्र ही करते रहे हैं।[2] मीमांसाकार जैमिनी आदि कुछ आलोचकों ने, नाम और आख्यात के रूप में केवल दो ही पद-रूपों की सत्ता स्वीकार की है।[3] यह कल्पना कहाँ तक उचित एवं समर्थ है, इसका विवेचन ही अगली पंक्तियों में होगा।

१३७. अव्यय — अव्यय की चर्चा में **उपसर्ग, निपात एवं कर्मप्रवचनीय** की गणना की गई है। पाणिनि की दृष्टि में इन तीनों को 'निपात' माना गया है (पा० १.४.५६)। बाद में इन्हीं में से कुछ को उपसर्ग (पा० १.४.५९) अथवा गति (पा० १.४.६०) और कुछ को कर्मप्रवचनीय (पा० १.४.८३ से ९६) माना गया है। शेष को 'निपात' ही कहा गया है। इन सबको 'अव्यय' इसलिये कहा गया है कि इनमें पदों की भाँति विभक्तियों आदि का संयोग नहीं देखा जाता। अर्थ की दृष्टि से भी इनकी सत्ता **संज्ञा और क्रिया** से सर्वथा भिन्न है। एक ही 'निपात' निरर्थक भी रह सकता है, उपसर्ग के रूप में उसका एक अर्थ सम्भव है, और 'कर्मप्रवचनीय' रूप में उसका दूसरा भी। एक ही निपात विविध प्रयोगों में विविध अर्थों का वाहक भी हो सकता है।[4] इसीलिये पाणिनि ने इन्हें प्रायः **असत्व** (अमूर्त या अद्रव्य) की कोटि में रखा है। स्वरादि अव्ययों को आधुनिक **क्रियाविशेषण** का पर्यायवाची भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उनमें से अधिकांश संज्ञात्मक विशेषण का अर्थ भी वहन करते हैं। किन्तु, व्याकरणात्मक रूप एवं सत्ता को खोकर वे सभी 'अव्यय' बन चुके होते हैं।

१. **नीचैः, उच्चैः, ऊर्ध्वम्, अधः आदि।** २. **वा० ३.१.१.**
३. **मी० २.१.१,३.** ४. **'उच्चावचेष्वर्थेषु निपतन्ति'** (नि० १.४.१-२)।

१३८. कर्मप्रवचनीय — भर्तृहरि ने कर्मप्रवचनीयों की विवेचना भाषातात्विक दृष्टि से की है। उसके शब्दों में :

जनयित्वा क्रियां काञ्चित् सम्बन्धी विनिवर्त्तते ।
श्रूयमाणे क्रियाशब्दे सम्बन्धो जायते क्वचित् ॥ वा० २.१९९ ॥
स चोपजातः सम्बन्धो विनिवृत्ते क्रियापदे ।
कर्मप्रवचनीयेन तत्र तत्र नियम्यते ॥ वा० २.२०१ ॥

'उपसर्ग' अवस्था की एक शर्त है — **क्रियायोग** (पा० १.४.५९)। क्रिया के बिना उपसर्ग का स्वतन्त्र प्रयोग नहीं देखा जाता। क्रिया से संयुक्त होकर भी उपसर्ग क्रिया के अर्थ में ही संशोधन-परिवर्धन करता है। धातु-व्यतिरिक्त किसी स्वतन्त्र अर्थ को अभिव्यक्ति नहीं देता। परन्तु, जब किसी क्रिया से जुड़कर भी यह, उस क्रिया के अर्थ में संशोधन-परिवर्धन न करके, एक नए अर्थ का आधान करता है, और वह अर्थ किसी अन्य क्रिया का संकेतक होता है, तब उसे **कर्मप्रवचनीय** कहते हैं : **सम्बद्ध क्रिया से व्यतिरिक्त किसी अन्य क्रिया की भावना (कर्म) का वाहक**। ऐसा इसलिये होता है कि वस्तुतः यह 'कर्मप्रवचनीय' पहले 'उपसर्ग' रूप में किसी अन्य क्रिया से सम्बद्ध होता है। वह क्रिया मुख्य क्रिया से भिन्न होती है। कह सकते हैं यह पूर्ववर्ती क्रिया 'क्रिया-विशेषण' के रूप में होती है। परन्तु, प्रधान क्रिया के अर्थ से उसका अर्थ सम्बद्ध हो चुका होता है। उस दशा में, प्रयोग में, धीरे-धीरे विशेषणरूपा क्रिया का अदर्शन (लोप) हो जाता है। तब उसके साथ का 'उपसर्ग' उस क्रिया-समेत सम्पूर्ण अर्थ का वाहक (कर्मप्रवचनीय) बनकर धातु से संयुक्त हो जाता है। क्योंकि, यह संयुक्त रूप में दीखने वाली धातु के अर्थ में परिवर्तन या परिवर्धन नहीं करता (बल्कि बाहर के अर्थ को लाता है), अतः इसे 'उपसर्ग' कहना अस्वाभाविक एवं अनुचित हो जाता है। इसे उपसर्ग से भिन्न मानना ही उचित है।

इसकी यह विशेष स्थिति केवल शास्त्रीय ही नहीं है। लौकिक दृष्टि से भी ऐसी स्थिति को 'विशिष्ट' एवं 'उपसर्ग-भिन्न' स्वीकार किया गया है। परिणामतः, व्याकरणात्मक अनेक परिवर्तन असफल एवं अदृष्ट रह जाते हैं। 'अनु' के योग में 'तृतीया' होनी चाहिए, पर कर्मप्रवचनीय बनने पर उससे हेतु-लक्षणा तृतीया नहीं होती। 'सु' आदि में 'षत्व' आदि उपसर्गप्राप्त कार्य नहीं होते। यह सब उनकी विशिष्ट स्थिति के कारण ही :

कर्मप्रवचनीयत्वं क्रियायोगे विधीयते ।
षत्वादिविनिवृत्त्यर्थं स्वत्यादीनां विधर्मणाम् ॥ वा० २.२०४ ॥
हेतुहेतुमतोर्योगपरिच्छेदेऽनुना कृते ।
आरम्भाद् बाध्यते प्राप्ता तृतीया हेतुलक्षणा ॥ वा० २.२०५ ॥

इसके वास्तविक स्वरूप को, भाषा-तात्विक भाषा में, वे इस प्रकार कहते हैं : **न यह**

[अदृष्ट] क्रिया का द्योतक होता है, न यह किसी सम्बन्ध का वाचक है, न और [अदृष्ट] क्रियापद की आवश्यकता को अनिवार्य सिद्ध करता है। इसे अधिक-से-अधिक सम्बन्ध में भेद लाने वाला (सामान्य से अन्तर लाने वाला) कह सकते हैं।[1] यही इसकी उचिततम व्याख्या दीखती है। यह व्याख्या विश्व की किसी भी भाषा के, भारोपीय भाषाओं में विशेषकर, कर्मप्रवचनीयों पर लागू हो सकती है। स्वतन्त्र रूप में **विभक्त-स्थानीय उपसर्गों** (प्रैपोजिशन) की भी यही व्याख्या हो सकती है। पाणिनि ने इस प्रेपोजिशन रूपी कर्मप्रवचनीयों में उप, अप, परि, आङ्, प्रति, परि, अनु, अभि, **अधि, सु, अति, अपि** आदि का परिगणन कराया है। ग्रीक कर्मप्रवचनीयों का अध्ययन भी प्रायः इन्हीं उपसर्गों पर आधारित है। उनमें कुछ अधिक भी हैं। ग्रीक और संस्कृत में इनका प्रयोग क्रिया के बिना और क्रिया के साथ – दोनों रूपों में ही – होता है। जर्मन, इंग्लिश आदि में भी कुछ मात्रा में यही प्रवृत्ति स्पष्ट है। परन्तु सर्वत्र इनका अर्थात्मक सम्बन्ध क्रिया से ही स्वीकार किया गया है।

१३६. उपसर्ग – उपसर्ग की स्थिति इनसे भिन्न है। उनका प्रयोग क्रिया के साथ ही होता है। यदि वैदिक भाषा की भाँति वह स्वतन्त्र रूप में प्रयुक्त हो, तब भी इसका अर्थ क्रिया के अर्थ से संयुक्त होकर ही स्पष्ट होता है। इस पर भी धातु का अविभाज्य-अंश इसे स्वीकार नहीं किया जा सकता। धातु से इसकी पृथक् स्वीकृति का प्रमाण ग्रीक, जर्मन व भारतीय आर्य परिवार की प्राचीन भाषाओं में पाया जाता है। धातु के 'काल' तथा उसके 'भाव' आदि की सूचना देने वाले 'अट्', 'आट्' आदि आगम सदा ही उपसर्ग और धातु के बीच में – अर्थात् धातु से पहले – स्थान ग्रहण करते हैं।[2]

अडादीनां व्यवस्थार्थं पृथक्त्वेन विकल्पनम् ।
धातूपसर्गयोः शास्त्रे धातुरेव तु तादृशः ॥ वा० २. १८२ ॥

परन्तु, इन सभी भाषाओं में उपसर्ग अनेकत्र धातु के अविभाज्य अंग भी बन जाते हैं। तब उक्त सभी विधियाँ सोपसर्ग धातु से ही होती हैं। वहाँ उपसर्ग अपनी पृथक् सत्ता से हीन हो जाता है। यथा संस्कृत के 'संग्राम' को धातु ही स्वीकार कर लिया गया है (दे० धातु पाठ में चुरादिगण)।

तथा हि संग्रामयते सोपाद्विधिः स्मृतः ।
क्रियाविशेषाः संघाते प्रक्राम्यन्ते तथाविधाः ॥ वा० २. १८२ ॥

वस्तुतः, उपसर्ग का अपना कोई अर्थ नहीं होता। यह तो धातु से उसका सम्बन्ध है, जो उस 'संयोग' में एक वैशिष्ट्य ला देता है। 'कर्मप्रवचनीय' से उसमें यही अन्तर

१. वा० २.२०६.
२. जर्मन में ankommen का भूतकालिक प्रयोग an-ge-kommen आदि।

है कि कर्मप्रवचनीय और धातु की कार्य, प्रयोजन, अथवा अर्थगत अन्तरंग एकता नहीं होती, जबकि उपसर्ग का अर्थ की दृष्टि से स्वतन्त्र महत्व न होकर, धातु के साथ ही उसकी अर्थात्मक आंतरिक एकता होती है :

कार्याणामन्तरंगत्वमेव धातूपसर्गयोः ।
साधनैर्याति सम्बन्धं तथाभूतैव सा क्रिया ॥ वा० २. १८४ ॥ [1]

इस आन्तरिक अभिन्नता की व्याख्या में भर्तृहरि कहते हैं, जिस प्रकार 'धातु' के क्रियारूप में प्रयोग से पहले उसमें 'धातुत्व' एवं 'कर्मभाव' की स्थापना मानसिक अवस्था में ही हो जाती है, उसी प्रकार – मन व बुद्धि में ही – धातु और उपसर्ग का अर्थगत सम्बन्ध एवं तज्जन्य ऐक्य हो जाता है । यह आत्यन्तिक एकता यदि कहीं टूटती है, तो हमारी पदग्रहण-परक प्रवृत्ति की वेला में ही :

धातोः साधनयोगस्य भाविनः प्रक्रमाद्यथा ।
धातुत्वं कर्मभावश्च तथान्यदपि दृश्यताम् ॥ वा० २. १९६ ॥
बुद्धिस्थादभिसम्बन्धात्तथा धातूपसर्गयोः ।
आभ्यन्तरीकृतो भेदः पदकाले प्रकाशते ॥ वा० २. १८८ ॥

और, भर्तृहरि इसकी भी सार्वत्रिक व सर्वमान्य परिभाषा ढूंढ निकालते हैं ।

स वाचको विशेषाणां, सम्भवाद्द्योतकोऽपि वा ।
शक्त्याधानाय धातोर्वा सहकारी प्रयुज्यते ॥ वा० २. १९० ॥

अर्थात्, वह धातु में सामान्य अर्थ से कुछ विशेषता लाता है, किसी अनिर्दिष्ट तथ्य की ओर इंगित भी कर सकता है, अथवा धातु का सहवर्ती रह कर उसके मौलिक अर्थ में स्थिरता व बल ला देता है' ।

१४०. **निपात** – कर्मप्रवचनीय और उपसर्गों की गणना में आने वाले सभी पद, और उनकी पहुँच से परे के असत्ववाचक (संयोजकादि) अव्यय, **निपात** कहलाते हैं ।[1] इनकी सर्वोत्कृष्ट परिभाषा यास्क ने की है : **अथ निपाता उच्चावचेष्वर्थेषु निपतन्तीति** (नि० १. ४. १-२) । अर्थात्, निपातों का कोई स्थिर अर्थ नहीं होता । उनके अर्थ बदलते रहते हैं । वे उपमार्थक, समुच्चयार्थक, प्रतिषेधार्थक, विनिश्चयार्थक, संशयार्थक अथवा निरर्थक पदपूरणार्थक भी हो सकते हैं । इनमें से बहुतों का मिश्रण भी अनेक निपातों में देखा जाता है । वस्तुतः उन्हें किसी एक अर्थ में बाँधना असम्भव है । विश्व भर की भाषाओं में निपातों की यही स्थिति है । पदों से उनका अन्तर यही है कि अकेले रहने पर ये किसी भी स्थिर अर्थ को वहन नहीं कर सकते । यह स्थिति सापेक्ष ही है । इस विषय में ये 'प्रत्ययों' से अभिन्न स्थिति के हैं : वे भी अकेले प्रयुक्त नहीं होते ।

चादयो न प्रयुज्यन्ते पदत्वे सति केवलाः ।
प्रत्ययो वाचकत्वेऽपि केवलो न प्रयुज्यते ॥ वा० २. १९९ ॥

---

१. **'चादयोऽसत्त्वे' (पा० १. ४. ५७) तथा 'प्रादयः' (पा० १. ४. ५८)।**

निपातों की इस अनिश्चित स्थिति को, एवं उनके अनिश्चित प्रयोग को भर्तृहरि ने भी स्वीकार किया है।

निपाताः द्योतकाः केचित् पृथगर्थाभिधायिनः।

आगमा इव केऽपि स्युः संभूयार्थस्य वाचकाः।। वा० २. १९४।।

यहाँ 'संभूय' का अर्थ विचारणीय है। अनेकत्र अनेक निपात एकत्रित होकर एक ही अर्थ की अभिव्यक्ति देते हैं। यही सत्य यहाँ भतृहरि को वाच्य है। वाक्य में अथवा पदों के साथ उनका स्थान भी निश्चित नहीं किया जा सकता। वे अपना निर्दिष्ट संकेत कहीं भी रहकर दे सकते हैं (वा० २. १९५)।

पाणिनि ने 'च' आदि पदों को **असत्त्व** अर्थ में निपात स्वीकार किया है। शंका हो सकती है जब 'सत्व' और 'भाव' का अन्तर संज्ञा और क्रिया में अन्तर उत्पन्न करता है, तब 'असत्व' से 'भाव' अर्थ भी लिया जा सकता है। उस स्थिति में 'चादि' में आने वाले धातु-सदृश निपातों के साथ उनके धातुरूपों का भी ग्रहण हो सकेगा। भर्तृहरि का संकेत स्पष्ट है कि 'असत्व' का प्रयोग 'भाव' के द्योतन के लिए नहीं है। बल्कि, इसके द्वारा यह सूचना मिलती है कि निपातों की श्रेणी, 'धातु' में न होकर, 'प्रातिपदिक' या 'संज्ञा' में ही होनी चाहिये थी। किन्तु, संज्ञा 'सत्व' की सूचक होती है। अतः सत्वरहित सूचना का देने वाला धातु-व्यतिरिक्त जो भी शब्द है, उसे 'निपात' ही मानना चाहिए। धातुजन्य क्रिया उससे सर्वथा भिन्न वस्तु है (वा० २.१९७)। और, इस व्याख्या की पूर्णता है **'परतन्त्रास्तु चादयः'** (वा० २.१९८) में। वे अपनी अर्थ-व्यक्ति में अकेले किसी भी प्रकार असमर्थ हैं।

१४१. **प्रत्यय** — निपातों के प्रसंग में **प्रत्ययों** का उल्लेख आया है। पाणिनि ने उन्हें विभिन्नार्थों में प्रयुक्त, अतः एक 'अर्थवान्' इकाई कहा है (पा० १.२.४५)। भर्तृहरि ने भी — **'जायते प्रत्ययोऽर्थेभ्यस्तथैवोद्देशजा मतिः'** (वा० ३.३.५३) के द्वारा — इसी बात को स्वीकार किया है। परन्तु, इस भाषा-तात्विक सत्य का उद्घोष भी उन्होंने ही किया है कि प्रत्ययों के अर्थवान् होने का यह अर्थ नहीं कि उनका स्वतन्त्र प्रयोग हो सकता है। सत्य तो यह है कि उनका अर्थ शास्त्रीय दृष्टि से ही सिद्ध किया जा सकता है; लोक-प्रयोग में न उसकी उपयोगिता है न अस्तित्व! फिर, उनका तथा-कथित अर्थ भी प्रकरणादि पर आश्रित रहता है; स्थिर नहीं कहा जा सकता।

कृत्तद्धितानामर्थश्च केवलानामलौकिकः।

प्राग्विभक्तेस्तदन्तस्य तथैवार्थो न विद्यते ।। वा० २.२१३ ।।

अभिव्यक्ततरो योऽर्थः प्रत्ययान्तेषु लक्ष्यते।

अर्थवत्ताप्रकरणादाश्रितः स तथाविधः।। वा० २.२१४।।

अतः प्रत्ययों को किसी भी रूप में 'पद' जैसा महत्व नहीं दिया जा सकता।

१४२. नाम और आख्यात – शेष दो पद-भेद कहलाते हैं **नाम और आख्यात**। इन दोनों के अन्तर के विषय में भी आरम्भ से ही विचार होता रहा है। यास्क ने स्पष्ट शब्दों में – **'भावप्रधानमाख्यातम्, सत्वप्रधानानि नामानि'** (नि० १.१.९) के द्वारा— क्रमशः 'आख्यात' को भाव-प्रधान एवं 'संज्ञा' को सत्व-प्रधान स्वीकार किया है। मीमांसाकार ने कर्मशब्द (धातु) को **'भावार्थाः कर्मशब्दाः'** (मी० २.१.१) तथा 'आख्यात' को **'येषां तूत्पत्तावर्थे स्वे प्रयोगो न विद्यते तान्याख्यातानि'** (मी० २.१.४) के रूप में, तथा संज्ञा को **'येषामुत्पत्तौ स्वे प्रयोगे रूपोपलब्धिस्तानि नामानि'** (मी० २.१.३) के रूप में स्वीकार किया है। उनका भेद 'रूपोपलब्धि' पर है। यास्क की 'सत्व' (सत्ता) की शर्त भी इस 'रूप' का ही दूसरा नाम प्रतीत होती है। अन्तर उस में यही है कि 'सत्ता' में बहुत कुछ 'अरूप' भी ग्रहण हो सकता है। गुण-संख्या आदि अरूप हैं। मीमांसा के भाष्यकार शबर स्वामी ने इसीलिए 'नाम' की व्याख्या में उन्हें **'द्रव्यगुणशब्दाः'** कहा है (मी० शबर भाष्य, पृ० ३८७)। 'सत्व' का अर्थ 'सत्ता' से है। मीमांसा व निरुक्त दोनों ने ही 'भाव' की प्रधानता में आख्यात और धातु की सत्ता स्वीकार की है, यद्यपि मीमांसाकार द्वारा रूपोपलब्धि के अभाव को 'आख्यात' की शर्त बताना भयावह भी है। पाणिनि ने असत्व के अर्थ में 'च' आदि को निपात गिना है। निश्चय ही उन सब के उच्चारण से भी रूपोपलब्धि नहीं होती। फिर 'रूप' की यह शर्त वर्तमान वैज्ञानिक दृष्टि से भी सही नहीं उतरती। 'क्रिया' या 'आख्यात' का ग्रहण किसी न किसी रूपात्मक विधा के द्वारा ही हो सकता है। इस दृष्टि से यास्क की परिभाषा अधिक उचित जँचती है। वहाँ 'भाव' की शर्त है। मीमांसाकार 'भाव प्रधान' को **कर्मशब्द** कहता है। 'भाव' का अर्थ 'भावना' भी हो सकता है और 'होना या बनना' भी : **प्रक्रिया की अवस्था**, जो अभी पूर्णता तक नहीं पहुँची। प्रक्रिया की अवस्था पूर्ण होते ही वह 'भाव' के क्षेत्र से बाहर चली जाती है : उसे 'सत्व' कह सकते हैं। यह है 'आख्यात' और 'नाम' का अन्तर, जिसे अंग्रेजी में 'बिकमिंग' और 'बीइंग' के रूप में कहा जा सकता है। किन्तु, यास्क अगली समस्या रख देते हैं। 'यह विभाजक रेखा सही नहीं है, नाम और आख्यात दोनों भाव-प्रधान भी हो सकते हैं' : **तद्यत्रोभे भावप्रधाने भवतः** (नि० १.१.१०)। भाव और सत्व के इस अन्तर को, वैज्ञानिक स्तर पर, सम्भवतः भर्तृहरि ही सुलझाने में समर्थ हुए हैं। वस्तुतः 'वाक्' की एकात्मता एवं वाक्य की अविच्छेद्यता के पोषक भर्तृहरि इस 'भेद' को ही अस्वाभाविक मानते हैं। फिर भी उन्होंने 'भाव' और 'सत्व' की इस उलझन को अत्यन्त योग्यता से स्पष्ट किया है। सर्वप्रथम उन्होंने 'सर्वाणि नामान्याख्यातजानि' वाले सिद्धान्त का खुलकर विरोध किया। वे यास्क के **'तद्यत्रोभे भावप्रधाने भवतः'** की मान्यता के भी समर्थक नहीं दीखते। उनका कहना है कि यह बात स्वीकार करते ही 'नाम', 'आख्यात' आदि चारों पद-भेद झूठे पड़ जाते हैं।

सर्वं सत्वपदं शुद्धं यदि भावनिबन्धनम् ।

संसर्गे च विभक्तोऽस्य तस्यार्थो न पृथग्यदि ।। वा० २.३४५।।

क्रियाप्रधानमाख्यातं नाम्नां सत्वप्रधानता ।

चत्वारि पदजातानि, सर्वमेतद्विरुध्यते ।। वा० २.३४६।।

परन्तु, 'भाव' और 'सत्व' के पीछे छिपे वैज्ञानिक रहस्य को भी वे ही खोलते हैं। भाव है 'आश्रितक्रमरूप' : जिस शब्द को सुनकर, किसी एक निश्चित (सिद्ध) वस्तु की प्रतीति न होकर, ऐसी प्रतीति हो जिसके कुछ अनिश्चित से चरण हों, या जो प्रतीति किसी साध्यावस्था के विभिन्न चरणों से परिचय कराये, उसे 'क्रिया' कहते हैं :

यावत्सिद्धमसिद्धं वा साध्यत्वेनाऽभिधीयते ।

आश्रित क्रमरूपत्वात् तत् क्रियेत्यभिधीयते ।। वा० ३.८.१।।

और 'नाम' को वे मानते हैं : जिसमें इस क्रम रूप का संहार हो जाये—

नामशब्दाः प्रवर्त्तन्ते संहरन्त इव क्रमम् ।। वा० ३.८.२६।।

प्राप्तक्रमा विशेषेषु क्रिया सैवाभिधीयते।

क्रमरूपस्य संहारे तत्सत्त्वमिति कथ्यते ।। वा० ३.८.४७।।

तो फिर, 'यत्रोभे भावप्रधाने' की बात का उत्तर क्या दिया जाय ? भर्तृहरि का उत्तर है : **'वहाँ भी भाव और सत्व का ही अन्तर है ।'** यदि ऐसा न हो तो प्रत्ययगत भेद क्यों हो ? भाव-प्रधान अवस्था में धातुपरक प्रत्यय एवं सत्व-प्रधान अवस्था में घञादि प्रत्यय का एक ही 'धातु' (मूल) से सम्बद्ध होना इसी भेद की सूचना देता है।

साध्यत्वेन क्रिया यत्र धातुरूपनिबन्धना ।

सत्वभावस्तु यस्तस्याः स घञादिनिबन्धनः ।। वा० ३.८.४७।।

परन्तु, यह सब मानकर भी भर्तृहरि अन्ततः उन दोनों भेदों को 'एकात्मा' ही मानता है। उन दोनों में साधन व सिद्धावस्था का भेद ही तो है। सिद्धावस्था 'सत्ता' की सूचक हो जाती है, साधनावस्था 'भाव' की सूचक होती है। वस्तुतः दोनों एक ही आत्मा के दो 'रूप' हैं। भर्तृहरि समझाते हैं : 'जिस प्रकार एक ही व्यक्ति आचार्य, मामा, आदि विभिन्न रूपों में जाना व बुलाया जाता है, उसी प्रकार 'पक्तिः' व 'पचति' के रूप में 'पाचन' रूपी एक ही अर्थात्मा विविध (नाम-आख्यात) रूप ग्रहण करता है' (वा० ३.८.६६)।

१४३. भाव – यहाँ 'भाव के सम्बन्ध में भर्तृहरि की मौलिक दृष्टि को भी उल्लिखित कर देना अभीष्ट होगा। यास्क ने भाव के छह भेद या अवस्थायें स्वीकार की हैं : **'जायतेऽस्ति विपरिणमते वर्द्धतेऽपक्षीयते विनश्यतीति'** (नि० १.२.८)। 'भाव' का अर्थ यहाँ 'अवस्था' है, 'मनोदशा' नहीं। भर्तृहरि ने भी, इसी रूप में, भाव की छह भेदयोनियाँ गिनाई हैं :

आध्याहितकलां यस्य कालशक्तिमुपाश्रिताः ।
जन्मादयो विकाराः षड् भावभेदस्य योनयः॥ वा० १०३॥

परन्तु, भावभेद की इन ६ योनियों को उन्होंने, वैज्ञानिक रूप में, स्वीकार नहीं किया है। वे स्पष्टतः घोषित करते हैं : 'जन्म और नाश अथवा आविर्भाव और तिरोभाव जैसे शब्द केवल व्यावहारिक सुविधा के लिए कल्पित अवस्थाएँ हैं। उनका सम्बन्ध वास्तविकता से नहीं है। ये अवस्थाएँ एक दूसरे से भिन्न नहीं कही जा सकतीं' :

'आविर्भावतिरोभावौ जन्मनाशौ तथापरैः ।
षट्सु भावविकारेषु कल्पितौ व्यावहारिकौ ॥वा० ३.८.२५॥

यही बात वे 'स्थिति' (अस्ति) के सम्बन्ध में भी कहते हैं :

'जन्मैवाश्रितसारूप्यं स्थितिरित्यभिधीयते ॥ वा० ३.८.२६॥

वे जानते हैं कि 'जायमान' और 'जन्म', भिन्न रूपों में, भिन्न होकर नहीं रह सकते। विनाश किसका ? कोई वस्तु रूप बदल कर 'स्थिर' ही रहती है। अतः चाहे छहों भाव विकारों में से कोई भी हो, वह एक ही 'सत्ता' की भिन्न रूप में की गई व्याख्या मात्र है :

जायमानान्न जन्मान्यद् विनाशेऽप्यपदार्थता ।
अतो भावविकारेषु सत्तैका व्यवतिष्ठते ॥ वा० ३.८.२७ ॥

हमारी पहुँच में जो कुछ आ जाता है, हम 'जायते' आदि के द्वारा उसी की व्याख्या-मात्र कर देते हैं।

१४४. **क्रिया और आख्यात** — यहाँ 'भाव' के अतिरिक्त 'क्रिया' और 'आख्यात' के विषय में भर्तृहरि के एक अन्य विवेचन पर भी एक दृष्टि डाल लेना अनुचित न होगा। **भाव का संकेतक मूल-अंश ही धातु कहलाता है**। पर, उसका उस रूप में न प्रयोग होता है, न अर्थ रहता है :

धात्वादीनां विशुद्धानां लौकिकोऽर्थो न विद्यते ॥ वा २. २१२ ॥

'आख्यात' किसी भी तिङन्त धातु-रूप को कह सकते हैं, किन्तु 'क्रिया' हर तिङन्त-रूप को नहीं कह सकते। 'विदाङ्करोतु', 'एधाञ्चकार', अथवा 'उसने प्रस्थान किया' में 'कृ' या 'करने' का प्रयोग 'क्रिया' नहीं कहला सकता। क्यों ? इसका उत्तर भर्तृहरि देते हैं, 'क्योंकि उसका' फल 'कर्त्ता को नहीं मिलता'। जिसका फल उसके होने के बाद प्राप्त हो, वही प्रधानरूपा 'क्रिया' कहलाती है :

अनन्तरं फलं यस्याः कल्पते तां क्रियां विदुः ।
प्रधानभूतां तादर्थ्यादन्यासां तु तदाख्याता ॥ वा० ३.८.१५ ॥

यही बात वाक्य में प्रयुक्त विभिन्न तिङन्त-रूपों (आख्यात-रूपों) पर भी घटती है। 'आख्यात' उनमें से प्रत्येक है, किन्तु एक वाक्य में **फलोत्पादिनी क्रिया** एक ही हो

सकती है । शेष को 'आख्यात' ही कहा जा सकता है। **'मृगः पश्यत यातीति' या मृगो धावति पश्येति'** में 'पश्य' या 'पश्यत' ही प्रधान क्रिया है ; 'याति' या 'धावति' नहीं । वस्तुतः 'मृगो धावति' आदि यहाँ कर्म बन जाते हैं, 'पश्य' क्रिया के ! 'पश्य' को हटा लेने पर वे ही क्रिया कहलाते हैं (वा० २.४५२; ३.८.५१)।

'क्रिया' की विभिन्न परिभाषाओं एवं तत्सम्बद्ध मान्यताओं पर भी भर्तृहरि ने विचार किया है । अनन्तः वे 'क्रिया' की दो ही शर्तें स्वीकार करते हैं : **'साध्यत्व' एवं 'आश्रितक्रमरूप'** ! जो भी भाव 'साध्य' है, वह साधना के द्वारा धीरे-धीरे ही निष्पन्न होगा । साध्य-भाव के 'सिद्ध' होते ही वह 'क्रिया' नहीं रह जाता । अतः 'क्रिया' की सीमा तभी तक है, जब तक मूल-भाव 'साध्य' रहता है (वा० ३.८.१) ।

क्रिया का यह रूप **जाति या सामान्य** होता है, क्योंकि उस में अनेकों छोटी-छोटी क्रियाओं के समूह मिले रहते हैं वा० ३.८.५.७) । इसीलिए कुछ उसे 'जाति' नाम देते हैं : **जातिमन्ये क्रियामाहुरनेकव्यक्तिवर्त्तिनीम्** (वा० ३.८.२०) ।

१४५. नाम – इस प्रसंग में अन्तिम भेद है 'नाम या 'संज्ञा' का ! नाम अथवा संज्ञा का आवश्यक चिह्न, जो उसे क्रिया से भिन्न सिद्ध करता है, पहले कहा जा चुका है : **एक ओर, संज्ञा 'सिद्ध' वस्तु की द्योतक या संकेतक होती है, दूसरी ओर, उसमें क्रिया के समान क्रम-रूप में घटने की भावना नहीं रहती** । यह बात १३८ वें अनुच्छेद में स्पष्ट की जा चुकी है । वर्तमान वैयाकरण 'संज्ञाओं' के अनेक भेद मानने के पक्ष में हैं। येस्पर्सन जैसे दार्शनिक व भाषाविद् भी संज्ञा, विशेषण एवं सर्वनाम को तीन अलग 'पद' मानते हैं। यह सब इस कारण कि हम 'संज्ञा' को किसी द्रव्य, जाति, आदि की ओर संकेत करने वाली मानते हैं। संज्ञा को 'सत्वप्रधान' कहने वाले यास्क ने 'सत्ता' की जो सीमा निर्धारित की है, उसमें 'विशेषण' एवं 'सर्वनाम' के अन्तर्ग्रहण का विरोध किया जा सकता है। किन्तु, भर्तृहरि इस बात को स्पष्ट करते देते हैं कि **विशेषण और सर्वनाम ही नहीं, व्यक्तिवाचक, गुणवाचक, भाववाचक एवं संख्यावाचक आदि सभी संज्ञाएँ 'द्रव्य या सत्ता' की ही संकेतिका हैं** । गुण 'अरूप' है। 'संख्या' एवं 'भाव' (सत्त्व) भी वैसे ही हैं। किन्तु, ये सभी शब्द अपने आशय को स्पष्ट तभी करते हैं, किसी 'सत्ता' या 'द्रव्य' से सम्बद्ध होकर इनका ग्रहण होता है। **व्यक्तिवाचक संज्ञा** को हम किसी 'व्यक्ति' की वाचिका समझते हैं। किन्तु, 'राम' का अर्थ 'रमने वाला' न होकर, एक उसका उद्देश्य 'मनुष्य' का संकेत देना ही है। मनुष्य-विशेष के लिए 'राम' का व्यवहार यह भी नहीं बताता कि उस मनुष्य-विशेष के विभेदक गुण ही, 'राम' शब्द से अभिप्रेत हैं।

स्वं रूपमिति कैश्चित्तु व्यक्तिस्संज्ञोपदिश्यते ।
जातेः कार्याणि संसृष्टा जातिस्तु प्रतिपद्यते ॥ वा० १. ७० ॥

यही स्थिति 'विशेषण' व 'सर्वनाम' की है। ये दोनों भी अन्ततः किसी न किसी 'द्रव्य' का ही आधार लेकर अपना अस्तित्व प्रकट करते हैं। अतः इन्हें 'संज्ञा' से भिन्न करके गिनना, सुविधा की दृष्टि से उचित भले ही कहा जाय, वैज्ञानिक दृष्टि से उसे उचित नहीं कहा जा सकता।

१४६. **गुण और संख्या – गुणवाचक संज्ञा-शब्दों** की स्थिति 'द्रव्य' पर ही आश्रित होती है। वस्तुतः गुणवाचक शब्द किसी 'द्रव्य' की विशेषता को बताने वाला 'विभेदक' ही होता है। इसे ही 'विशेषण' भी कहा जाता है।

> **द्रव्यस्याव्यपदेशस्य य उपादीयते गुणः।**
> **भेदको व्यपदेशाय तत्प्रकर्षोऽभिधीयते ।। वा० ३.५.२ ।।**
> **अरूपं गुणरूपेण द्रव्यमाख्यायते यथा।**
> **अप्रकर्षं प्रकर्षेण गुणस्याविश्यते तथा ।। वा० ३.५.६ ।।**

संख्यावाचक संज्ञा-शब्दों की स्थिति भी यही है। सभी सत्व-भूत (नाम) वस्तुएँ संख्यावान् होती हैं। आकार और सत्ता उनकी पृथक् इकाई का निर्माण करते हैं। इस कारण उनकी अनेकता का अर्थ है 'संख्या का उदय'! उन्हें गिनने के उपाय संख्यावाचक शब्द ही हैं :

> **संख्यावान् सत्वभूतोऽर्थः सर्व एवाभिधीयते।**
> **भेदाभेदविभागो हि लोके संख्यानिबन्धनः ।। ३.११.१ ।।**

अतः, संख्या भी द्रव्याश्रित ही है। उसकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं होती। संसर्गवादियों का यह मत उचित ही है (वा० ३.११.१२)। भर्तृहरि 'संख्या' व 'गुण' को स्पष्ट ही 'संज्ञा' के रूप से अविभेद्य मानते हैं :

> **संख्या नाम न संख्यास्ति संज्ञैषेति यथोच्यते।**
> **रूपं न रूपमप्येवं संज्ञा सा हि सितादिषु ।। वा० ३.११.२५ ।।**

भाववाचक एवं सर्वनाम शब्दों की स्थिति भी यही है। द्रव्य-धर्मों के वाचक ही हैं ये शब्द। द्रव्य-धर्म का वाचक कोई भी शब्द द्रव्याश्रित ही होता है :

> **द्रव्यधर्मपदार्थे तु द्रव्ये सर्वार्थ उच्यते।**
> **द्रव्यधर्माश्रयाद् द्रव्यमतः सर्वार्थ इष्यते ।। वा० ६.१.१३ ।।**

इसीलिए द्रव्यवाचक शब्दों को 'संज्ञा' ही कहते हैं। भर्तृहरि की दृष्टि में ये भेद व्यावहारिक सुविधा के ही लिए हैं। इनका महत्त्व वास्तविक नहीं है। 'गुणवाचक' शब्दों को ही विशेषण के रूप में, आजकल, अलग पद-भेद स्वीकार किया जाता है। परन्तु वे 'द्रव्य' के बिना स्थित नहीं रह सकते। अतः उन्हें 'नाम' में ही गृहीत करना चाहिए।

१४७. **शब्द एक है** – इस प्रकार हमने संक्षेप में भर्तृहरि की पदभेद-सम्बन्धी वैज्ञानिक विवेचना को देखा। परन्तु, भर्तृहरि शब्दमात्र को इस भेद-बुद्धि से परे **एक ही**

आत्मा के रूप में देखते हैं। यह विभाग केवल व्यावहारिक मान्यता को लेकर है। वा० ३.१.६ और ३.१.२५ में भर्तृहरि सब शब्दों की **मूलाभूता अभिव्यक्ति-वृत्ति** की एकता (जाति) को इंगित कर रहे हैं। सब शब्दों का मूलगत ऐक्य इसी 'जातिरूपता' के कारण है। इसे वे और भी स्पष्ट शब्दों में कहते हैं :

सम्बन्धिभेदात् सत्तैव भिद्यमाना गवादिषु।

जातिरित्युच्यते, तस्यां सर्वे शब्दा व्यवस्थिता॥ वा० ३.१.३३॥

तां प्रतिपदिकार्थं च धात्वर्थं च प्रचक्षते।

सा नित्या सा महानात्मा तामाहुस्त्वतलादयः॥ वा० ३.१.३४॥

अर्थात्, सत्ता एक है। 'जाति उसी सत्ता की वाचक है। उसे प्रातिपदिक कहें, धातु कहें, या भाववाचक संज्ञा आदि : एक को विविध आधारों पर भिन्न रूप में प्रकट करने के वे साधन मात्र हैं।

भर्तृहरि की यही बुद्धि उन्हें सामान्य वैयाकरणों से पृथक् और उच्चतर सिद्ध करती है।

यही स्थिति 'विशेषण' व 'सर्वनाम' की है। ये दोनों भी अन्ततः किसी न किसी 'द्रव्य' का ही आधार लेकर अपना अस्तित्व प्रकट करते हैं। अतः इन्हें 'संज्ञा' से भिन्न करके गिनना, सुविधा की दृष्टि से उचित भले ही कहा जाय, वैज्ञानिक दृष्टि से उसे उचित नहीं कहा जा सकता।

१४६. **गुण और संख्या – गुणवाचक संज्ञा-शब्दों** की स्थिति 'द्रव्य' पर ही आश्रित होती है। वस्तुतः गुणवाचक शब्द किसी 'द्रव्य' की विशेषता को बताने वाला 'विभेदक' ही होता है। इसे ही 'विशेषण' भी कहा जाता है।

द्रव्यस्याव्यपदेशस्य य उपादीयते गुणः।
भेदको व्यपदेशाय तत्प्रकर्षोऽभिधीयते ॥ वा० ३.५.२ ॥
अरूपं गुणरूपेण द्रव्यमाख्यायते यथा।
अप्रकर्षं प्रकर्षेण गुणस्याविश्यते तथा ॥ वा० ३.५.६ ॥

संख्यावाचक संज्ञा-शब्दों की स्थिति भी यही है। सभी सत्व-भूत (नाम) वस्तुएँ संख्यावान् होती हैं। आकार और सत्ता उनकी पृथक् इकाई का निर्माण करते हैं। इस कारण उनकी अनेकता का अर्थ है 'संख्या का उदय'! उन्हें गिनने के उपाय संख्यावाचक शब्द ही हैं:

संख्यावान् सत्वभूतोऽर्थः सर्व एवाभिधीयते।
भेदाभेदविभागो हि लोके संख्यानिबन्धनः ॥ ३.११.१ ॥

अतः, संख्या भी द्रव्याश्रित ही है। उसकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं होती। संसर्गवादियों का यह मत उचित ही है (वा० ३.११.१२)। भर्तृहरि 'संख्या' व 'गुण' को स्पष्ट ही 'संज्ञा' के रूप से अविभेद्य मानते हैं:

संख्या नाम न संख्यास्ति संज्ञैषेति यथोच्यते।
रूपं न रूपमप्येवं संज्ञा सा हि सितादिषु ॥ वा० ३.११.२५ ॥

भाववाचक एवं सर्वनाम शब्दों की स्थिति भी यही है। **द्रव्य-धर्मों के वाचक ही हैं** ये शब्द। द्रव्य-धर्म का वाचक कोई भी शब्द द्रव्याश्रित ही होता है:

द्रव्यधर्मपदार्थे तु द्रव्ये सर्वार्थ उच्यते।
द्रव्यधर्माश्रयाद् द्रव्यमतः सर्वार्थ इष्यते ॥ वा० ६.१.१३ ॥

इसीलिए द्रव्यवाचक शब्दों को 'संज्ञा' ही कहते हैं। भर्तृहरि की दृष्टि में ये भेद व्यावहारिक सुविधा के ही लिए हैं। इनका महत्त्व वास्तविक नहीं है। 'गुणवाचक' शब्दों को ही विशेषण के रूप में, आजकल, अलग पद-भेद स्वीकार किया जाता है। परन्तु वे 'द्रव्य' के बिना स्थित नहीं रह सकते। अतः उन्हें 'नाम' में ही गृहीत करना चाहिए।

१४७. **शब्द एक है** – इस प्रकार हमने संक्षेप में भर्तृहरि की पदभेद-सम्बन्धी वैज्ञानिक विवेचना को देखा। परन्तु, भर्तृहरि शब्दमात्र को इस भेद-बुद्धि से परे **एक ही**

आत्मा के रूप में देखते हैं। यह विभाग केवल व्यावहारिक मान्यता को लेकर है। वा० ३.१.६ और ३.१.२५ में भर्तृहरि सब शब्दों की मूलाभूता अभिव्यक्ति-वृत्ति की एकता (जाति) को इंगित कर रहे हैं। सब शब्दों का मूलगत ऐक्य इसी 'जातिरूपता' के कारण है। इसे वे और भी स्पष्ट शब्दों में कहते हैं :

सम्बन्धिभेदात् सत्तैव भिद्यमाना गवादिषु।
जातिरित्युच्यते, तस्यां सर्वे शब्दा व्यवस्थिता॥ वा० ३.१.३३॥
तां प्रतिपदिकार्थं च धात्वर्थं च प्रचक्षते।
सा नित्या सा महानात्मा तामाहुस्त्वतलादयः॥ वा० ३.१.३४॥

अर्थात्, सत्ता एक है। 'जाति उसी सत्ता की वाचक है। उसे प्रातिपदिक कहें, धातु कहें, या भाववाचक संज्ञा आदि : एक को विविध आधारों पर भिन्न रूप में प्रकट करने के वे साधन मात्र हैं।

भर्तृहरि की यही बुद्धि उन्हें सामान्य वैयाकरणों से पृथक् और उच्चतर सिद्ध करती है।

अर्थ का स्वरूप

१४८. **प्रयोगभावना ही प्रतिपाद्य** – शब्द की उत्पत्ति-प्रक्रिया को हम भर्तृहरि के शब्दों में इस प्रकार कह सकते हैं :

बुद्ध्यर्थ (वक्ता) ——> शब्द ——> बुद्ध्यर्थ (श्रोता)

'बुद्ध्यर्थादेव बुद्ध्यर्थे' (वा० ३.३.३३) तथा **'शब्दःकारणमर्थस्य'** (वा० ३.३.३२) का यही अभिप्राय ठहरता है। स्वभावतः शब्द का अपना महत्त्व रह जाता है, **साधन** के रूप में : एक **माध्यम** के रूप में। या, हम कह सकते हैं कि शब्द का जो बाह्यरूप – पाठात्मक – दृश्य होता है, वह सत्य और उपयोगी नहीं है, बल्कि उपयोगी वह भावना या अर्थ है, जिसे अभिव्यक्ति देने के लिये कोई शब्द प्रयुक्त किया जा रहा है। भर्तृहरि का यह भाव प्रकीर्णक-काण्ड के 'द्रव्यसमुद्देश' में भली-भाँति स्पष्ट हुआ है। वहाँ उन्होंने बार-बार आकार की असत्यता एवं 'वस्तु' या 'आत्मा' की नित्यता स्वीकार की है। उनकी दृष्टि में जहाँ आत्मा व आकार में एकता होती है, वहाँ आत्मा और शरीर एक ही अर्थ के वाचक या वाहक बन जाते हैं (वा० ३.२.१)। शब्द और बुद्ध्यर्थ (अथवा अर्थ) की यह अविभाज्य, अभेदात्मक स्थिति ऋग्वेद के एक सूक्त (१०.७१) में भी स्पष्ट संकेतित है। **उत त्वः पश्यन्न ददर्श** (ऋ० १०.७१.४) तथा **अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायो** (ऋ० १०.७१.७) में शब्द की सच्ची 'दृष्टि' और 'श्रुति' का अर्थ उसकी अर्थभावना की सही उपलब्धि से ही है। यास्क **अर्थनित्यः परीक्षेत** (नि० २.१.२) कहते हुए **'न संस्कारमाद्रियेत'** को भी साथ जोड़ दिया है। शब्द का बाह्यरूप कितना भ्रामक हो सकता है अथवा प्रत्ययादि संस्कार कितने भ्रमावह हो सकते हैं, यास्क की यह उक्ति उसी ओर एक स्पष्ट इंगित कर रही है। उसकी दृष्टि में मूलवस्तु है 'अर्थ'; शब्द-रूप तो एक 'माध्यम' है। पाणिनि ने **अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्** (१.२.४५) कहते हुए धातु, प्रत्यय, व प्रातिपदिक तीनों की अर्थवत्ता स्वीकार की है। 'सुप्' और 'तिङ्' का योग भी उनकी अर्थवत्ता को नहीं बदलता। बल्कि, वह एक 'संस्कार' है, उन्हें वाक् में प्रयोगार्ह बनाने मात्र को। व्याडि, कात्यायन और पतंजलि तो शब्द और अर्थ की नित्य-साहचर्यता को 'सिद्ध' मानते हैं। शब्द की नित्यता भी उसकी प्रायोगिक उपादेयता और अनवरतता के कारण नहीं है, बल्कि उसकी अर्थात्मक स्थिति के कारण है। यदि किसी शब्द की अर्थात्मक उपयोगिता समाप्त हो जाय, तब ग्रहीता के लिये उस 'शब्द' में तथा 'शोर' में कोई अन्तर नहीं रह जाएगा : **शब्दं मा कार्षीः शब्दकार्ययं माणवकः इति ध्वनिं**

कुर्वन्नेवमुच्यते (महा० १.१.१)। परन्तु 'शब्द' हर जिस-किसी भी ध्वनि को कह नहीं सकते। प्रयोक्ता और ग्रहीता के व्यापार का माध्यम है **शब्द**। येस्पर्सन के अनुसार, 'प्रयोक्ता और श्रोता के मध्य के व्यापार – (भाषा) – को समझने के लिए उन दोनों की उत्सुकता एवं गतिविधि का ध्यान रखना आवश्यक है।[1] इसका कारण भर्तृहरि ने इस प्रकार बताया है :

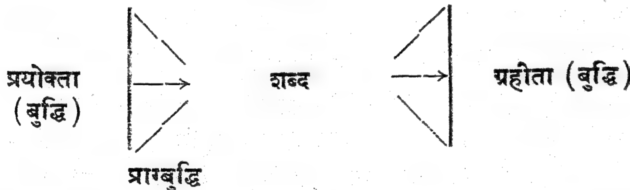
यथा प्रयोक्तुः प्राग्बुद्धिः शब्देष्वेव प्रवर्त्तते।
व्यवसायो ग्रहीतृणामेवं तेष्वेव जायते॥ वा० १.५४॥

अर्थात्, 'प्रयोक्ता किसी अभिधेय की स्पष्टता के लिए, तथा ग्रहीता उसी प्रतिपाद्य (अभिधेय) की उपलब्धि के लिये, 'शब्द' (या भाषा) का आश्रय ग्रहण करता है'। शब्द की प्रयोक्ता व ग्रहीता के लिए इस समान उपयोगिता को हम इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं :

प्रयोक्ता ———→ शब्द ←——— ग्रहीता

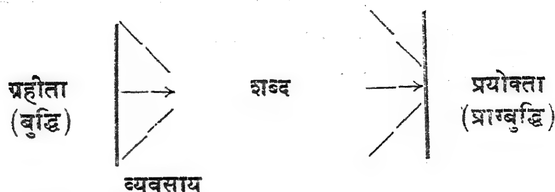
अर्थात् 'शब्द' में ही प्रयोक्ता की प्राग्बुद्धि (स्वयं को अभिव्यक्त करने की स्थिर भावना) एवं ग्रहीता का व्यवसाय (प्रयोक्ता के मनोभाव को समझने का निश्चय) केन्द्रित होते हैं। **शब्द-रूप** का आश्रय दोनों को लेना पड़ता है, किन्तु दोनों ही उसे लक्ष्य नहीं मान लेते। प्रयोक्ता का उद्देश्य रहता है ग्रहीता की बुद्धि तक पहुँचना। और, 'ग्रहीता' की बुद्धि, उसकी प्रतिक्रिया में, प्रयोक्ता की प्राग्बुद्धि या प्रयोग-बुद्धि तक पहुँचना चाहता है। हम प्रयोक्ता और 'ग्रहीता' की इस स्थिति को, भर्तृहरि के शब्दों में, निम्न दो रूपों में भली प्रकार समझ सकेंगे।

(क)



१. "The essence of the language is human activity – activity on the part of one individual to make himself understood by another, and activity on the part of the other to understand what was in the mind of the first. These two individuals, the producer and the recepient of language, or as we may conveniently call them the speaker and the hearer, and their relations to one another, should never be lost sight of if we want to understand the nature of the language." (Ph. of Lg. p. 17)

(ख)



स्पष्ट है, कि प्रयोक्ता और ग्रहीता दोनों का प्रयास, 'शब्द' की उपलब्धि तक ही सीमित न होकर, उसकी प्रयोग-भावना के प्रदान एवं उपलब्धि पर केन्द्रित होता है। अतः स्पष्ट ही शब्द की यह प्रयोग-भावना या प्रतिपाद्य-भावना ही मुख्य है। यही वाक् का लक्ष्य है। शब्द का उच्चरित रूप मुख्य नहीं कहा जा सकता।

१४९. **कुछ प्रश्न** – शब्द में स्थित यह प्रयोग-भावना ही सामान्यतः 'अर्थ' कही जाती है। किन्तु, अर्थ को इस 'भावना' के रूप में स्वीकार करने के बाद भी बहुत कुछ ज्ञातव्य शेष रह जाता है। क्या इस प्रयोग-भावना का शब्द से कोई स्थिर सम्बन्ध है? यदि है, तो किस प्रकार का? और, यदि नहीं है तो इसे जानने का साधन क्या है? यदि प्रयोगभावना का ज्ञान शब्द के उच्चारण-मात्र से नहीं होता, तो उच्चारण समकाल होने वाला ज्ञान क्या कहलायेगा? इत्यादि, अनेक प्रश्न हैं जिनका उत्तर इस प्रसंग में देना आवश्यक है।

१५०. **शब्द प्रयोग-भावना का वाहक है** – सबसे पूर्व हमें इस प्रयोग भावना का शब्द से सम्बन्ध स्थिर करना है। इस सम्बन्ध को स्थिर करने से पूर्व हमें भर्तृहरि के उक्त कथन पर एक बार फिर दृष्टिपात करना होगा। इसके अनुसार प्रयोक्ता की प्राग्बुद्धि प्रयोग से पूर्व, एवं ग्रहीता का व्यवसाय प्रयोग के अनन्तर, दोनों ही शब्द की ओर अग्रसर होते हैं। उन दोनों का प्रतिरूपमात्र ही 'शब्द' नहीं है; बल्कि 'शब्द' वह माध्यम है, जिसके द्वारा **प्रयोक्ता की प्राग्बुद्धि** अपनी 'अभिव्यक्ति', एवं **ग्रहीता का व्यवसाय** उसके 'ग्रहण', में प्रवृत्त होता है। 'प्राग्बुद्धि' एक 'विषय' है, जिसके आधार पर हम अनुकूल शब्द का चयन करते हैं। वह 'शब्द' अपने द्वारा संकेतित प्रत्यय (पहचान) द्वारा ग्रहीता को प्रयोक्ता की 'प्राग्बुद्धि' तक पहुँचा देता है। ऐसा तभी सम्भव है, जब ग्रहीता भी शब्द के द्वारा उपलब्ध उन संकेतित प्रत्ययों को ग्रहण करने के लिए, तथा उनके माध्यम से प्रयोक्ता की प्राग्बुद्धि तक पहुँचने के लिए, उत्सुक हो उठता है। अतः स्पष्ट है कि न तो प्रयोक्ता की प्रयोगभावना को ही, और ना ही ग्रहीता की व्यवसाय बुद्धि को, शब्द से सीधे रूप में सम्बद्ध माना जा सकता है। प्रयोक्ता की प्राग्बुद्धि **साध्य** और **साधक** दोनों रूपों में कही जा सकती है, जब कि ग्रहीता का व्यवसाय **साधक** ही कहा जा सकता है। स्पष्ट है कि दोनों में से कोई भी

शब्द का पर्याय या स्थानीय नहीं कहा जा सकता। **दोनों के लिये ही 'शब्द साधन है: वाहन के रूप में है।**

१५१. **'स्फोट' प्रथम सोपान है** – प्रश्न उठता है कि 'शब्द' में कौन-सी चीज़ साधन है ? शब्द का आकार, अनित्य या असत्य कहा जा सकता है। उसे स्थिर या ग्राह्य वस्तु नहीं कहा जा सकता। वह अपनी सत्ता भी अपनी ऐन्द्रियक ध्वनियों के कारण नहीं रखता, अपितु किसी 'शब्द-भावना' के कारण ही उसकी सत्ता होती है। शब्द के साथ हम किसी-न-किसी वस्तु या भाव का सम्बन्ध कर लेते हैं। यह सम्बन्ध केवल बुद्धिस्थ ही होता है। शब्द की किसी ध्वनि या अंश से इसका सम्बन्ध नहीं होता। यह सम्बन्ध इतना सर्वमान्य हो चुका होता है कि शब्द के उच्चारण समकाल इसकी ही एकमात्र प्रतीति वक्ता व श्रोता के मन में होती है। इसका अर्थ यह नहीं कि प्रयोक्ता की प्राग्बुद्धि एवं ग्रहीता के व्यवसाय की 'सीमा' (ध्येय) भी, भाव या वस्तु का, यह चित्र ही बन जाता है। उच्चारण-समकाल होने वाली इस भावना को तृतीय अध्याय में हम 'स्फोट' कह आये हैं। वहीं पर हमने स्पष्ट किया है कि 'स्फोट', शब्द प्रयोग का वास्तविक अभिधेय और प्रतिपाद्य न होकर, एक प्रकार की तत्काल जागृत होने वाली क्षण-प्रतीति है। शब्द का आरम्भिक ग्रहण इसी 'स्फोट' के रूप में होता है। स्पष्ट है कि 'स्फोट' तक पहुँचने के लिए ग्रहीता के व्यवसाय की उतनी आवश्यकता नहीं। 'स्फोट' की अभिव्यक्तिमात्र ही प्रयोक्ता को भी अभिप्रेत नहीं है। 'स्फोट' स्वयं एक माध्यम है, जिसके द्वारा, अथवा जिससे उठी हुई, ध्वनियाँ 'प्रकाश्य' या 'आन्तर-अर्थ' तक ले जाने में समर्थ होती हैं। **आन्तर अर्थ या प्रकाश (स्व-रूप)** की उपलब्धि में, सापेक्ष दृष्टि से, कुछ काल-मात्रा व्यय हो सकती है। किन्तु, 'स्फोट' में कालमात्रा का प्रश्न ही नहीं उठता : **स्फोटस्याभिन्नकालस्य ध्वनिकालानुपातिनः** (वा० १.७५)। वह ध्वनिकाल का अनुपाती होकर भा उससे अभिन्न है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि प्रयोक्ता की भावना 'स्फोट' से अभिन्न नहीं है। और यह भी, कि शब्द से सम्बन्ध की दृष्टि से 'स्फोट' अधिक स्थूल है, उसकी बाह्य आकृति से सम्बद्ध 'बाह्यवस्तु' मात्र।[1] यह 'स्फोट' उस 'भावना' की उपलब्धि का प्रथम सोपान है, साधन है।

१५२. **भावना की प्रतीति ही उद्देश्य है** – हमने 'शब्द' को भी उस भावना की उपलब्धि का साधन और माध्यम कहा और 'स्फोट' को भी। अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि क्या ये दोनों एक हैं ? या, उनका परस्पर कोई अन्य सम्बन्ध है ? और, क्या 'स्फोट' ही तो 'अर्थ' नहीं है ? स्पष्ट है कि शब्द का उच्चारणकाल समाप्त होते ही उसका युगपत् ग्रहण जिस रूप में ग्रहीता के मन में होता है, उसे 'स्फोट'

१. वा० २. १३४.

कहा जाता है। उस 'स्फोट' में जो प्रतीति ग्रहीता के मानस को होती है, उसे ही वह शब्द से अभिन्न – स्वयं शब्दात्मक – प्रतीति ही मान बैठता है। उसके लिए **शब्द है ही वह प्रतीति**। वस्तुतः, वह प्रतीति भी शब्द न होकर, उस शब्द से सम्बद्ध भावना-मात्र है। क्योंकि यह सम्बन्ध अविच्छेद्य है, इसीलिए हम उसे 'शब्द' से अभिन्न मान बैठते हैं। **शब्द है 'वस्तु' और स्फोट है उसकी 'युगपत् प्रतीति'**।

१५३. **स्फोट और अर्थ में अन्तर** – स्फोट और अर्थ के पारस्परिक सम्बन्ध-विचार के प्रसंग में 'अर्थ' की भर्तृहरिकृत परिभाषा पर विचार कर लेना अभीष्ट होगा। वे कहते हैं :

> **यस्मिँस्तूच्चरिते शब्दे यदा योऽर्थः प्रतीयते।**
> **तमाहुरर्थं तस्यैव, नान्यदर्थस्य लक्षणम् ॥ वा० २.३३० ॥**

अर्थात्, 'शब्द के उच्चारण समकाल ही जो अर्थप्रतीति होती है, उसे ही शब्द का 'अर्थ' कहना चाहिए। 'अर्थ' के अन्य लक्षण व्यर्थ हैं।' यह लक्षण पतञ्जलि के 'शब्द' के लक्षण से एकदम मिलता-जुलता है : **'येनोच्चारितेनेह'** (महा० १.१.१)। इसका अर्थ हुआ कि 'स्फोट' और 'अर्थ' दोनों की उपलब्धि उच्चारण समकाल (ध्वनि-कालानुपातिनी) ही होती है। तब क्या दोनों एक हैं ? स्थूल रूप में ऐसा स्वीकार भी किया जा सकता है। परन्तु अधिक उचित तब होगा, जब हम यह कहें कि, 'स्फोटकाल में उपलब्ध भावना को ही 'अर्थ' कहते हैं।' वस्तुतः 'स्फोट' एक अवस्था अपिवा प्रक्रिया है, और 'अर्थ' एक उपलब्धि या प्रतीति। 'स्फोट' 'प्रतीति' को नहीं कहते, वह प्रतीति को देने वाला अवश्य है। 'अर्थ' उस प्रतीति को कहते हैं, जो कि स्फोटकाल में उपलब्ध होती है।

१५४. **शब्द और अर्थ : एक वस्तु के दो पार्श्व** – क्या शब्द और अर्थ भिन्न-भिन्न हैं या अभिन्न ? भर्तृहरि इन दोनों को अभिन्न स्वीकार करते हैं। दोनों एक ही वस्तु के दो 'धर्म' हैं, बुद्धि में ग्रहण होते ही जो 'एक' हो जाते हैं। जब तक ग्रहण नहीं हो जाता, तब तक वे दोनों पृथक् समझे जाते हैं। 'शब्द' उस धर्म को कह सकते हैं, जिसका उच्चारण से सम्बन्ध है। 'अर्थ' का सम्बन्ध 'ग्रहण' से है। यदि 'अर्थ' रूप में शब्द का ग्रहण नहीं हो सका, तो 'शब्द' को सार्थक भी नहीं कहा जा सकता। केवल सत्तामात्र से ही तो 'शब्द' की अर्थ-ग्राहिका उपयोगिता सिद्ध नहीं हो जाती।

> **एकस्यैवात्मनो भेदौ शब्दार्थावपृथक् स्थितौ ॥ वा० २.३१ ॥**
> **भेदेनावगृहीतौ द्वौ शब्दधर्मावपोद्धृतौ।**
> **भेदकार्येषु हेतुत्वमविरोधेन गच्छतः ॥ वा० १.५६ ॥**
> **न सत्तयैव तेऽर्थानामगृहीताः प्रकाशकाः ॥ वा० १.५७ ॥**

ग्रहण का यह व्यवधान ही है, जो **बुद्धिस्थ शब्द एवं उच्चरित शब्द** के भेद का कारण स्वीकार किया गया है। वे दोनों मूलतः एक हैं, किन्तु कुछ लोग उन्हें भी भिन्न-भिन्न स्वीकार करते हैं।[1] वक्ता मन में जिस 'अर्थ' को लेकर चलता है उसे 'निमित्त शब्द' कहना और कार्य रूप में उच्चरित शब्दों को 'निमित्ती शब्द' कहना, और इस प्रकार उन में भेद-दृष्टि रखना, उचित नहीं है।[2] श्रुति रूप में जो भी ध्वनियाँ सुनाई देती हैं, उनका 'शब्दत्व' उस प्रतीति में है, जिसे वक्ता देना चाहता है, तथा जो ग्रहीता के मन में श्रवण-समकाल ही उठती है।[3] कार्यकारण-सम्बन्ध यदि है ही, तो वह उभय पक्षों में है। शब्द भी अर्थ का कारण है और अर्थ भी शब्द का (वा० ३.३.३२)। अतः एक को 'निमित्त' एवं दूसरे को 'निमित्ती' नहीं कहा जा सकता। 'निमित्त शब्द' को प्रातिपदिक आदि, एवं 'निमित्ती' को सविभक्तिक पद आदि भी, नहीं कहा जा सकता; क्योंकि प्रातिपदिक भी अर्थवान् होता है। फिर भी, व्यावहारिक सुविधा के लिए इस प्रकार के भेद स्वीकार किए ही जाते हैं।

लोक की इस प्रवृत्ति का वैज्ञानिक विश्लेषण भी भर्तृहरि ने किया है। और, वे इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि प्रकाश (लाइट्) के समान शब्द में भी, 'ग्राह्यता और 'ग्राहकता' के रूप में, दो शक्तियाँ विद्यमान रहती हैं। ये ही दोनों शक्तियाँ 'अर्थ' और 'शब्द' के रूप में, दो पृथक् धर्मों को जन्म देने वाली कही जा सकती हैं।

ग्राह्यत्वं ग्राहकत्वं च द्वे शक्ती तेजसो यथा।
तथैव सर्वशब्दानामेते पृथगवस्थिते ॥ वा० १.५५ ॥

परन्तु शक्तियाँ द्रव्य के 'धर्म' होती हैं, उससे पृथक् उनकी सत्ता कल्पित नहीं की जा सकती। 'ज्ञेय' और 'ज्ञान' का जिस प्रकार परस्पर अविच्छेद्य सम्बन्ध है – एक के बिना दूसरा निरर्थक व निस्सार है – उसी प्रकार परस्पर 'अर्थ' और 'शब्द' का सम्बन्ध है।

'आत्मरूपं यथा ज्ञाने ज्ञेयरूपं च दृश्यते।
अर्थरूपं तथा शब्दे स्वरूपं च प्रकाशते ॥ वा० १.५० ॥

अतः भर्तृहरि की दृष्टि में वे एक ही वस्तु के दो पार्श्व हैं।

१५५. अर्थ का स्वरूप और ज्ञान से भेद – तब समस्या उठती है अर्थ के 'स्वरूप' की। 'अर्थ' का पर्यायवाची शब्द ढूंढने अथवा उसका वास्तविक रूप-निर्धारण करने से पहले हमें उसके सम्बध्ध में कुछ और ज्ञान प्राप्त कर लेना आवश्यक है। भर्तृहरि ने इस विषय में निम्न वक्तव्य दिया है :

ज्ञानं प्रयोक्तुर्बाह्योऽर्थः, स्वरूपं च प्रतीयते।
शब्दैरुच्चारितैस्तेषां सम्बन्धः समवस्थितः ॥ वा० ३.३.१ ॥

---

१. वा० १.४४. २. वा० १.४५. ३. वा० १.४६.

प्रतिपत्तिर्भवत्यर्थे, ज्ञाने वा संशयः क्वचित् ।
स्वरूपेषूपलब्धेषु व्यभिचारो न विद्यते ।। वा० ३.३.२ ।।

अर्थात्, **अर्थ, ज्ञान और स्वरूप** तीन भिन्न-भिन्न वस्तुएँ हैं। शब्द के साथ इन तीनों का ही सम्बन्ध है। किन्तु, इन तीनों में मौलिक अन्तर भी है। किसी शब्द के 'ग्रहण' का अर्थ यह भी हो सकता है कि ग्रहीता को प्रयोगगत अर्थ की उपलब्धि हो जाने पर भी तद्विषयक उसका ज्ञान संशयापन्न रहे। अर्थ और ज्ञान की समरूपता एवं अभिन्नता की प्राप्ति के लिए शब्द के 'स्वरूप' की उपलब्धि आवश्यक है। यदि शब्द का 'स्वरूप' उपलब्ध हो जाए, तब समस्त विरोध और संशय समाप्त हो जाते हैं। निश्चय ही **भर्तृहरि स्वरूप, अर्थ और ज्ञान को भिन्न-भिन्न स्वीकार करते हैं।** ऊपर कहे गए वक्तव्यों के अनुसार 'अर्थ' की प्रतीति शब्द के उच्चारण समकाल ही हो जाती है। 'ज्ञान', अर्थ से सम्बद्ध, वह भावना है जिसे 'प्रत्यय' या 'विनिश्चय' कहते हैं। न्याय-दर्शन ने ज्ञान के प्रत्यक्षादि चार उपाय माने हैं।[1] 'प्रत्यय' या 'प्रतीति' का सम्बन्ध मुख्यतः 'प्रत्यक्ष ज्ञान' से है। न्याय में प्रत्यक्ष की परिभाषा इस प्रकार की गई है : **इन्द्रियार्थसंनिकर्षोत्पन्नं ज्ञानं प्रत्यक्षम्** । किसी वस्तु की इन्द्रिय के सम्मुख या समीप उपस्थिति में जो उपलब्धि होती है, उसे ही 'प्रत्यक्ष ज्ञान' कहते हैं। 'गौ' के अर्थ और ज्ञान में अंतर यह है कि उस शब्द के सुनते ही अर्थभावना के कारण कारण हम उस शब्द का जिस पशु या द्रव्य विशेष से सम्बन्ध कर बैठते हैं, उसकी आकृति के ग्रहण के साथ-साथ ही हमें उसके विविध अङ्गों – अंशों – का भी ध्यान हो आता है। उन अंगों को पहचान लेना ही 'ज्ञान' है। यह **प्रत्यक्ष** द्वारा मुख्य रूप में होता है। किन्तु यही ज्ञान **अनुमान, प्रमाण और उपमान** के द्वारा भी हो सकता है। कह सकते हैं कि **'अर्थ' एक प्रतीति को जन्म देता है, और 'ज्ञान' उस प्रतीति के विविध लक्षणों का बोध कराता है।** 'अर्थ' की विस्तृत विवेचना ही 'ज्ञान' कही जा सकती है। अब, क्योंकि इन दोनों का बाह्य वस्तुओं (**शब्दरूप एवं द्रव्य**) से सम्बन्ध है, अतः वे दोनों ही इन्द्रियादि-जन्य होने से भ्रमावह भी हो सकते हैं।

यह अर्थ – और तद्विषयक ज्ञान – स्वयं ही 'बाह्य वस्तु' समझ लिया जाते हैं।[1] विभिन्न ग्रहीताओं में इसकी विविधतामय उपलब्धि इसकी भ्रमावहता को सिद्ध करने में पर्याप्त है। इंद्रिय से उत्पन्न ज्ञान भी भ्रमावह होता ही है।[2] आकारों का सम्बन्ध हमारी व्यक्त स्मृति से है, अन्तश्चेतना से नहीं।[3] स्मृतिभ्रम होने से, या ज्ञान की समग्र उपलब्धि के अभाव में, हम भ्रमपूर्ण परिणाम पर भी पहुँच सकते हैं।[4] परन्तु 'अर्थ' और 'ज्ञान' की द्विविधायुक्त दशा से ऊपर एक और भी दशा है, जिसे

---

१. सांख्य ने भी संज्ञान्तर से ये ही चार उपाय स्वीकार किए हैं।

१. वा० २.१३४. २. वा० २.१३६. ३. वा० २.१३५. ४. वा० २.१३७.

'स्वरूप' कहना चाहिए। 'स्वरूप' की एक ही शर्त है: उसकी प्राप्ति पर किसी प्रकार का संशय और सन्देह नहीं रहता।[1] निश्चय हीं 'स्वरूप' और 'अर्थ' को भर्तृहरि अलग-अलग स्वीकार करते हैं। किन्तु कुछ विद्वान् 'स्वरूप' का अर्थ 'शब्द' का 'बाह्य-रूप' या 'ध्वनिगत रूप' लेते हैं।[2] इस विषय में हमें भर्तृहरि के निम्न वक्तव्य का स्मरण दिलाना आवश्यक प्रतीत होता है :

शब्दस्वरूपमर्थस्तु पाठोऽन्यैरुपवर्ण्यते।

अत्यन्तभेदः सर्वेषां तत्सम्बन्धात्तु तद्वताम् ॥ वा० २.२६२ ॥

यहाँ वे शब्द के 'स्वरूप' के सम्बन्ध में दो भिन्न मतों का उल्लेख कर रहे हैं। 'पाठोऽन्यैरुपवर्ण्यते' कहते हुए निश्चय ही वे अपना मत व्यक्त नहीं कर रहे। ये दोनों मत उनकी दृष्टि में उचित नहीं हैं। फिर भी पहला मत – शब्द का स्वरूप अर्थ ही है – उन्हें अधिक मान्य प्रतीत होता है। इसी प्रसंग में हमें निम्न दो पंक्तियों की ओर भी ध्यान देना चाहिये और उनमें आये 'स्वार्थ' और 'स्वरूप' शब्दों की तुलनात्मक स्थिति पर विचार करना चाहिये :

अर्थमात्रं विपर्यस्तं शब्दः स्वार्थे व्यवस्थितः ॥ वा० २. २५७ ॥

अर्थमात्रं विपर्यस्तं स्वरूपे तु स्थितिः स्थिरा ॥ २. २५८ ॥

इनमें जहाँ 'अर्थ' की 'स्वार्थ' और 'स्वरूप' से भिन्नता बताई गई है, वहाँ 'स्वार्थ' और 'स्वरूप' की समान स्थिति भी स्वीकार की गई प्रतीत होती है। यह स्मर्तव्य है कि– **गौण और मुख्य** का सम्बन्ध सामान्यतः 'अर्थ' से समझा जाता है। परन्तु, वा० २.२५९ में उन्हें एक शब्द न मान कर 'शब्दयोः' द्वारा द्विवचनात्मक स्वीकार किया गया है, और उनकी स्वरूपात्मक एकता की बात कही गई है। इससे इतना तो स्पष्ट ही है कि 'स्वरूप' शब्द का बाह्यरूपमात्र नहीं है। उसे 'अर्थ' का पर्यायवाची भी नहीं कहा जा सकता। **उसमें अर्थ का अन्तर्भाव भी हो जाता है, ज्ञान भी उसका अंग बन जाता है किन्तु, फिर भी वह, 'कुछ और' के रूप में, बचा रहता है : क्योंकि, उसके प्राप्त होने पर सब प्रकार की संशयात्मक अथवा सम्भावनात्मक स्थितियां लुप्त हो जाती हैं। अतः स्वरूप उस स्थिति को कह सकते हैं, जो प्रतिपत्ति की अनित्य स्थिति है, जिसे बुद्ध्यर्थ या बुद्धिस्थ शब्द कहा जा सकता है, तथा जिसके प्राप्त होने पर ज्ञान और अर्थ पूर्णता को प्राप्त होते हैं : बुद्ध्यर्थादेव बुद्ध्यर्थे जाते तदपि दृश्यते।**

यह 'स्वरूप' ही, बुद्धिस्थ शब्द के रूप में, अनेकविध श्रुत शब्द-रूपों का कारण बनता है। 'अर्थ' को किसी समानार्थक शब्द के द्वारा भी अभिहित किया जा सकता है। किन्तु, इस 'स्वरूप' को किसी भी शब्द द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता। पाणिनि ने इसे इस रूप में कहा था : **स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा** (पा० १.१.६८)।

---

१. वा० ३.३.२.   २. डॉ० कपिलदेव द्विवेदी, 'अर्थ० व्याक०'।

१५६. **प्रत्यय के रूप में अर्थ** – 'अर्थ' शब्द में किस प्रकार से रहता है ?, यह स्वतन्त्र विचार का विषय है। इस पर हम बारहवें अध्याय में विमर्श करेंगे। यहाँ पर अर्थ की सत्ता के रूप पर विचार करना अधिक संगत रहेगा। शब्द में रहने वाला अर्थ निश्चय ही किसी अन्य शब्द द्वारा अभिहित नहीं किया जा सकता। फिर भी, लोक में यही प्रचलित है कि 'गौ' का अर्थ 'गाय' या 'धेनु' होता है। इसी प्रकार के समस्त उदाहरणों के एकत्र समवाय को 'शब्द-कोष' नाम दिया जाता है। प्रश्न यह है कि क्या कोषगत अर्थों को ही 'अर्थ' कहा जाय ? और, क्या 'गौ' कहते ही हमें 'धेनु' का स्मरण आता है (क्योंकि 'अर्थ' की प्रतीति उच्चारण समकाल होनी चाहिए) ? पतंजलि और भर्तृहरि इस विषय में एकमत हैं कि 'गौ' का अर्थ 'धेनु' नहीं है। 'गौ' का अर्थ वह प्रतीति है, जो सास्नालाङ्गूलादिचिन्हयुक्त द्रव्य के रूप में होती है। अब उसे हम, 'गौ' के रूप में पहचान कर भी, यदि उसी 'आकृति' के लिये प्रयुक्त होने वाले 'धेनु' या 'सुरभि' जैसे किसी अन्य शब्द से अभिहित करना चाहें, तो वह सुविधा का वाहक अवश्य हो सकता है; उसे 'अर्थ' नहीं कहा जा सकता। फिर भी हम ऐसा कहते हैं। ऐसा क्यों ? भर्तृहरि के पूर्वोक्त वचनों में इसक उत्तर आ चुका है : **क्योंकि दोनों शब्दों के द्वारा उपलब्ध होने वाला स्वार्थ या स्वरूप एक ही है।** उस 'स्वरूप' की एकता के कारण उसके वाचक सभी शब्द समानार्थक हो जाएँगे। लोक व्यवहार में उन्हें एक दूसरे का 'अर्थ' मान लिया जाता है। धातु या अन्य किसी अंश में समानता न होने पर भी, यह साम्य उन सब से होने वाली एक ही रूपात्मक प्रतीति में है। 'गौ' का अर्थ 'धेनु' नहीं कहा जा सकता। यह तब पता चलेगा, जब हम 'गौ' को 'सीधा-साधा', 'पृथिवी', या अन्य अर्थ में प्रयुक्त करेंगे (**वा०** २. २३५.)। इसलिए 'अर्थ' को किसी शब्द में बाँधना उचित प्रतीत नहीं होता (**वा०** २. २२४)। 'अर्थ' का यह शब्दगत रूप **अर्थाविभास है,अर्थ नहीं।** 'अर्थ' होता है 'प्रत्यय' (पहचान), जो द्रव्य या भाव के विविध लक्षणों पर आश्रित रहता है। अर्थ रूप में स्मरण किये जाने वाले विभिन्न शब्दों में वह पहचान (प्रत्यय : अर्थ) एक-सी रह सकती है। इसी लिए ऐसे शब्दों को हम एकार्थक या समानार्थक भी कह सकते हैं।[1]

---

१. **प्रो० जोसुहा व्हाद्माऊ के निम्न वक्तव्य 'लैंग्वेज'** (NAL) **में देखें** :—

(i) "Logically and linguistically, that is to say in semantic terms... etc." (page 71).

(ii) "Hence the dictionory meaning may be stated in the terms of definition—synonym or homonym, in terms of syntax, bnt not in terms of phonology (speech-sounds), except by distinguishing meaning as the same or not as the some." (page 69).

१५७. शब्द-रूप और अर्थ – इस विचारणा के बाद शब्द के बाह्य रूप का भी अर्थ के साथ सम्बन्ध-विचार कर लेना चाहिये । वर्ण, पद और वाक्य पर विचार करते हुए, चतुर्थ अध्याय में, यह कहा जा चुका है कि शब्द का बाह्यरूप जिन वर्णों से बनता है, उन्हें शब्द-निर्माण के समय सार्थक नहीं कहा जा सकता । यदि ऐसा सम्भव होता, तो एक-एक वर्ण अभिधेय का वहन करने वाला (अभिधायक) बन जाता :

आत्मभेदो न चेत्कश्चिद्वर्णेभ्यः पदवाक्ययोः।

अन्योऽन्यापेक्षया शक्त्या वर्णः स्यादभिधायकः ॥ वा० २.२१५ ॥

उच्चारण की दृष्टि से तो इन वर्णों का उपश्लेष ही सिद्ध नहीं होता । फिर उनके अर्थों का उपश्लेष कैसे सम्भव होगा (वा० २.२९) ?

अतः **'शब्द वर्णों से बनने वाले ध्वनि-संघात या वर्ण-समूह मात्र का नाम नहीं है । वह तो एक 'स्वरूप' है, जो उस, तथाकथित, वर्णात्मक शब्द रूप के पीछे छिपा है । उसे 'शब्द-तत्व' कह सकते हैं :**

यदन्तःशब्दतत्वं तु नादैरेकं प्रकाशितम् ।

तदाहुरपरे शब्दं तस्य वाक्ये तथैकता ॥ वा०२. ३० ॥

शब्द की एकता का विनिश्चय किसी ध्वनि समूह या प्रकृतिप्रत्ययादि के द्वारा नहीं होता वह तो **स्वरूप से सम्बद्ध** अन्तः-शब्द-तत्व के कारण होता है । शब्द का जितना भाग एक और युगपत् स्फोट को जन्म देने में समर्थ होता है, उसे ही 'शब्द' कहते हैं । 'नाद' और 'स्फोट' का सम्बन्ध व्यंजक और व्यंग्य का है (वा० १.९९) । 'स्फोट' की एकता ही नाद की सीमा का निर्धारण करती है । वही सीमा 'शब्द की है । यदि शब्द का आकृति-विनिश्चय 'स्फोट' की एकता के आधार पर होना है, तब **धातु, प्रातिपदिक एवं प्रत्यय**[1] को, पाणिनि द्वारा, अर्थवान् कहा जाना तथा, इन्हीं आधारों पर, शब्दों का प्रकृति-प्रत्ययादि के रूप में विभाजन करना अनर्थक ठहरता है । सत्य तो यह है कि भर्तृहरि प्रत्यय-प्रकृति के विभाग को मानते ही कल्पित हैं । कम से कम अर्थ-विनिश्चय में इस प्रकार की कल्पना की एक सीमा तक ही उपयोगिता कही जा सकती है । वस्तुतः तथाकथित प्रकृति-प्रत्यय-संयोग से बनने वाला 'पद', स्वतन्त्र न हो कर, संहिताश्रित होता है : वह स्वयं किसी शरीर का 'अंग' होता है (वा० २.५९)।

अतः धातु, प्रातिपदिक और प्रत्यय के अर्थों को विभक्त करके, उनके आधार पर, शब्द के अर्थ को विनिश्चित करने का प्रयास सर्वथा भ्रामक ही ठहरेगा । वर्ण, धातु, प्रातिपादिक और प्रत्यय आदि के अर्थ शास्त्रीय दृष्टि से भले ही सम्भाव्य एवं उचित हों, लौकिक उपयोगिता की दृष्टि से वे सर्वथा महत्वहीन ही हैं (वा० २. २१२) । अतः 'शब्दार्थ' जैसी किसी वस्तु को धात्वर्थ या प्रातिपदिकार्थ से सम्बद्ध

१. **'अर्थवदधातु० ॥ पा० १.२.४५ ॥**

कर बैठना, वस्तुतः एक भ्रम का सृजन करना ही है। फिर भी जन-प्रवृत्ति ऐसी है। भर्तृहरि इस जन-प्रवृत्ति का एक विशेष कारण मानते हैं। वस्तुतः इसी युक्ति के कारण शास्त्र में धातु या प्रातिपदिक आदि की कल्पना की गई है। इस कारण को हम 'अन्वयव्यतिरेक बुद्धि' कह सकते हैं (वा० २.१२, २११)। शब्द के वैविध्य-पूर्ण प्रयोग एवं पदान्तरों में पद-सरूप-भागों की उपस्थिति को देखकर समान रूप से उपलब्ध होने वाले भागों को, प्रातिपदिक, धातु, प्रत्यय आदि के रूप में, विविध संज्ञाएँ दी जाती हैं (वा० २.११)। सत्य यह है कि प्रकृति-प्रत्ययादि विभाग ही असत्य है। फिर, उस आधार पर 'शब्दार्थ' या शाब्दिक अर्थ' का निर्धारण सर्वथा भ्रामक होगा:

> **शब्दस्य न विभागोऽस्ति कुतोऽर्थस्य भविष्यति।**
> **विभागैः प्रक्रियाभेदमविद्वान्प्रतिपद्यते ॥ वा० २.१३. ॥**

'अर्थ' का ऐसा विभाग करना अपनी मूर्खता का प्रदर्शन करना है। इसके विपरीत, अर्थ का विनिश्चय कुछ ऐसे तत्वों पर आधारित रहता है, जिन्हें हम उच्चरित शब्द का अंश नहीं मान सकते। प्रकरण, वाक्य, देशकाल, संसर्ग, विप्रयोग आदि ऐसे ही आधार हैं (वा०३१६-३१८)। फिर, 'धातु' आदि के अर्थ को क्या कहा जाय ? उसे हम 'मूल अर्थ-भावना' कह सकते हैं। अंग्रेज़ी का 'रूट्' शब्द इसी ओर संकेत करता है। 'धातु' और 'रूट्' शब्दों का एकमात्र संकेत 'आधारभूत' या 'मूलगत' अर्थ से है। अतः इस प्रकार के शब्द-भागों को हम जहाँ भी पाते हैं, वहीं उनके अर्थभागों को भी आधार बनाना चाहते हैं। परन्तु, ऐसे प्रयत्न में हम निश्चय ही सदा सफल नहीं हो पाते (वा० २.२१२)।

१५८. **अर्थ एक उपयाच्ञा है** – अर्थ के स्वरूप-विनिश्चय में अधिक उचित होगा, यदि हम स्वयं 'अर्थ' शब्द की मूल-भावना पर भी विचार कर लें। धातु-पाठ में विविध 'पद-सरूपों' (धातुओं) को एकत्र किया गया है। उनके अर्थ करते हुए धातु-वृत्तिकार ने शब्दों की मूल प्रायोगिक भावना तक पहुँचने का यत्न किया है। उसने धातुओं के 'अर्थ' को भी गिना है। इसे उन्होंने 'चुरादिगण' के अन्तर्गत माना है। चुरादिगण की धातुएँ 'द्व्यच्' हैं। 'संग्राम' जैसी 'त्र्यच्' धातुएँ भी इसी के अन्तर्गत आती हैं। इस वर्ग में गृहीत सभी धातुएँ पूर्व के वर्गों की धातुओं के समान **शुद्ध धातुएँ** नहीं हैं। अधिकांश धातुएँ स्वतन्त्र प्रातिपदिक हैं, जिन्हें धातु-रूप में परिणत कर लिया गया है। 'अर्थ' धातु भी उन प्रातिपदिकों में से एक है। स्वभावतः पाणिनि इसकी मूल धातु खोजने में असमर्थ रहे हैं। फिर भी, उन्होंने इस की मूल भावना खोज निकाली है। धातु पाठ में इसका अर्थ 'उपयाच्ञायाम्' दिया गया है। अर्थात्, 'अर्थ' धातु का प्रयोग **माँगना या माँगने की प्रवृत्ति दिखाना** के अर्थ में होता है। इसी से 'प्रार्थना' आदि शब्दों का निर्माण होता है। कह सकते हैं कि 'अर्थ' का मूल अर्थ

'उपयाच्ञा' रहा होगा। यह अर्थ हमें एक सत्य को समझने में मदद देगा। वस्तुतः, इस 'अर्थ' के कारण ही प्रयोक्ता और ग्रहीता दोनों ही के लिए 'शब्द' माध्यम बनता है। अर्थात्, दोनों की शब्द तक 'पहुँच' इसी अर्थ के द्वारा होती है। प्रयोक्ता और ग्रहीता 'शब्द' से कुछ 'याच्ञा' की दृष्टि से उस तक पहुँचते हैं। यह 'याच्ञा' है 'प्रयोगभावना' की; इस हेतु कि 'शब्द' वहन करने और प्रतिपादन करने में समर्थ हो सके। **अतः 'अर्थ' का मौलिक अर्थ है 'मांग' या 'उपस्तुति'।** यह 'माँग' वक्ता और श्रोता के लिए एक-सा महत्व रखती है। यह बात इसी अध्याय के आरम्भिक चित्रों से स्पष्ट हो जाएगी।

१५६. अर्थ-व्यक्ति के दो चरण – अर्थ के स्वरूप-विनिश्चय के साथ ही 'अर्थ-व्यक्ति' पर विचार कर लेना भी आवश्यक है। अर्थ हमारे सम्मुख किस प्रकार अभिव्यक्त होता है, तथा उससे आगत चित्र हमारे सामने किस क्रम से तथा क्या-क्या परिवर्तन लेकर आता है? – यह सब विचार इसी विषय के अन्तर्गत आता है। 'ग्रहण' की चार अवस्थाएँ तृतीय अध्याय में कही जा चुकी हैं। **इन चारों अवस्थाओं में क्रमशः नाद में 'श्रुति', स्फोट में 'अर्थ', ध्वनि में 'ज्ञान', एवं बुद्धर्थ में 'स्वरूप' की उपलब्धि होती है।** 'श्रुति' का सम्बन्ध 'अर्थ' से नहीं है; यद्यपि 'ग्रहण' की प्रक्रिया में वह भी एक अनिवार्य अंग है। 'अर्थ', 'ज्ञान' और 'स्वरूप' की क्रमिक अवस्थाओं की विस्तृत चर्चा इसी अध्याय में अन्यत्र की जा चुकी है। 'स्वरूप' में हमें किसी भी शब्द द्वारा प्राप्य जिन विस्तृत सूचनाओं की उपलब्धि होती है, उससे उस शब्द का 'व्यक्तिरूप' ही सामने आता है। 'ज्ञान' में प्राप्त सूचनाएँ इस व्यक्तिरूप को स्पष्ट करने में सहायता करती हैं। किन्तु, 'अर्थ' की उपलब्धि 'स्फोट' के क्षण में होने के कारण उसमें जिस समग्र चित्र की उपलब्धि श्रोता या ग्रहीता को होती है, उसमें इन विस्तारों के ज्ञान व उपलब्धि का अवकाश ही नहीं होता। उस चित्र में व्यक्ति-सूचक 'विस्तारों' की अपेक्षा जाति-सूचक 'समग्रता' ही प्रधान रहती है। अर्थात्, **शब्द का प्रथम ग्रहण जातिरूप में होता है, व्यक्तिरूप में नहीं :**

> **स्वा जातिः प्रथमं शब्दैः सर्वैरेवाभिधीयते।**
> **ततोऽर्थजातिरूपेषु तदध्यारोपकल्पना ॥** वा० ३.१.६॥

यह बात किसी **व्यक्तिवाचक संज्ञा** के विषय में भी उतनी ही सत्य है, जितनी **जाति-वाचक संज्ञा** के विषय में। 'राम इधर आ रहा है' – ऐसा सुनते ही जो चित्र हमारे सामने आता है, उसमें दो सत्य अवधेय हैं। 'एक आदमी हमारी ओर चला आ रहा है' ऐसा हम जान लेते हैं, किन्तु उस आदमी या उसकी चाल की विशिष्ट एवं पृथक् सत्ता से हम अवगत नहीं हो पाते। दूसरे शब्दों में, **एक ओर,** हमें किसी **मनुष्य-विशेष** के हमारी ओर आने का आभास न होकर **मनुष्य-सामान्य** के आने का आभास

होता है। इसके बाद हम 'राम' के उन विशिष्ट गुणों से परिचित होने लगते हैं, जो उसे मनुष्य सामान्य से व्यतिरिक्त सिद्ध करते हैं। यह अवस्था 'व्यक्ति-वाचक-संज्ञा' के जातिरूप से व्यक्तिरूप के प्रगट होने की दशा में होती है। **दूसरी ओर**, जो चित्र हमें अपनी ओर आते मनुष्य का दिखाई दिया था, उसमें हम प्रथम दृष्टि में ही **मनुष्य** (संज्ञा) एवं **चलना** (क्रिया) आदि का भेद स्पष्ट नहीं कर सकते। पहला चित्र (स्फोट) तो चलने हुए या आते हुए मनुष्य का ही होता है : **एक और समग्र**। बाद में 'आना' और 'राम' शब्द क्रमशः किसी **क्रिया-विशेष** (व्यक्ति) तथा **व्यक्ति-विशेष** (व्यक्ति) की सूचना देते हैं। **इस प्रकार, जहाँ शब्द पहले-पहल अपने जाति-रूप का आभास, स्फोट रूप में, देकर बाद में व्यक्ति रूप का आभास देते हैं, वहाँ अर्थ (वाक्यार्थ) भी पहले अपने समग्र अथवा जाति रूप का आभास देकर बाद में व्यक्ति-रूप या शब्दों द्वारा कथित विशिष्ट रूपों का आभास देते हैं**। यह बात संज्ञा, क्रिया अदि सभी शब्द-रूपों पर समान रूप से लागू होती है। 'चलना', 'यज्ञ करना' आदि क्रियाएं शब्द में पहले अपने **सामान्य** क्रियारूप, एवं बाद में अपने **विशिष्ट** क्रिया-रूप, को अभिहित करती हैं। अर्थ-क्षेत्र में भी पहले उनमें से सभी सहक्रियाओं का कर्त्ता–व्यक्ति – के रूप से समन्वित अर्थ सामने आता है, बाद में विशिष्ट क्रिया का रूप सामने आता है। यह बात दूसरी है कि विशिष्ट क्रिया का व्यक्तिरूप भी 'जाति' में ही ग्रहीत होता है, क्योंकि उसमें अन्य अनेक क्रियाओं से समवेत चित्र सामने आता है। वस्तुतः किसी भी वस्तु का 'व्यक्तिरूप' आश्रित ही उसके 'जाति-रूप' पर होता है :

> **न तदुत्पद्यते किंचित् यस्य जातिर्न विद्यते ।**
> **आत्माभिव्यक्तये जातिः कारणानां प्रयोजिका ॥ वा० ३.१.२५ ॥**
> **निवर्त्यमानं यत्कर्म जातिस्तत्रापि कारणम् ।**
> **स्वाश्रयस्याभिनिष्पत्तौ सा क्रियाणां प्रयोजिका ॥ वा० ३.१.२७ ॥**

अतः, अर्थ-व्यक्ति का प्रथम चरण जाति रूप ही होता है। बाद में चल कर ही वह 'व्यक्ति या विशिष्ट रूप' को सामने लाता है।

१६०. **अनेकार्थक शब्द** – अर्थ के स्वरूप और अर्थ की अभिव्यक्ति को समझने के बाद एक शंका और उपस्थित होती है : क्या एक शब्द में अनेक अर्थ रह सकते हैं ? यदि 'स्फोट' में उपलब्ध अर्थ के रूप में ही शब्द रहता है, तो एक शब्द में अनेकार्थों की उपस्थिति सर्वथा असम्भाव्य होगी। क्योंकि 'स्फोट' किसी एक 'अर्थ' की ही उपलब्धि, एक समय में, करा सकेगा, अधिक की नहीं। जहाँ तक 'स्फोट' का सम्बन्ध है, यह बात सर्वथा सत्य है कि उसमें एक ही 'अर्थ' का बोध, एक क्षण में हो सकता है। इस सत्य को मानने पर यह प्रश्न उठता है कि, जब एक शब्द में एक ही अर्थ

रह सकता है, तब क्या अनेकार्थक शब्दों की सत्ता के स्थान पर एक ही आकार के विविध भिन्नार्थक शब्दों की स्थिति मानना उचित नहीं रहेगा ? भर्तृहरि से पूर्व भी इस समस्या पर विचार हुआ था और अनेक आचार्यों ने ऐसे शब्दों में 'अनेकत्व' की स्थिति स्वीकार की थी। भर्तृहरि इस विषय में जिस मत को प्रधानता देते हैं, उसके अनुसार **ऐसे विविध अर्थों को धारण करके भी शब्द एक रह सकता है :**

एकमाहुरनेकार्थं शब्दमन्ये परीक्षकाः।
निमित्तभेदादेकस्य सार्वार्थ्यं तस्य भिद्यते ॥ वा० २. २५२ ॥

स्फोट का एकत्व और अर्थों की अनेकता को परस्पर विरोधी सत्य कहा जा सकता है। इस स्थिति-विरोध को ही भर्तृहरि स्पष्ट करते हैं, 'निमित्तभेदात्' कह-कर। अर्थात्, विभिन्न अर्थों की स्पष्टता में विभिन्न निमित्त कार्य करते हैं। यह ठीक है कि एक शब्द से एक समय में एक ही 'स्फोट' – और तद्भूत 'अर्थ' – सामने आएगा, किन्तु वाक्य, प्रकरणादि अनेक निमित्तों के कारण उससे ही विविध स्थानों पर विभिन्न अर्थों की उपलब्धि, उसी प्रकार, 'स्फोट' रूप में होती है। अनेकार्थों की यह उपलब्धि युगपत् न होकर यथाप्रयोग (पर्याय से) होती है :

यौगपद्यमतिक्रम्य पर्याये व्यवतिष्ठते।
अर्थप्रकरणाभ्यां वा योगाच्छब्दान्तरेण वा ॥ वा० २. २५३ ॥

इस प्रकार 'गौ' (बैल) शब्द के दोनों ही अर्थ होते हैं : बैल भी और 'मूर्ख' भी। एकका प्रयोग एक स्थान पर होता है, दूसरे का अन्यत्र :

यथा सास्नादिमान् पिण्डो गोशब्देनाऽभिधीयते।
तथा स एव गो शब्दो वाहीकेऽपि व्यवस्थितः ॥ वा० २.२५४ ॥

तथा जिस प्रकार एक ही मन्त्र **अध्यात्म, अधिदेव,** और **अधियज्ञ** की भावना से, उन सब स्थितियों में, विभिन्न अर्थ प्रदान करता है, उसी प्रकार 'गो' आदि शब्दों की बात सम्भव है। इन अर्थों के आपसी उलझाव का प्रश्न ही नहीं उठता :

एको मन्त्रस्तथाध्यात्ममधिदैवमधिक्रतु।
असंकरेण सर्वार्थो भिन्नशक्तिर्व्यवस्थितः ॥ वा० २.२५६ ॥
गोत्वानुषङ्गो वाहीके निमित्तात्कैश्चिदिष्यते।
अर्थमात्रं विपर्यस्तं शब्दः स्वार्थे व्यवस्थितः ॥ वा०२.२५७ ॥

'बैल' हो या 'वाहीक', उन दोनों के मूल – 'गौः' – का जो 'स्वरूप' या 'स्वार्थ' है वह एक है। यदि 'स्वरूप' या मूल-भावना की ऐसी एकता नहीं है, तब उन्हें एक शब्द के विविध या अनेक अर्थ नहीं कहा जा सकता। 'स्वरूप' की यह एकता सर्वत्र स्थिर रहनी चाहिए :

तथा स्वरूपं शब्दानां सर्वार्थेष्वनुषज्यते।
अर्थमात्रं विपर्यस्तं स्वरूपे तु स्थितिः स्थिरा ॥ वा० २. २५८ ॥

उन अर्थों में से हम किसी को गौण कहे या किसी को मुख्य, उनका मूल 'स्वरूप' एक ही होना चाहिये। अन्यथा वे एक शब्द के विविध अर्थ नहीं कहे जाएँगे।

१६१. **लोक प्रसिद्धि : सबसे बड़ा कारण** – एक शब्द में अनेकार्थों की इस उपस्थिति को स्वीकार करते हुए भर्तृहरि ने जहाँ एक ओर 'स्वरूप की एकता' की वैज्ञानिक शर्त लगा दी है, वहाँ इनकी सहस्थिति का सही एवं वैज्ञानिक उत्तर भी वही देते हैं। कहा जा चुका है कि भर्तृहरि की दृष्टि में शब्दों के अर्थ-विनिश्चय में धात्वर्थ आदि का तनिक भी योग नहीं रहता। 'धातु' की कल्पना का महत्व यदि कुछ भी है, तो 'मूल्यार्थ की स्वीकृति' के रूप में ही। शब्द में किसी अर्थ का योग क्यों हो जाता है ? – इस प्रश्न का एक ही उत्तर उनके पास है : **लोक-प्रसिद्ध के कारण।**

न ताँल्लोकप्रसिद्धत्वात् कश्चित्तर्केण बाधते ।। वा० १. ३१ ।।

यह लोक-प्रसिद्धि ही उनकी 'गौणता' या 'मुख्यता' का भी कारण बन जाती है।

अनेकार्थत्वमेकस्य यैः शब्दस्यानुगम्यते।
सिद्ध्यसिद्धि कृता तेषां गौणमुख्यप्रकल्पना ।। वा० २. २६५ ।।

यह लोक-प्रसिद्ध भी स्वतः कुछ कारणों पर आधारित रहती है। इन कारणों में **प्रतिभा, प्रयोग, अभ्यास** और **विनियोग** आदि को गृहीत किया जा सकता है। इनकी चर्चा हमें यहाँ अभीष्ट नहीं है। हमें यहाँ इतना कथन ही अभीष्ट है कि **लोक-प्रसिद्धि के कारण ही एक शब्द अनेक अर्थों से सम्बन्ध कर बैठता है। समय-समय पर उन सभी अर्थों में उस शब्द का प्रयोग होता रहता है। किन्तु वाक्य, प्रकरणादि के कारण अभीष्ट अर्थ का ही ग्रहण होता है, अन्यों का नहीं। अतः 'लोक-व्यवहार' ही भाषा का – शब्दार्थ-प्रक्रिया का – वास्तविक नियामक है।**

अर्थ-भेद

१६२. **अन्तर्विरोध** – अर्थ नित्य और एक होते हुए भी अनेक वर्ग-भेदों में बंटा हुआ दीखता है। 'शब्द-शक्तियों' की व्याख्या करने वाले आचार्य **वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ** और **व्यंग्यार्थ** को भिन्न-भिन्न मानते हैं। उनकी दृष्टि में ये अर्थ एक ही शब्द में रह सकते हैं। इसके साथ ही ध्वनिवादी 'ध्वनि' की सत्ता को भी 'शब्द' में स्वीकार करते हैं। शब्द का एक गुण 'ध्वनन' माना गया है। यह विरोध क्यों ?

यहाँ यह बात अधिक विचारणीय हो उठती है कि भर्तृहरि ने 'अर्थ' को अनेक स्थानों पर अनेक नामों से स्मरण किया है। क्या उन नामों को हम 'अर्थ' के विविध भेद स्वीकार करें ? यदि ऐसा है, तो अर्थ को **'एकः', 'नित्यः', 'सदसदात्मकः'** कहने वाले भर्तृहरि क्या स्वतः एक अन्तर्विरोध का परिचय नहीं दे रहे ?

१६३. **अर्थ की भिन्नता फिर भी नहीं** – इस विषय के विचार में बढ़ने से पहले हमें एक बात समझ लेनी चाहिए कि भर्तृहरि के माने हुए इन 'अर्थ-भेदों' और, शब्द-शक्तियों के आधार पर माने गये, लक्ष्यार्थ आदि शब्दार्थ-भेदों में एक अन्तर है। शब्द में अर्थ एक मात्र भावना के ही रूप में रहता है। किन्तु, वाक्य में शब्द का वही अर्थ सदा 'मुख्य' नहीं रहता। कभी-कभी तो वह शब्द उच्चरित होकर भी सर्वथा तथा-कथित स्व-अर्थ को घोषित करने के लिए प्रयुक्त नहीं किया जाता। इतने पर भी, उसका 'शब्दार्थ' वही गिना जाता है।। इसलिए भर्तृहरि यहाँ जिन अर्थों की चर्चा करते हैं, वे किसी 'अर्थ' के **भेद** नहीं हैं, अपितु विविध **मार्ग** हैं, जिनसे शब्द का 'स्व-अर्थ' या 'स्व-रूप' ही किसी-न-किसी रूप में व्यक्त हो पाता है। और, यह 'व्यक्ति' क्योंकि प्रयोग-गत या व्यवहार-गत होती है, अतः इन अर्थों को, वाक्य-गत अर्थ के, **स्व-रूप-भेद** ही कह सकते हैं। वाक्य में अर्थ की अभिव्यक्ति के 'स्वरूप' को ही विविध स्थानों पर विविध नामों से कहा है। अन्ततः, शब्द का अर्थ एक और अभिन्न है। अर्थ जहाँ तथाकथित धात्वर्थ आदि से प्रतीत नहीं होता, वहाँ वह प्रकरणादि का आश्रय लेकर प्रकट हो जाता है। इससे अर्थ की 'भिन्नता' सिद्ध नहीं हो जाती। ये रूप तो प्रायोगिक सुविधामात्र के लिये हैं।

१६४. **तथाकथित भेद** – अर्थ के इन विविध रूपों को शब्दार्थ, वाच्यार्थ (अवाच्यार्थ), मुख्यार्थ, अभिधेय, प्रतिपाद्य, गौणार्थ, चरितार्थ, उपसर्जनीभूत अर्थ, लक्ष्यार्थ, व्यंग्यार्थ, गम्यार्थ, प्रक्रान्तार्थ, परार्थ और बुद्ध्यर्थ आदि नामों से स्मरण किया गया है।यदि

ये सभी प्रकार 'शब्द के अर्थ' के विविध भेद स्वीकार किए जाएँ, और इस प्रकार भिन्न-भिन्न अर्थों की कल्पना की जाय, तो एक ही शब्द के अर्थों में खण्डता, विविधता और अनन्तता आ जायेगी, जोकि भर्तृहरि को अभीष्ट नहीं है। परन्तु, भर्तृहरि ने इन सभी नामों का प्रयोग खुल कर किया है, क्योंकि ये नाम एक ही अर्थ की प्रतीति, कभी एक रूप में और कभी दूसरे रूप में, दिया करते हैं। अन्यथा, एक शब्द के अनेक 'रूढ़' या 'ज्ञात' अर्थों में से कौन-सा अर्थ अभीष्ट है, हम न जान पाते। आगे हम इन्हीं का विवेचन क्रमशः करेंगे।

१६५. **शब्दार्थ** – इस विषय की विवेचना हम पहले कर आए हैं। शब्द के अर्थ को 'शब्दार्थ' कहते हैं। यह अर्थ 'एक' भी हो सकता है, 'अनेक' भी। यहाँ एकता-अनेकता का अभिप्राय 'स्व-रूप' की एकता-अनेकता से नहीं है, अपितु 'बाह्याकार-भावना' की एकता-अनेकता से है। 'अर्थ' तो है ही एक, परन्तु उस 'अर्थ' के रूप में जो अनेक बाह्य-आकृति-भावनाएँ रहती हैं, उन्हें ही हम सामान्यतः शब्द का 'अर्थ' या 'शब्दार्थ' कह देते हैं (वा० २. १३४, ३३०)। वास्तव में शब्दार्थ की यह अनेकता लोक-प्रयोग में अमान्य होने पर 'शब्दार्थ' की भावना से भी हीन मान लिये जाते हैं। मूलतः 'शब्दार्थ' शब्द द्वारा संकेतित अर्थ है। यह संकेत लोक-प्रयोग और लोक-रूढ़ि पर ही आधारित होता है। 'गौ' से भिन्न-भिन्न समयों व भिन्न-भिन्न प्रदेशों में जितने भी अर्थ, हमारे ज्ञान के अनुसार, लिए गए, उन्हें हम शब्दार्थ मान लेते हैं। परन्तु, हो सकता है, इनमें से बहुतों का आजकल प्रयोग न हो। अतः बहुत से विद्वान् यदि उन्हें 'शब्दार्थ' ही न मानें, तो आश्चर्य नहीं। शब्द के अपने भीतर (धातु या प्रत्ययादि के रूप में) कुछ ऐसा नहीं छिपा हुआ होता कि हम शब्द को निश्चित अर्थ में 'स्थिर' कह सकें। यदि ऐसा होता तो 'गौ' का अर्थ 'चलने वाला' ही होता, 'ताँत' आदि अर्थों का सम्बन्ध तो उससे दूर का भी सिद्ध न होता।

और, लोक प्रतीति आधारित होती है हमारी प्रत्यक्ष-अनुभूति पर। प्रत्यक्ष अनुभूति युग, देश और काल के अनुसार बदलती रहती है। 'गाय' कहीं पर 'जंगली गाय' बन जाती है, कहीं 'चमरी गाय', तो कहीं 'बांझ' या दुधारू-गाय। फिर भी वह 'गाय' है ही। 'हरिण' के विविध भेदों आकृति और आयाम में भी कितना अन्तर है। फिर भी वे, 'बारहसिंगा', 'जंगली', आदि कहे जाकर भी, 'हरिण' ही कहलाते हैं। किसी समय मृग, हरिण, एण, कुरंग आदि शब्द उसकी विविध-देश-गत जातियों की सूचनाएं समझे जाते होंगे, आज उनका 'शब्दार्थ' एक ही माना जाता है। इस प्रकार 'शब्दार्थ' का निर्णय लोक-भावना और लोक-प्रयोग पर निर्भर करता है, और उसका सम्बन्ध संकेतित वस्तु के बाह्याकारों या बाह्यवस्तु से होता है।

१६६. **वाच्यार्थ-अवाच्यार्थ** – सामान्यतः वाच्यार्थ का अभिप्राय शब्द के एक

विशिष्ट अर्थ से समझा जाता है। शब्द की एक शक्ति मानी गई है – **अभिधा**। उसके द्वारा जिस अर्थ का संकेत होता है, उसे 'वाच्य' कहते हैं। दूसरे शब्दों में, शब्द के शब्दार्थ या रूढ़ि द्वारा विनिश्चित अर्थ को जब 'वाक्' या 'भाषा' में उसी रूप में प्रयुक्त होता हम पाते हैं, उसे 'वाच्यार्थ' कहते हैं। 'वाच्य' का अर्थ ही है 'कहा जाने वाला'। पर इसका अधिक उचित अर्थ होगा 'उच्चारण समकाल प्रतीत होने वाला अर्थ' : **यस्मिंस्तूच्चरिते** (वा० २.३३०)। परन्तु, यहाँ यह स्मर्त्तव्य है कि शब्द के उच्चरित होते ही प्रतीत होने वाले अर्थ की महत्ता और सत्ता केवल स्वतन्त्रावस्था या वाक् में अप्रयुक्त अवस्था में ही रहती है। वाक्-प्रयुक्त अवस्था में तो वह 'कुछ और' अर्थ को भी वहन करने लगता है, और कई बार 'कुछ और ही' हो जाता है। 'गौ' कहते ही हमारे सामने जिस पशु का चित्र आता है, उसके सभी विशिष्ट लक्षण व गुण हमारे नयनों व चिन्तन में समा जाते हैं। उस समय हमारा सम्पूर्ण चिन्तन केवल 'गौ' शब्द द्वारा संकेतित 'अर्थ' या 'तद्गत लक्षणों' पर ही केन्द्रित होता है, इसीलिए उस एक शब्द द्वारा आने वाली सम्पूर्ण भावनाएँ हम पूरे रूप में ग्रहण करने में समर्थ होते हैं। किन्तु 'गौ चर रही है' – कहते ही हमारे सामने जो चित्र आता है, उसमें स्वभावतः हमारा सम्पूर्ण ध्यान केवल 'गौ' शब्द पर केन्द्रित नहीं रह पाता। हमारे ध्यान में जो कुछ आता है, 'गौ' उसका एक 'अंश' मात्र होती है। 'भोजन' कहते ही हमारे सामने जो विस्तृत और सम्पूर्ण चित्र आता है, 'राम भोजन कर रहा है' कहने पर 'भोजन' का चित्र उतना पूर्ण और समग्र नहीं आ पाता। बाद के चित्र में भोजन एक अंश-मात्र होता है। इस भेद का कारण यह है कि पहले में केवल 'गौ' या 'भोजन' द्वारा संकेतित अर्थ ही 'अभिधेय' या 'वाच्य' था, बाद में पूरे वाक्यों द्वारा अभिव्यक्त अर्थ 'अभिधेय' हो गया। इस रूप में, यदि देखा जाय, 'अभिधेय' या 'वाच्य' शब्द की अपनी सत्ता या स्वतन्त्रता पर आधारित नहीं है, अपितु उसकी प्रायोगिक स्थिति पर निर्भर है।

(अ) अवाच्य क्या है – इस प्रकार यह तो स्पष्ट है कि 'वाच्यार्थ' के अतिरिक्त 'लक्ष्यार्थ' और 'व्यंग्यार्थ' की कोई पृथक्-सत्ता स्वीकार नहीं की जा सकती। यहाँ यह और स्पष्ट कर देना अभीष्ट होगा कि भर्तृहरि जब 'वाच्यार्थ' कहते हैं, तो उनका अभिप्राय होता है 'वक्तव्य-वस्तु या अर्थ' से। 'वक्तव्य-वस्तु' वहाँ 'मुख्य' बन कर आई है या 'गौण', यह निर्णय प्रायोगिकता से अवश्य हो सकता है। किन्तु 'मुख्य और गौण' – दोनों ही – 'वाच्यार्थ' की अपनी सीमा में अन्तर्हित हो जाते हैं। जो कुछ भी वक्ता कहना चाह रहा है, चाहे वह तथाकथित वाच्य हो, अथवा लक्ष्य या व्यंग्य, उस सब को केवल 'वाच्य' ही कहा जा सकता है। उसके अतिरिक्त जितना भी है, उसे 'अवाच्य' ही कहेंगे। एक जगह का अवाच्य दूसरे प्रयोग में 'वाच्य' हो सकता है। इसी प्रकार इससे विपरीत भी सम्भव है।

अवाच्यमिति यद् वाच्यं तदवाच्यतया यदा ।

वाच्यमित्यवसीयेत वाच्यमेव तदा भवेत् ।। वा० ३.३.२० ।।

१६७. **मुख्यार्थ : गौणार्थ** — ऊपर 'वाच्यार्थ' के दो रूपों की प्रसंगात् चर्चा हुई है : **मुख्य और गौण** । यहाँ इन पर विहंगम दृष्टि डालना उचित होगा । इन दोनों अर्थों को पृथक्-पृथक् समझना हमारा भ्रम है : ये एक-दूसरे के पूरक हैं । ऊपर हमने 'वाच्यार्थ' के विवेचन में उसकी 'शब्दार्थ' से भिन्नता देखी, और देखा कि फिर भी दोनों एक हैं । अकेले और स्वतन्त्र उच्चरित होने पर कोई भी शब्द अपने सभी सम्भाव्य अर्थों को वहन कर सकता है, किन्तु प्रायोगिक अवस्था में, वह देश-काल-प्रकरण आदि के कारण, किसी एक ही अर्थ को वहन कर सकता है । जब उसका यह अर्थ स्वतन्त्र रूप में केवल अपने पर निर्भर करता है, अर्थात् जब उसके अर्थ-निर्धारण में प्रकरणादि की अपेक्षा नहीं रहती, उसे 'मुख्य' अर्थ कह सकते हैं । जब उसके अर्थ निर्धारण के लिए हमें देश, काल, प्रकरणादि का ध्यान रखना आवश्यक हो जाता है, उस अवस्था में उस शब्द के अर्थ को 'गौण' कह देते हैं :

शुद्धस्योच्चारणे स्वार्थः प्रसिद्धो यस्य गम्यते ।

स मुख्य इति विज्ञेयो रूपमात्रनिबन्धनः ।। वा० २.२६७ ।।

अर्थप्रकरणापेक्षो यो वा शब्दान्तरैः सह ।

युक्तः प्रत्यायत्यर्थं तं गौणमपरे विदुः ।। वा० २.२६६ ।।

अब यदि एक बार भी पिछले वक्तव्य पर ध्यान दिया जाय, तो यह स्पष्ट हो जायगा कि 'लक्ष्य और व्यंग्य' अर्थ का समाहार 'गौण' अर्थ में ही हो जाता है । 'गौण' तो एक सापेक्ष संज्ञा है, जिसे 'मुख्य' के लिए पूरक रूप में प्रयोग किया गया है । और फिर, **ये दोनों एक ही वाच्यार्थ के अंशमात्र** हैं, क्योंकि, अर्थ-प्रकरणादि की अपेक्षा में भी, गौण अर्थ 'अभिधेय' तो होता ही है । उसकी पृथक्-सत्ता इसलिए भी स्वीकार नहीं की जा सकती कि वह शब्द से ही **संकेतित** होता है । अर्थ-प्रकरणादि तो उसके विनिश्चय का प्रोत्साहन-मात्र देते हैं । इसी भ्रम में आकर कुछ विद्वानों ने मुख्य अर्थ को 'निमित्त' और गौण को 'निमित्ती' स्वीकार किया :

स्वार्थे प्रवर्त्तमानस्य यस्यार्थं योऽवलम्बते ।

निमित्तं तत्र मुख्यं स्यान्निमित्ती गौण इष्यते ।। वा० २.६६।।

जब दोनों ही का परिज्ञान 'स्वार्थ के अवलम्ब' से होता है, तो उन्हें, 'निमित्त' और 'निमित्ती' कह कर भी, हम पृथक् नहीं मान सकते । यदि शब्द में अर्थ स्थित होगा, तभी तो वह 'गौण' और 'मुख्य' कहला सकेगा । अन्यथा, गौण और मुख्य की कल्पना व्यर्थ हो जायेगी । जहाँ तक 'निमित्त' और 'निमित्ती का प्रश्न है, इतना समझ लेना ही पर्याप्त है कि 'गौण' को 'निमित्ती' कहना भ्रमपूर्ण होगा । यहां 'गौण' और 'मुख्य' दोनों का उपादान एक ही शब्द रहता है । निमित्त-रूप में प्रकरण-देश-काल आदि

'बाह्यों' की कल्पना तो उचित है, 'मुख्य अर्थ' की नहीं। मुख्य को 'निमित्त' मानकर 'ध्वनि' या 'व्यंग्य' को तो किसी भी रूप में 'निमित्ती' नहीं माना जा सकता। तथाकथित 'व्यंग्य' तो 'मुख्यार्थ' पर आधारित होता ही नहीं। 'ध्वनि (वाच्य)' भी उसका स्पष्टीकरण मात्र ही कहला सकती है। और, 'स्पष्टीकरण' को मुख्यार्थ से पृथक् गिनना अनुचित है। इसलिये दोनों अवस्थाओं में ही 'निमित्त' की बात सिद्ध नहीं होती। हां, लक्षणा द्वारा अभिहित 'लक्ष्यार्थ' को यदि हम 'निमित्ती' मान लें तो पृथक् बात है। पर, वहाँ भी यह स्मर्त्तव्य है कि, 'मुख्यार्थ निमित्त नहीं बल्कि, 'मुख्यार्थ की बाधा' निमित्त मानी गई है। वास्तव में, मुख्यार्थ सम्भव न हो पाने पर ही हम 'लक्ष्यार्थ' की मान्यता पर बढ़ते हैं। दूसरे शब्दों में, 'लक्ष्यार्थ', 'व्यंग्यार्थ' आदि 'गौण' हो सकते हैं, किन्तु उन्हें 'निमित्ती' कहना उचित नहीं; क्योंकि वे भी उसी शब्द से सम्बद्ध होते हैं।

(अ) रूढ़ – ऊपर हम यह स्पष्ट कर आये हैं कि ये गौण अर्थ भी रूढ़ ही होते हैं। और, जहाँ इनका कथन अभिप्रेत होता है वहाँ मुख्यार्थ 'अभिधेय' नहीं रहता। अतः उसे 'मुख्य' कहना ही व्यर्थ हो जाता है। 'मुख्यार्थ' शब्द का धातुगत अर्थ भी नहीं है। कोई भी अर्थ 'शब्दार्थ' होता है। जहाँ शब्द उसे स्वयं प्रकट न करके अन्य निमित्तों अर्थात् देश-काल कादि की सहायता चाहता है, उसे 'गौण' कहते हैं। इस प्रकार 'लक्ष्यार्थ' और 'व्यंग्यार्थ' कहे जाने वाले अर्थ भी 'मुख्य' कहला सकते हैं।

एक बात और समझ लेनी चाहिए कि 'लक्ष्यार्थ' और 'व्यंग्यार्थ' किसी एक ही शब्द-विशेष से प्रकट होते हैं, उसी धात्वर्थ या शब्दार्थ को वहन करने वाले दूसरे शब्द से नहीं। 'चौकन्ना' के स्थान पर 'चार कान वाला' या 'चतुष्कर्ण' कहते ही वह बात सिद्ध नहीं हो जाती, जो हमें 'चौकन्ना' से अभिप्रेत थी। 'बड़े लोग' का व्यंग्यार्थ 'महान् मनुष्य' वहन नहीं कर सकता। इस प्रकार, तथाकथित, लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ का आधार भी शब्द पर होने से, वे भी 'शब्दार्थ', और इसीलिये उच्चारण से प्रतीयमान, गिने जाते हैं। यह बात आधुनिक विद्वानों ने भी व्यवहारतः स्वीकार कर ली है। इसी कारण वर्तमान शब्दकोषों में शब्द के सभी सम्भाव्य व्यावहारिक अर्थों को सप्रयोग दिया जाता है। यह शब्द की अपनी शक्ति है कि वह एक होकर भी अनेक तरह प्रयोग हो सकता है (वा० २.२५६)।

अतः शब्द का अर्थ एक है। मुख्य और गौण प्रकल्पना केवल व्यवहार के नियमन के लिये ही है। अन्यथा, लोक-प्रवृत्ति और प्रयोग को सही रूप में समझना असम्भव हो जाता।

१६८. **चरितार्थ और उपसर्जनीभूत अर्थ** – जब हम किसी शब्द या वाक्य को प्रयोग करते हैं, तब जो कुछ हमारा अभिधेय होता है, उसमें शब्दार्थ या पदार्थ की अपेक्षा

अवाच्यमिति यद् वाच्यं तदवाच्यतया यदा ।
वाच्यमित्यवसीयेत वाच्यमेव तदा भवेत् ।। वा० ३.३.२० ।।

१६७. **मुख्यार्थ : गौणार्थ** — ऊपर 'वाच्यार्थ' के दो रूपों की प्रसंगात् चर्चा हुई है : **मुख्य और गौण** । यहाँ इन पर विहंगम दृष्टि डालना उचित होगा । इन दोनों अर्थों को पृथक्-पृथक् समझना हमारा भ्रम है : ये एक-दूसरे के पूरक हैं । ऊपर हमने 'वाच्यार्थ' के विवेचन में उसकी 'शब्दार्थ' से भिन्नता देखी, और देखा कि फिर भी दोनों एक हैं । अकेले और स्वतन्त्र उच्चरित होने पर कोई भी शब्द अपने सभी सम्भाव्य अर्थों को वहन कर सकता है, किन्तु प्रायोगिक अवस्था में, वह देश-काल-प्रकरण आदि के कारण, किसी एक ही अर्थ को वहन कर सकता है । जब उसका यह अर्थ स्वतन्त्र रूप में केवल अपने पर निर्भर करता है, अर्थात् जब उसके अर्थ-निर्धारण में प्रकरणादि की अपेक्षा नहीं रहती, उसे 'मुख्य' अर्थ कह सकते हैं । जब उसके अर्थ निर्धारण के लिए हमें देश, काल, प्रकरणादि का ध्यान रखना आवश्यक हो जाता है, उस अवस्था में उस शब्द के अर्थ को 'गौण' कह देते हैं :

शुद्धस्योच्चारणे स्वार्थः प्रसिद्धो यस्य गम्यते ।
स मुख्य इति विज्ञेयो रूपमात्रनिबन्धनः ।। वा० २.२६७ ।।
अर्थप्रकरणापेक्षो यो वा शब्दान्तरैः सह ।
युक्तः प्रत्याययत्यर्थं तं गौणमपरे विदुः ।। वा० २.२६६ ।।

अब यदि एक बार भी पिछले वक्तव्य पर ध्यान दिया जाय, तो यह स्पष्ट हो जायगा कि 'लक्ष्य और व्यंग्य' अर्थ का समाहार 'गौण' अर्थ में ही हो जाता है । 'गौण' तो एक सापेक्ष संज्ञा है, जिसे 'मुख्य' के लिए पूरक रूप में प्रयोग किया गया है । और फिर, **ये दोनों एक ही वाच्यार्थ के अंशमात्र हैं**, क्योंकि, अर्थ-प्रकरणादि की अपेक्षा में भी, गौण अर्थ 'अभिधेय' तो होता ही है । उसकी पृथक्-सत्ता इसलिए भी स्वीकार नहीं की जा सकती कि वह शब्द से ही **संकेतित** होता है । अर्थ-प्रकरणादि तो उसके विनिश्चय का प्रोत्साहन-मात्र देते हैं । इसी भ्रम में आकर कुछ विद्वानों ने मुख्य अर्थ को 'निमित्त' और गौण को 'निमित्ती' स्वीकार किया :

स्वार्थे प्रवर्त्तमानस्य यस्यार्थं योऽवलम्बते ।
निमित्तं तत्र मुख्यं स्यान्निमित्ती गौण इष्यते ।। वा० २.६६।।

जब दोनों ही का परिज्ञान 'स्वार्थ के अवलम्ब' से होता है, तो उन्हें, 'निमित्त' और 'निमित्ती' कह कर भी, हम पृथक् नहीं मान सकते । यदि शब्द में अर्थ स्थित होगा, तभी तो वह 'गौण' और 'मुख्य' कहला सकेगा । अन्यथा, गौण और मुख्य की कल्पना व्यर्थ हो जायेगी । जहाँ तक 'निमित्त' और 'निमित्ती का प्रश्न है, इतना समझ लेना ही पर्याप्त है कि 'गौण' को 'निमित्ती' कहना भ्रमपूर्ण होगा । यहां 'गौण' और 'मुख्य' दोनों का उपादान एक ही शब्द रहता है । निमित्त-रूप में प्रकरण-देश-काल आदि

'बाह्यों' की कल्पना तो उचित है, 'मुख्य अर्थ' की नहीं। मुख्य को 'निमित्त' मानकर 'ध्वनि' या 'व्यंग्य' को तो किसी भी रूप में 'निमित्ती' नहीं माना जा सकता। तथाकथित 'व्यंग्य' तो 'मुख्यार्थ' पर आधारित होता ही नहीं। 'ध्वनि (वाच्य)' भी उसका स्पष्टीकरण मात्र ही कहला सकती है। और, 'स्पष्टीकरण' को मुख्यार्थ से पृथक् गिनना अनुचित है। इसलिये दोनों अवस्थाओं में ही 'निमित्त' की बात सिद्ध नहीं होती। हां, लक्षणा द्वारा अभिहित 'लक्ष्यार्थ' को यदि हम 'निमित्ती' मान लें तो पृथक् बात है। पर, वहाँ भी यह स्मर्त्तव्य है कि, 'मुख्यार्थ निमित्त नहीं बल्कि, 'मुख्यार्थ की बाधा' निमित्त मानी गई है। वास्तव में, मुख्यार्थ सम्भव न हो पाने पर ही हम 'लक्ष्यार्थ' की मान्यता पर बढ़ते हैं। दूसरे शब्दों में, 'लक्ष्यार्थ', 'व्यंग्यार्थ' आदि 'गौण' हो सकते हैं, किन्तु उन्हें 'निमित्ती' कहना उचित नहीं; क्योंकि वे भी उसी शब्द से सम्बद्ध होते हैं।

(अ) रूढ़ – ऊपर हम यह स्पष्ट कर आये हैं कि ये गौण अर्थ भी रूढ़ ही होते हैं। और, जहाँ इनका कथन अभिप्रेत होता है वहाँ मुख्यार्थ 'अभिधेय' नहीं रहता। अतः उसे 'मुख्य' कहना ही व्यर्थ हो जाता है। 'मुख्यार्थ' शब्द का धातुगत अर्थ भी नहीं है। कोई भी अर्थ 'शब्दार्थ' होता है। जहाँ शब्द उसे स्वयं प्रकट न करके अन्य निमित्तों अर्थात् देश-काल कादि की सहायता चाहता है, उसे 'गौण' कहते हैं। इस प्रकार 'लक्ष्यार्थ' और 'व्यंग्यार्थ' कहे जाने वाले अर्थ भी 'मुख्य' कहला सकते हैं।

एक बात और समझ लेनी चाहिए कि 'लक्ष्यार्थ' और 'व्यंग्यार्थ' किसी एक ही शब्द-विशेष से प्रकट होते हैं, उसी धात्वर्थ या शब्दार्थ को वहन करने वाले दूसरे शब्द से नहीं। 'चौकन्ना' के स्थान पर 'चार कान वाला' या 'चतुष्कर्ण' कहते ही वह बात सिद्ध नहीं हो जाती, जो हमें 'चौकन्ना' से अभिप्रेत थी। 'बड़े लोग' का व्यंग्यार्थ 'महान् मनुष्य' वहन नहीं कर सकता। इस प्रकार, तथाकथित, लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ का आधार भी शब्द पर होने से, वे भी 'शब्दार्थ', और इसीलिये उच्चारण से प्रतीयमान, गिने जाते हैं। यह बात आधुनिक विद्वानों ने भी व्यवहारतः स्वीकार कर ली है। इसी कारण वर्तमान शब्दकोषों में शब्द के सभी सम्भाव्य व्यावहारिक अर्थों को सप्रयोग दिया जाता है। यह शब्द की अपनी शक्ति है कि वह एक होकर भी अनेक तरह प्रयोग हो सकता है (वा० २.२५६)।

अतः शब्द का अर्थ एक है। मुख्य और गौण प्रकल्पना केवल व्यवहार के नियमन के लिये ही है। अन्यथा, लोक-प्रवृत्ति और प्रयोग को सही रूप में समझना असम्भव हो जाता।

१६८. **चरितार्थ और उपसर्जनीभूत अर्थ** – जब हम किसी शब्द या वाक्य को प्रयोग करते हैं, तब जो कुछ हमारा अभिधेय होता है, उसमें शब्दार्थ या पदार्थ की अपेक्षा

बहुधा कुछ और भी आ जाता है। इसे हम **चरितार्थ** कहते हैं। **अन्तर्भुक्त, अन्तर्हित, या अन्तःस्थ** किसी भी रूप में यह अर्थ रह सकता है। इसे कहने के लिये पृथक् शब्दों का कथन आवश्यक नहीं होता। इस अर्थ को समझते समय हम कुछ शब्दों की कल्पना करते हैं, वह केवल अपनी समझ की सुविधाभर के लिये ही। उनकी सत्ता को वास्तविक मानने की आवश्यकता नहीं है (वा० १.८५)। परन्तु 'चरितार्थ' का एक दूसरा भी रूप है, जिसका सम्बन्ध 'उपसर्जनीभूत अर्थ' से है। **उपसर्जनीभूत अर्थ** का अभिप्राय इतना ही है कि शब्द कभी-कभी अपने अत्यन्त प्रसिद्ध अर्थ को प्रकट नहीं करता, प्रत्युत प्रकरणादि, अथवा समीपवर्ती शब्दों, द्वारा उसका कोई अप्रसिद्ध अर्थ सामने आ जाता है। इस प्रकार दूसरे उपकरणों द्वारा सामने लाया गया अर्थ **उपसर्जनीभूत** कहलाता है। स्वभावतः ऐसा अर्थ अपने पीछे अन्तर्वर्ती अर्थों या सम्भावनाओं को छिपाये हुए होगा। वे अन्तर्हित अर्थ 'चरितार्थ' कहलायेंगे। इन दोनों की सत्ता हमें तथाकथित 'लक्ष्यार्थ' में अधिक, और किंचित् मात्रा में व्यंग्यार्थ में भी, दिखाई देती है। 'लक्ष्य' और 'व्यंग्य' की सम्भावना इन्हीं अर्थों के कारण हो पाती है। इसे हम 'नया अर्थ' कहें या 'स्वार्थ'; उपसर्जनीभूत अर्थ भाषा की एक प्रायोगिक अवस्था है, जो लोक में किसी विशिष्ट शक्ति के रूप में, प्रयत्नपूर्वक प्रयुक्त न होकर, सरल स्वाभाविक रूप में प्रयुक्त होती है। इस द्वारा वास्तव में अर्थ-विनिश्चय की प्रक्रिया का ही स्वरूप-ज्ञान कराया जाता है। 'वह तो निरा बैल है' में बैल का, पशु-परक अर्थ सामने न आकर, 'बुद्धिहीन या जड़' आदि रूप में जो अर्थ सामने आया, वह 'उपसर्जनीभूत' अर्थ ही कहा जायेगा। इसी प्रकार 'उसने यज्ञ किया' – इस वाक्य में 'यज्ञ करना' यद्यपि एक ही धातु द्वारा व्यक्त किया गया है, किन्तु वह स्वतः एक 'वृत्ति', 'भाव', या 'क्रिया' है, जिसमें एक ही 'मुख्य-अर्थ' में अनेकों अर्थ समाये हुए हैं। लकड़ियाँ चुनना, अग्न्याधान, मन्त्रपठन, आसन बिछाना, आचमन, प्रक्षालन, आदि अनेकों अंगभूत क्रियार्थ उसमें समवेत हैं। इन समवेत अर्थों से जो अर्थ 'उपसर्जनीभूत' हुआ, उसे हमने 'यज्ञ करना' कहा। यद्यपि 'यज्ञ' का अपना अर्थ देवपूजा, संगति-करण और दान है, परन्तु यज्ञ का जो 'रूढ़-अर्थ' हमारे सामने आता है, उसमें ये सभी बातें मिली-जुली रहती हैं। ये सभी उसमें 'चरितार्थ' हैं।

१६९. अभिधेय या प्रतिपाद्य – भर्तृहरि 'अभिधेय' का अर्थ 'अभिधा द्वारा संकेतित' नहीं करते। उनकी दृष्टि में, जब अभिधा-लक्षणादि की सत्ता ही नहीं है, तो अभिधेय का वह अर्थ कैसे सम्भव हो सकता है? फिर भी, वे अभिधेय की चर्चा करते अवश्य हैं। उनकी दृष्टि में प्रयोक्ता कुछ न कुछ प्रयोजन मन में लेकर ही भाषा-प्रयोग या शब्दोच्चारण में प्रवृत्त होता है। इस 'प्रयोजन' को ही हम 'अभिधेय' कहेंगे। 'अभिधेय' के प्रयोजन होने से इसकी ही अभिव्यक्ति वक्ता या प्रयोक्ता का **उद्देश्य** होती है (वा० १.११३)।

१७०. **परार्थ** – प्रयोक्ता, अपने अभिधेय की शब्द रूप में निश्चिति से भी पूर्व, एक प्रकार की इच्छा से विवश-सा होता है। इस दशा में उसकी आत्मा में मचलन या चाह होती है। वह कुछ ऐसी अनुभूति अपने भीतर पाता है, जिसे वह व्यक्त करना चाहता है, और जिसके लिये वह पूरे साधन जुटा नहीं पाता। 'अभिधेय' उसी का एक सीमित रूप है, जिसे वह, अभिव्यक्ति देने के लिये, अपनी बुद्धि और मन में 'तेजस्' एवं 'चिन्तन' की सहायता से घड़ता है। इस अभिधेय को ही वह, स्पष्ट और सीमित होने के कारण, शब्दों का रूप पहनाने का यत्न करता है। शब्दों की निश्चित सीमा में हर प्रकार के अभिधेय को बाँधना कहाँ तक सम्भव हो सकता है ? फिर भी **शब्दों की संकरी सीमा में यह अभिधेय उतर कर ग्रहीता तक पहुँचता है। ग्रहीता भी उसे नाद, स्फोट और ध्वनि के तीन चरणों को पार कर 'स्वरूप' के रूप में ग्रहण कर लेता है।** स्वरूप और अभिधेय, इस दृष्टि से, एक हैं। ग्रहीता को जो अर्थोपलब्धि या स्वरूपोपलब्धि हुई, वह इसी 'अभिधेय' की थी। पर इस स्वरूपोपलब्धि के बाद जो एक आनन्दानुभूति, भाव-विस्तार, या भाव-तरंग का सा उदय ग्रहीता की चेतना में होता है, वह इस अभिधेय की पहुँच से भी परे है। वक्ता की **इच्छा** तथा ग्रहीता की यह **प्रतीति** एक ही स्तर की दो अवस्थायें हैं: दोनों की स्थिति अभिधेय और प्रतिपाद्य से परे है। **अभिधा-लक्षणा-व्यंजना से भी परे स्थित – ततः पर – इस भावानुभूति को हम तात्पर्य कहें या रसध्वनि, वक्ता के अभिधेय का मूल उत्स यही है, जिस तक पहुँचे बिना ग्रहीता अपने अन्दर तृप्ति अनुभव नहीं कर सकता।** अभिधेय को शब्दों द्वारा व्यक्त किया जा सकता है – उसे शब्दों में बाँधा जा सकता है। किन्तु, 'परार्थ' अनुभूति की वस्तु है, बुद्धि के चिन्तन से परे। आलंकारिकों ने जिस चमत्कारमय अर्थ, अलौकिक अर्थ, या रस की कल्पना की, और 'ततः पर' (तात्पर्य) अथवा 'रस-ध्वनि' की स्व-संवेद्य अनुभूति-सीमाओं में बाँधना चाहा, भाषाविद् उसे 'पारार्थ' ही कह सकता है। वैयाकरण उसका अर्थ भी चाहे 'पर-अर्थ, (परार्थ), या 'परम-अर्थ' करते रहें, **उसका वास्तविक अर्थ 'परा में अनुभूयमान अर्थ या भावना' ही है, जिसे शब्दों में बाँधने का ही प्रयास कर सकती हैं – पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी।** और, यह 'परार्थ' शब्द और अर्थ की सीमा को भी लाँघ कर – परे – स्थित है। उसे पाने पर शब्दों की आकृति, शब्दार्थ-सम्बन्ध आदि की सब धारणायें पीछे रह जाती हैं।

> **पारार्थ्यस्याविशिष्टत्वान्न शब्दाच्छब्दसन्निधिः।**
> **नार्थाच्छब्दस्य सांनिध्यं न शब्दादर्थसंनिधिः॥ वा० २.३.४१॥**

'रूप' या 'आकृति' ज्ञान की 'सीमायें' हैं। उसकी 'शुद्धि' इन से परे है:

> **सर्वार्थरूपता शुद्धिः ज्ञानस्य निरुपाश्रया।**
> **ततोऽप्यस्य परां शुद्धिमेकं प्राहुररूपिकाम्॥ वा० ३.३.५६॥**

अर्थात्, उपाश्रय और सीमायें तो साधन हो सकती हैं। 'साध्य' की स्व-स्थिति इ

सब सीमाओं से परे है : वह 'अरूप' है। इस 'परार्थ' को ही 'गम्यार्थ' आदि शब्दों के द्वारा अभिहित किया गया है। यदि अर्थ के किसी भेद को 'व्यंग्यार्थ' या 'ध्वन्यर्थ' कहना ही है, तो वह यही अर्थभेद हो सकता है।

१७१. **वाक्यार्थ : पदार्थ** – इस प्रकार के एक, अविभाज्य और अखण्ड अर्थ को मानने और समझ लेने के बाद, उस पर कुछ भी अन्य विचार व्यर्थ-सा होता है। फिर भी उसकी अखण्डता के सम्बन्ध में एक शंका अवशिष्ट रह ही जाती है। वह यह कि हम जब कोई कथन वाक्य या शब्द रूप में कहते है, तो अर्थ उन शब्दों में निहित रहता हैं या वाक्य में ? यह प्रश्न वास्तव में बहुत ही मौलिक एवं आवश्यक है। इसने आरम्भ से ही भाषाविदों को चकित रखा है। मूलतः इस प्रश्न का सम्बन्ध 'भाषा की इकाई' के निश्चय से है। भाषा की इकाई के विषय में भर्तृहरि का मत स्पष्ट किया जा चुका है। वे 'वाक्य' को भाषा की इकाई मानते हैं।

(अ) **पदों का महत्व** – इस अविभाज्य 'वाक्य' के वक्तव्य – 'प्रतिपाद्य' – को स्पष्टता से समझाने-समझने के लिए प्रयोक्ता या ग्रहीता कुछ खण्ड-पदों का आश्रय लेता है। जिस प्रकार एक पूर्ण शरीर में अनेक अंग मिलकर सम्पूर्ण शरीर की रचना करते हैं, परन्तु वे सब अंग तभी तक अपना महत्व रखते हैं जब तक शरीर में होते हैं, उसी प्रकार 'वाक्य-शरीर' की रचना में प्रत्यक्षतः दीखने वाले खण्ड – क्रिया, कर्त्ता, कर्म, आदि रूप में विभक्त होकर – 'पद' के रूप में पृथक्-सत्तावान् से दिखाई देते हैं। किन्तु, 'वाक्य-शरीर' से अलग इनकी भी कोई सत्ता नहीं रह पाती। वैसे ही जैसे 'पद' का अपना एक ही अर्थ होता है। उसके प्रकृति-प्रत्ययादि या वर्णादि पृथक्-पृथक् अर्थों की अभिव्यक्ति नहीं कर पाते, क्योंकि अर्थ अविभाज्य है (वा० ४२६, ४२७)। भर्तृहरि इसी बात को एक दूसरी युक्ति द्वारा भी स्पष्ट करते हैं :

पदे न वर्ण्णा विद्यन्ते वर्णेष्ववयवा न च।
वाक्यात्पदानामत्यन्तं प्रविवेको न कश्चन ॥ वा० १.७४ ॥
न वर्णव्यतिरेकेण पदमन्यच्च विद्यते।
वाक्यं वर्णपदाभ्यां च व्यतिरिक्तं न किंचन ॥ वा० १.७३ ॥

अर्थात्, 'वर्ण्ण स्वतः भी सार्थक ही हो सकते हैं, किन्तु उनसे मिलकर बनने वाला पद उन्हीं समस्त अर्थों की अभिव्यक्ति न करके, अपनी एक भिन्न ही अभिव्यक्ति देता है। इस पर भी उसकी रचना तो उन वर्णों से ही गिनी जाती हैं, क्योंकि उसका श्रुति-ग्रहण उन्हीं वर्णों के द्वारा होता है। इसी प्रकार वाक्य का निर्माण भी पदों के द्वारा होता दीखता है।'

अर्थ तो हमारी छोटी-से-छोटी ध्वनि का भी होता है, जिसे किसी प्रयोजन से प्रयोग किया जाता है। लेकिन अगर इसी आधार पर उनकी सत्ता इकाई के रूप में

पृथक् स्वीकार कर ली जाय, तो यह समस्या अनन्त हो जायेगी। यदि इन भागों की पारस्परिक कार्यात्मक या अर्थात्मक एकता स्वीकार न कर ली जाय, तो न वर्ण की ही 'सत्ता' स्वीकरणीय हो सकेगी और न पद की। भागों के पृथक्-पृथक् रहते इनकी एकत्व स्वीकृति, और इनसे अर्थात्मक प्रयोजन (अभिधेय) की अभिव्यक्ति या प्रतिपाद्य रूप में उसकी प्रतिपत्ति, असम्भव हो जायेगी (वा० २.२८-२९)। और, जब अभिधेय की अभिव्यक्ति ही असम्भव होगी, तो, उनका प्रयोजन निरर्थक हो जाने से, उनकी सत्ता व्यर्थ हो जायेगी। इसीलिए शब्द और अर्थ के सम्बन्ध पर विचार करते हुए कुछ विद्वानों ने उसे **अपदार्थीकृत** ही स्वीकार किया (वा० ३.३.१२)। **अपदेऽर्थे पदन्यासः** (वा० ३.३.७६) कहते हुए भर्तृहरि उस अभिधेय (अर्थ या प्रयोजन) को 'अ-पद' कहते हैं। वास्तव में अभिधेय का पदरूप में विभाग हम अपने प्रयोजन-सौकर्य के लिए करते हैं, इसलिए कि उससे हमारा कार्य निकलता है, दुनिया का पारस्परिक व्यवहार चलता है। अर्थ या भावना का न क्रम हो सकता है, न भाग; फिर भी हम उसे क्रम और भागों में बाँट कर चल पड़ते हैं (वा० ३.३.७९)। मज़ा यह कि यह सब हमारे ही सन्देहों का परिणाम है, इसकी वास्तविक सत्ता नहीं। हमें अर्थ की अखण्ड उपलब्धि में सन्देह हो जाता है और उसके निवारण के लिए हम पद-पदार्थ आदि भेदों की कल्पना कर बैठते हैं, ताकि हम उनसे भी उसी अखण्ड-अर्थ की उपलब्धि को सही साबित कर सकें (वा० ३.३.८०)। और, यह सब इसलिए कि दूसरों को भी वास्तविक अभिधेय समझाया जा सके। अन्यथा, पदार्थ की शास्त्र (व्याकरण) में ही स्वीकरणीय है, उसकी स्वीकृति का वास्तविक आधार नहीं।

(आ) पदार्थ – तो इस पदार्थ की वास्तविकता है क्या? क्या यह नितान्त अवास्तविक है? या उसकी कुछ सत्ता भी है? यदि नहीं है, तो इन्हें क्यों और कैसे माना जाता है?

बात यह है कि शब्द हो या अर्थ, 'अभिधेय' रूप में, वह एक ही है – अविभाज्य और अखण्ड! उसकी प्रतीति में न क्रम की सम्भावना है, न काल-व्यवधान की (वा० २.१३)। और प्रकृति-प्रत्यय की कल्पना क्या शब्द को शब्दार्थ को बाँटने में असमर्थ हो जाती है? यदि 'रामः' और 'करोति' में 'सुप्' और 'तिङ्' की सत्ता स्वतः निरर्थक होकर भी सूचक-मात्र हो सकती है – 'और इस अप्रयुक्त और अनभिधेय' कल्पितमात्र, धातु को भी प्रयोगार्ह बना सकती है – तो उसके आधार पर भी प्रकृति और प्रत्यय को अलग-अलग मानकर हम किस प्रयोजन को सिद्ध करने में समक हो सकते हैं? समझाने की सुविधा के लिए, या अपने ही बुद्धि-भेद को मिटाने के लिए – और कभी-कभी लोक-व्यवहार को प्रामाणिक और नियमबद्ध ठहराने के लिए – हम उन दोनों की पृथक्-पृथक् सत्ता मान बैठते हैं; यद्यपि न हम उनसे कोई प्रयोजन सिद्ध कर पाते हैं, न अभिधेय (वा० २.१०)। इसी प्रकार 'अभिधेय' या 'शब्द'

(अर्थात् अपनी भावना के आविर्भाव)[1] को व्यक्तरूप में समझने-समझाने के लिए भी हम उसे 'पदों' (और उनके द्वारा पदार्थों) में विभक्त कर लेते हैं (वा० २.१६)। वास्तव में, यदि हमारा अभिधेय या वाक्यार्थ (वागर्थ) केवल 'भावना' रूप में होता है और हम उसे महज़ पदों के प्रयोग द्वारा व्यक्त करने का प्रयत्न करते हैं। (वह अर्थ ही हमारा उद्देश्य नहीं हो जाता), तो पदार्थ की स्थिति भी वैसी ही — केवल माध्यम-रूपा (साधन-रूपा) ही — होगी। फिर भी हम इसका **'अप-उद्धार'** कर लेते हैं और, इस प्रकार, वाक्यार्थ और पदार्थ का एक कल्पित भेद खड़ा कर देते हैं (वा० २.१०)। यदि पदों की सत्ता पृथक् मानकर उनसे ही अर्थाभिव्यक्ति की सत्ता को सत्य मान लिया जाय, तो 'उदक', 'यावक' आदि पदों में 'पदक', 'लावक' आदि में स्थित समान पद-भागों के अर्थों की सत्ता की स्वीकृति का प्रश्न उठेगा। 'ऋषम' और 'वृषम' में 'ऋषम' के समान अर्थ की सत्ता स्वीकार करनी पड़ेगी (वा० २.१२)। परन्तु ऐसा सदा सम्भव नहीं होता। वास्तव में, वाक्य से पदों को शब्द-ज्ञान या व्याकरण-ज्ञान के आधार पर अलग करना न उचित है, न न्याय्य। यह भी एक और अखण्ड 'शब्द-ब्रह्म' की ही शक्ति है, कि वह पृथक्-पृथक् विभागों में बँटा हुआ दिखाई देता है (वा० २.२१)। और, हम, उस माया-जाल में फँस कर, उसे पद-पदार्थ के विभाग में बँधा-सा, बँटा-सा, समझ लेते हैं।

(इ) **अन्वय-व्यतिरेक** — ऐसा होने का कारण भी है। यह कारण अत्यन्त मनोवैज्ञानिक है। यह हमारे दैनिक-व्यवहार और लोक-व्यवहार से सम्बन्ध रखता है। हम अनेक अभिधेयों में एक ही 'पद' को विविध रूपों में प्रयुक्त होते पाते हैं। स्वभावतः उनके विषय में हमारी कुछ धारणा स्थिर हो जाती है। इस प्रकार 'अन्वय' और 'व्यतिरेक' की विवेचना द्वारा हम उस शब्द को एक निश्चित अर्थ में स्थिर मानकर, 'अपोद्धार' द्वारा, वाक्य से उसे पृथक् कर लेते हैं। यह 'अपोद्धार' वैसा ही है, जैसे किसी एक वस्तु के टुकड़े-टुकड़े करके, उन अलग-अलग टुकड़ों की पृथक्-सत्ता मानना, और फिर उनसे उस सम्पूर्ण वस्तु का 'निर्माण' कल्पित करना। वास्तव में 'अभिधेय' ही मुख्य है। पद और वाक्य दोनों ही नाम केवल सूचना-मात्र देने के लिए हैं। सम्भवतः इसीलिए 'वाच्य' और 'वाक्य' के मूल में एक ही धातु कल्पित की जाती है। जब पद की 'प्रकृति' की चर्चा होती है, तब उसका अभिप्राय 'पदार्थ' की सत्ता की सिद्धि से नहीं होता। 'पद' तो समूहात्मक अभिव्यक्ति ही देने में समर्थ होते हैं। अथवा, समूहात्मक या एकत्वमय 'वाक्यार्थ' की अभिव्यक्ति पदों द्वारा ही सम्भव है। दोनों अवस्थाओं 'पद' का महत्व 'संहिता' या 'संहति' में ही होता है। संहिता है **एकीकरण**, जो समूहात्मक प्रतीत हो कर भी अविभाज्य है। पद की इस स्थिति का एक कारण है : यदि हम पद के प्रत्येक

१. यहाँ 'शब्द' धातु' के अर्थ 'आविष्कारे' से अभिप्राय है।

वर्ण में ढूंढ़ना चाहें, तो पद का अर्थ न मिलेगा। इसी प्रकार 'वाक्यार्थ' एक समूहात्मक अभिव्यक्ति में तो स्थिर रह सकता है, किन्तु पदों और पदार्थों में विभक्त होने पर पदों द्वारा व्यक्त अर्थ, 'वाक्यार्थ' नहीं कहला सकेगा या उसके भागों को अंश रूप में अभिव्यक्त न कर सकेगा। 'वाक्यार्थ' तो रहता ही 'सहवृत्ति' (**संहिता-स्वभाव**) वाले पदों में है, वैसे ही जैसे सहवृत्ति वर्णों में 'पदार्थ'।

(उ) **अकेले पद अनर्थक हैं** – यहाँ दो बातें अवधेय हैं : एक पदों की सहवृत्ति और दूसरा अर्थभाग ! जहाँ तक सहवृत्ति का सम्बन्ध है उसे स्पष्ट समझे बिना हम त्रुटि कर सकते हैं। कई बार एक पद को भी हम वाक्य के स्थान पर प्रयोग कर बैठते हैं। 'कर लिया!', 'धन्यवाद !,' 'ओहो !', 'न', 'द्वारम्', 'वर्षति', आदि इसी प्रकार के पद-रूप हैं, जिनसे एक सम्पूर्ण 'वाक्यार्थ' की अभिव्यक्ति होती है। यदि इनमें से तीसरे और चौथे उदाहरण पर विचार किया जाय, तो वे दोनों 'स्वतन्त्र पद' भी नहीं कहला सकते। वे हैं अव्यय रूप '**पद**' जिनका स्वतन्त्र-प्रयोग असम्भव माना गया है। उन्हें यदि हम 'एक पद' या 'एक शब्द' मानकर चलेंगे, तो वे अर्थाभिव्यक्ति में समर्थ ही न हो सकेंगे। वास्तव में ये सारे ही उच्चरित पद जिस प्रकरण-संगत अर्थ की सृष्टि करते हैं, उसमें देश-काल-प्रकरण-वक्ता आदि के ज्ञान से आगत अनेकों बातें (**अर्थ-भाग**) ऐसी हैं जो सामने आ अवश्य जाती हैं, अर्थ-रूप में ही सही। (वा० २.३१) पद-रूप में उनका प्रयोग आवश्यक भी नहीं है। हमारा ध्येय और प्रतिपाद्य वह पद नहीं है : ध्येय है अभिधेय, जिसका न क्रम है, न भाग !

(ऊ) **वाक्यार्थ का भाग** – दूसरी अवधेय बात यह है कि पदार्थ को 'वाक्यार्थ का भाग' भी नहीं कहा जा सकता। हमें यहाँ भाग का अर्थ समझ लेना चाहिये। 'गाय चर रही है' – इस वाक्य के उच्चारण से जो अर्थ प्रतीति ग्रहीता को होती है, 'गाय' या 'चर रही' आदि पदों से पृथक्-पृथक् वही प्रतीति (समग्र-रूप में) नहीं होती। इन शब्दों से जो प्रतीति होती है, उसमें प्रथम में एक पशु और दूसरे में एक-क्रिया मात्र की सूचना रहती है। उन दोनों का पारस्परिक सम्बन्ध सूचित नहीं हो पाता। और, न ही वे 'सम-आनुपातिक' रूप से उस समग्र-चित्र के आविभाज्य अंग ही कहला सकते हैं। अतः पदार्थ की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार करना, या उसे वाक्यार्थ का विभाज्य-भाग कहना, असम्भव है। भर्तृहरि के ही शब्दों में, 'जिस प्रकार इन्द्रियाँ देह से पृथक् होकर कार्य एवं महत्व से शून्य हो जाती हैं, उसी प्रकार वाक्य से प्रतिभक्त पदों का कोई अर्थ नहीं रहता' (वा० २.४२६-७)।

अन्त में यही कहना होगा कि भर्तृहरि 'अर्थ' को एक और अविभाज्य मानते हैं :

तस्माच्छक्तिविभागेन नित्यः सदसदात्मकः।
एकोऽर्थः शब्दवाच्यत्वे बहुरूपः प्रकाशते ॥ वा० ३.३.८५ ॥

शब्द और अर्थ का सम्बन्ध

१७२. **सम्बन्ध-विनिश्चय की आवश्यकता** – वाक्य, शब्द और अर्थ सम्बन्धी विचार के बाद शब्द और अर्थ के पारस्परिक सम्बन्ध का प्रश्न उठना स्वाभाविक है। उन व्याख्याओं एवं परिभाषाओं का स्मरण आते ही, जो उन दोनों की स्वरूपात्मक वास्तविकता के विषय में की गई हैं, यह सम्बन्ध-विनिश्चय की बात अनावश्यक एवं अस्वाभाविक लगती है। यदि शब्द और अर्थ एक ही आत्मा के दो धर्म या भेद हैं, तो उनके पारस्परिक सम्बन्ध-विनिश्चय का अवकाश ही कहाँ है : **एकस्यैवात्मनो भेदौ शब्दार्थावपृथक्स्थितौ** (वा० २.३१) एक ही आत्मा के दो पार्श्व हों तो उनका सम्बन्ध इतना स्वाभाविक और इतना सामान्य हो जाता है, कि उसके लिए नियम-विधान की कल्पनामात्र भी दुरूह लगती है। ऐसी स्थिति में उनके पारस्परिक सम्बन्ध-विनिश्चय की बात उठती ही नहीं :

सम्बन्धस्याविशिष्टत्वान्न चात्र नियमो भवेत् ।
तस्माच्छब्दार्थयोर्नैव सम्बन्धः परिकल्पते ।। वा० ३.३.१५ ।।

परन्तु, एक वैज्ञानिक की तृप्ति इस लौकिक और सामान्य युक्ति से नहीं हो सकती। यद्यपि एक ही आत्मा के दो भेद या पार्श्व हैं, तो भी शब्द और अर्थ में पारस्परिक सम्बन्ध कुछ न कुछ तो होना ही चाहिये। अन्ततः वे 'दो भेद' हैं: 'एकात्मा' होकर भी 'एक' नहीं। अतः वे दोनों मिलकर भी यदि एक 'वस्तु' बनाते हैं, तो भी उनके पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में विचार तो होना ही चाहिये। और, यह आवश्यकता न भी होती, यदि 'अर्थ' भी, 'शब्द' के बाह्यरूप की भाँति, निश्चित आकार वाला होता। उसकी कुछ अवस्थायें हैं, अभिव्यक्ति के कुछ क्रम ! 'शब्द' के साथ उनका सम्बन्ध समझे बिना सन्देहास्पद स्थिति बनी रह सकती है। द्व्यर्थक या अनेकार्थक शब्दों में यह स्थिति अधिक विचारणीय हो उठती है। क्यों एक ही अर्थ एक स्थान पर सामने आता है ? तथा शब्द के 'स्वरूप' से उसका क्या सम्बन्ध है ?, आदि प्रश्न उठने स्वाभाविक हैं। अतः उन दोनों अविभाज्य 'आत्मभेदों' का भी पारस्परिक सम्बन्ध-विनिश्चय आवश्यक ही है :

ज्ञानं प्रयोक्तुर्बाह्योऽर्थः स्वरूपं च प्रतीयते ।
शब्दैरुच्चारितैस्तेषां सम्बन्धः समवस्थितः ।। वा० ३.३.१ ।।

१७३. **सम्बन्ध कृत्रिम है या स्वाभाविक** – शब्द और अर्थ पर विचार करने के

बाद यह प्रश्न अस्वाभाविक सा ही लगेगा कि इनका सम्बन्ध **पुरुषकृत** है या **अपौरुषेय** एवं स्वाभाविक ? वृत्तिकार ने पहले इस सम्बन्ध को 'पुरुषकृत' मानने की युक्तियाँ प्रस्तुत की है । उनकी दृष्टि में पुरुष के ही आरम्भिक प्रयोग द्वारा शब्द और अर्थ का प्रारम्भिक सम्बन्ध निश्चित हुआ । अतः इस प्रत्यक्ष सत्य से निषेध करना अनुचित है : **यदि प्रथमश्रुतो न प्रत्याययति, कृतकस्तर्हि शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः । कुतः स्वभावतो ह्यसम्बद्धावेतौ शब्दार्थौ । मुखे हि शब्दमुपलभामहे भूमावर्थम् । शब्दोऽयं न त्वर्थोऽर्थोऽयं न शब्द इति च व्यपदिशन्ति । रूपभेदोऽपि भवति** (वृत्ति० पृ० ४५) । **अथ कः सम्बन्ध इति । यच्छब्दे विज्ञातेऽर्थो विज्ञायते स तु कृतक इति पूर्वमुपपादितम् । तस्मान्मन्यामहे केनापि पुरुषेण शब्दानामर्थैः सह संबन्धं कृत्वा संव्यवहर्तुं वेदाः प्रणीताः'** (वृत्ति० पृ० ५२) ।

पुरुषकृत सम्बन्ध की मान्यता का सबसे अधिक विरोध किया 'मीमांसाकार' जैमिनी एवं 'शाबर-भाष्य-प्रणेता शबर ने : औत्पत्तिकस्तु तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः (मी० १.१.५) । स्वयं वृत्तिकार ने अन्यत्र पूर्वोक्त युक्ति-सरणि का विरोध किया है । और, अन्ततः उसने भी शब्दार्थ-सम्बन्ध को अपौरुषेय ही माना है : **अपौरुषेयः शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः । तस्य अग्निहोत्रादिलक्षणस्य ज्ञानं प्रत्यक्षादिभिरनवगम्यमानस्य । तथा च चोदनालक्षणः सम्यक्सम्प्रत्यय इति'** (वृत्ति० पृ० ४१) ।

वास्तव में यह प्रश्न इतना सरल नहीं है, कि इसे 'प्रत्यक्ष' और अप्रत्यक्ष की युक्ति.के बल पर टाला जा सके । इस प्रश्न का सम्बन्ध 'दर्शन' से है भी नहीं । भाषा-तत्व-वेत्ता इस पर दूसरे ही रूप में विचार करता है । उसके लिये 'वेद' की अपौरुषेयता की युक्ति उतनी महत्त्वपूर्ण नहीं है । उसे तो यास्क और पाणिनि के 'अर्थनित्य' और 'अर्थवत्' का व्यावहारिक महत्त्व पता है । उसकी दृष्टि में शब्द का महत्त्व ही नहीं, यदि वह अर्थ का सम्प्रत्यय न कराए । अतः वाक् एवं तद्गत शब्दों का मौलिक महत्त्व ही 'अर्थ' की सत्ता के कारण है । किस शब्द को किस अर्थ में प्रयोग करना है, इस बात का निर्णय भले ही मनुष्य करता है; किन्तु उसके द्वारा उच्चरित शब्द बिना किसी अर्थभावना को लिये हुए प्रकट हों, ऐसा असम्भव है । अभिव्यक्ति या आत्मप्रकाशन के लिये प्रयुक्त कोई भी शब्द होता ही शब्द-भावना पर आधारित है (वा० १.१२२) । इस युक्तिक्रम ने ही कभी व्याडि की इस उक्ति को जन्म दिया था :

सम्बन्धस्य न कर्त्ताऽस्ति शब्दानां लोकवेदयोः ।
शब्दैरेव हि शब्दानां सम्बन्धः स्यात् कृतः कथम् ॥ संग्रह ॥

अर्थात्, 'शब्द और अर्थ का सम्बन्ध स्वाभाविक है, मनुष्यकृत नहीं । लोक और वेद में यह स्थिति समान रूप से स्वतः-सिद्ध है ।' अर्थ किसी शब्द के रूप में नहीं रहता,

वह तो भावना के रूप में सहवर्त्ती रहता है। 'शब्द' उसी भावना के कारण अर्थवान् है, सार्थक है। किन्हीं विशिष्ट शब्दों का किन्हीं विशिष्ट अर्थों में प्रयोग किसी मनुष्य या लोक-सामान्य द्वारा ही आरम्भ किया जा सकता है। किन्तु, उससे शब्द और अर्थ की मूलगत अविभाज्य सह-अस्तित्व की भावना को ही बल मिलता है। **शब्द और अर्थ का नित्य सम्बन्ध** है। तभी तो लोक किन्हीं शब्दों को किन्हीं विशिष्ट अर्थों में प्रयुक्त करता है। यदि शब्द और अर्थ का नित्य सम्बन्ध न हो, तो कोई कैसे उन दोनों को एक दूसरे के साथ सम्बद्ध रूप में प्रयोग कर सकता है? इसीलिये कात्यायन ने **लोक-व्यवहार** को ही इस का मूल माना था, क्योंकि यह नित्य-सम्बन्ध लोक-व्यवहार में ही सम्पुष्ट और परिवर्धित होता है: **सिद्धे शब्दार्थ सम्बन्धे, लोकतोऽर्थप्रयुक्ते** (वा० १, महा० १.१.१)। पतंजलि ने यह सम्बन्ध नित्य मानते हुए, उसे अधिक स्पष्ट किया। उनकी दृष्टि में **शब्द है ही अर्थवान्**। और अर्थवान् का अर्थ से सम्बन्ध अनिवार्य है: **नित्यो ह्यर्थवतामर्थैरभिसम्बन्धः** (महा० १.१.१)। अतः जब भर्तृहरि इस सम्बन्ध को 'नित्य' मानते हैं, तो वे उसे पुरुष-कृत न मान कर स्वतःसिद्ध ही मानते हैं:

नित्याः शब्दार्थसम्बन्धास्तत्राम्नाता महर्षिभिः।
सूत्राणां सानुतन्त्राणां भाष्याणां च प्रणेतृभिः॥ वा० १.२३॥

हाँ, वे यह अवश्य स्वीकार करते हैं कि विशिष्ट शब्द का विशिष्ट अर्थ में विनियोग एवं प्रयोग पुरुष द्वारा ही सम्भव है। परन्तु ये दोनों तत्व 'प्रकाशक' हैं, निर्धारक नहीं।

विनियोगादृते शब्दो न स्वार्थस्य प्रकाशकः॥ वा० २.४०६॥
यत्प्रयोक्ताऽभिसंधत्ते शब्दस्तत्रावतिष्ठते॥ वा० ४०६॥

सत्य तो यह है कि प्रयोग, अभ्यास एवं विनियोग आदि शब्दार्थ-सम्बन्ध को निश्चित नहीं करते; वे तो प्रकरण, स्थिति, देशकाल आदि के प्रभाव को उस स्वाभाविक सम्बन्ध पर स्पष्टमात्र करते हैं। इसीलिये भर्तृहरि कहते हैं कि वह सम्बन्ध 'शब्द का विषय ही नहीं है (वा० २.१२२)।

१७४. **सम्बन्ध-ज्ञान से सहायता** – इसके पूर्व यह स्पष्ट किया जा चुका है कि किसी भी शब्द से अर्थ, ज्ञान एवं स्वरूप की तीन क्रमिक उपलब्धियाँ होती हैं। 'स्वरूप' की अपेक्षा अर्थ और ज्ञान दोषपूर्ण हो सकते हैं, और भ्रान्ति को उत्पन्न कर सकते है। **स्वरूप इन भ्रान्तियों से परे की वस्तु है:**

उपप्लवो हि ज्ञानस्य बाह्याकारानुपातिता।
कालुष्यमिव तत्रास्य संसर्गे व्यतिभेदजम्॥ वा० ३.३.५७॥
यथा च ज्ञानमालेखादशुद्धौ व्यवतिष्ठते।
तथोपाश्रयवानर्थः स्वरूपाद्विप्रकृष्यते॥ वा० ३.३.५८॥

वस्तुतः, शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को हम प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होने वाले बाह्य रूप – (शब्द या द्रव्य) – पर आश्रित समझ बैठते हैं। हमारे **ज्ञान** और **अर्थ** में यहीं पर कमी आ जाती है। वक्ता और श्रोता के बीच आ जाने वाली इस भ्रम-जन्य दूरी का सही कारण समझने एवं उसे हटाने में यह सम्बन्ध-ज्ञान अधिक सहायता देता है। इसे समझ लेने के बाद 'स्वरूप' की उपलब्धि में सहायता मिल सकती है। यह भ्रमावह स्थिति अनेकार्थक और समानार्थक शब्दों में प्रायशः उत्पन्न हो सकती है। किस स्थान पर कौन-सा अर्थ आता है? तथा, वही अर्थ क्यों ग्रहण होता है?, इत्यादि प्रश्न हैं, जिनका उत्तर इस सम्बन्ध-ज्ञान से मिल सकता है। इसके अभाव में हम अनेक 'शक्तियों' की कल्पना करते रह सकते हैं, जो हमें और उलझा ही देंगी।

१७५. चार हेतु – अधिक उचित रहेगा यदि शब्द और अर्थ के सम्बन्ध-विनिश्चय के लिए उन 'हेतुओं' पर विचार करें, जो किसी विशिष्ट शब्द का किसी विशिष्ट अर्थ से सम्बन्ध निर्दिष्ट करने एवं प्रयोग में कारण बनते हैं। हम कह चुके हैं कि भर्तृहरि ने इन्हें **प्रतिभा, अभ्यास, लोकागम** और **विनियोग** के रूप में गिनाया है। **'लोकागम'** को वे इन सब की अपेक्षा प्रधान हेतु स्वीकार करते हैं।

प्रतिभा का सम्बन्ध व्यक्तिगत-चेतना से है। यद्यपि यह व्यक्तिगत चेतना भी सामाजिक चेतना पर आधारित एवं उसी की अनुवर्तिनी होती है, पर इसमें मौलिकता की भी सम्भावना अन्तर्हित रहती है। इस प्रतिभा के छह भेद भर्तृहरि ने स्वीकार किये हैं: स्वभाव, चरण, अभ्यास, योग, अदृष्ट और विशिष्टता द्वारा प्रेरित (वा० २.१५४)। **अभ्यास** का सम्बन्ध लोक-परम्परागत अनुकरण से है। हम अपने वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन में जो कुछ सुनते-सुनाते हैं, वह, हमारे अभ्यास का विषय बनकर, वाणी की स्वाभाविक गतिविधि का अङ्ग बन जाता है। **विनियोग है** 'विशिष्ट नियोग'। जब किसी शब्द को किन्हीं विशिष्ट परिस्थितियों में हम किसी विशिष्ट अर्थ के लिए प्रयुक्त करते हैं, तो बुद्धि द्वारा चिन्तित एवं निश्चित यह 'विनियोग' उस विशिष्ट-सम्बन्ध का हेतु बनता है। योग-जन्य (**यौगिक**) प्रतिभा एवं विनियोग विभिन्न शब्दों में पारस्परिक अभिन्न सम्बन्ध (**समासादि**) अथवा विभिन्न भावनात्मक दृश्य सम्बन्ध (**प्रत्ययादि**) को स्पष्ट करने के कारण बनते हैं।

लोकागम या परम्परागत व्यवहार को 'अभ्यास' और 'प्रतिभा' का मूल-स्रोत कहा जा सकता है। जहाँ विनियोग प्रयोक्ता की बुद्धि पर आधारित रहता है, वहाँ 'लोक-परम्परा' प्रयोक्ता की बुद्धि को स्थिर करने में सहायता देती है। इस लोक परम्परा के सम्मुख न शिष्टों का तर्क चलता है, न अनुशासन।[1] **व्याकरण भी इसी लोक-परम्परा का विश्लेषण (स्मृति : सनिबन्धना)[2] ही है।** वस्तुतः यह लोक-प्रयोग

१. वा० १.३०-३१, ४०-४१.   २. वा० १.४३, १४५.

ही नाना पदरूपों (प्रत्यय-संयुक्त रूपों) के व्यवहार का कारण बनता है। ये प्रत्यय भी 'लोकागम' के कारण ही आते हैं। 'विनियोग', 'अभ्यास' एवं 'यौगिक प्रतिभा' विशिष्ट प्रत्ययों के समावेश और प्रयोग का कारण बनते हैं। इस प्रकार इन हेतुओं का ज्ञान, इस 'प्रत्ययादि-संस्कार' के ज्ञान के लिए, आवश्यक है।

१७६. **सम्बन्ध से अभिप्रेत** – 'सम्बन्ध' शब्द से हम क्या कहना चाहते हैं ? भर्तृहरि स्पष्ट करते हैं कि 'सम्बन्ध' कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जो शब्द और अर्थ से पृथक् होकर स्वतन्त्र रूप में रहे। इसलिए उसे किसी 'वाचक' शब्द द्वारा प्रकट करना असम्भव एवं अनुचित है।

नाऽभिधानं स्वधर्मेण सम्बन्धस्यास्ति वाचकम् ।
अत्यन्तपरतन्त्रत्वाद्रूपं नास्यापदिश्यते ॥ ३.३.४ ॥

परन्तु, शब्द रूप में न रहकर भी शब्द और अर्थ की सहस्थिति का नियामक-तत्व, एवं 'यह अर्थ इस शब्द का है, अथवा इस शब्द का यह अर्थ है', इस भावना का विनिश्चायक तत्व 'सम्बन्ध' के रूप में अस्तित्ववान् तो है ही।

अस्याऽयं वाचको वाच्य इति षष्ठ्या प्रतीयते ।
योगः शब्दार्थयोस्तत्त्वमप्यतो व्यपदिश्यते ॥ वा० ३.३.३ ॥

अर्थात्, **'तस्येदम्'** या इसी रूप में षष्ठीकारक का प्रयोग ही **वाच्य-वाचक** के सम्बन्ध का द्योतक बन जाता है। शब्द और अर्थ के बीच साहचर्य-भावना बनाये रखने वाले इस 'सम्बन्ध' की वास्तविकता का वर्णन इसीलिए आवश्यक है।

१७७. **सम्बन्ध के प्रकार** – शब्द और अर्थ का यह सम्बन्ध किस प्रकार का है ?, इस प्रश्न को लेकर भी पर्याप्त विवाद हुआ है। भर्तृहरि ने इस प्रश्न पर विस्तृत विचार किया है। भर्तृहरि से पूर्व मीमांसाकार ने इस सम्बन्ध को **'औत्पत्तिक'** (मी० १.१.५) कहा था। संस्कृत के पूर्ववर्ती एवं परवर्ती काव्यशास्त्रियों ने, **अभिधा, लक्षणा** व **व्यंजना** के रूप में, जिन शब्द-शक्तियों को स्वीकार किया था, उनमें स्थित **वाच्य-वाचक, लक्ष्य-लक्षक,** एवं **व्यंग्य-व्यंजक** (काव्यप्रकाश – द्वितीय उल्लास) सम्बन्धों की सत्ता को भी उन्होंने ही स्वीकार किया था। अर्थ को शब्द का अनुवर्ती स्वीकार करने वालों ने उसमें **स्व-स्वामिभाव सम्बन्ध** की सत्ता भी स्वीकार की है (वा० ३.३.१८)। इसके अतिरिक्त वृत्तिकार एवं भर्तृहरि ने **प्रत्याय्य-प्रत्यायक सम्बन्ध** की विवेचना भी अनेक स्थलों पर की है। शब्द और अर्थ में **कार्य-कारण-सम्बन्ध** की विवेचना भी भर्तृहरि ने की है। भर्तृहरि ने इन सभी मतों की विवेचना पूरी तरह की है। सब की छानबीन के बाद वे एक ही परिणाम पर पहुँचे हैं, कि यदि कोई सम्बन्ध शब्द और अर्थ में है ही, तो वह 'वाच्य-वाचक' के रूप में ही सम्भव है : **'अस्याऽयं वाचको वाच्य इति'** (वा० ३.३.३)। किन्तु, इसका अर्थ यह नहीं कि वे अन्य

ही नाना पदरूपों (प्रत्यय-संयुक्त रूपों) के व्यवहार का कारण बनता है। ये प्रत्यय भी 'लोकागम' के कारण ही आते हैं। 'विनियोग', 'अभ्यास' एवं 'यौगिक प्रतिभा' विशिष्ट प्रत्ययों के समावेश और प्रयोग का कारण बनते हैं। इस प्रकार इन हेतुओं का ज्ञान, इस 'प्रत्ययादि-संस्कार' के ज्ञान के लिए, आवश्यक है।

१७६. **सम्बन्ध से अभिप्रेत** – 'सम्बन्ध' शब्द से हम क्या कहना चाहते हैं ? भर्तृहरि स्पष्ट करते हैं कि 'सम्बन्ध' कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जो शब्द और अर्थ से पृथक् होकर स्वतन्त्र रूप में रहे। इसलिए उसे किसी 'वाचक' शब्द द्वारा प्रकट करना असम्भव एवं अनुचित है।

नाऽभिधानं स्वधर्मेण सम्बन्धस्यास्ति वाचकम् ।
अत्यन्तपरतन्त्रत्वाद्रूपं नास्यापदिश्यते ॥ ३.३.४ ॥

परन्तु, शब्द रूप में न रहकर भी शब्द और अर्थ की सहस्थिति का नियामक-तत्व, एवं 'यह अर्थ इस शब्द का है, अथवा इस शब्द का यह अर्थ है', इस भावना का विनिश्चायक तत्व 'सम्बन्ध' के रूप में अस्तित्ववान् तो है ही।

अस्याऽयं वाचको वाच्य इति षष्ट्या प्रतीयते ।
योगः शब्दार्थयोस्तत्त्वमप्यतो व्यपदिश्यते ॥ वा० ३.३.३ ॥

अर्थात्, **'तस्येदम्'** या इसी रूप में षष्ठीकारक का प्रयोग ही **वाच्य-वाचक** के सम्बन्ध का द्योतक बन जाता है। शब्द और अर्थ के बीच साहचर्य-भावना बनाये रखने वाले इस 'सम्बन्ध' की वास्तविकता का वर्णन इसीलिए आवश्यक है।

१७७. **सम्बन्ध के प्रकार** – शब्द और अर्थ का यह सम्बन्ध किस प्रकार का है ?, इस प्रश्न को लेकर भी पर्याप्त विवाद हुआ है। भर्तृहरि ने इस प्रश्न पर विस्तृत विचार किया है। भर्तृहरि से पूर्व मीमांसाकार ने इस सम्बन्ध को **'औत्पत्तिक'** (मी० १.१.५) कहा था। संस्कृत के पूर्ववर्ती एवं परवर्ती काव्यशास्त्रियों ने, **अभिधा**, **लक्षणा** व **व्यंजना** के रूप में, जिन शब्द-शक्तियों को स्वीकार किया था, उनमें स्थित **वाच्य-वाचक**, **लक्ष्य-लक्षक**, एवं **व्यंग्य-व्यंजक** (काव्यप्रकाश – द्वितीय उल्लास) सम्बन्धों की सत्ता को भी उन्होंने ही स्वीकार किया था। अर्थ को शब्द का अनुवर्ती स्वीकार करने वालों ने उसमें **स्व-स्वामिभाव सम्बन्ध** की सत्ता भी स्वीकार की है (वा० ३.३.१८)। इसके अतिरिक्त वृत्तिकार एवं भर्तृहरि ने **प्रत्याय्य-प्रत्यायक सम्बन्ध** की विवेचना भी अनेक स्थलों पर की है। शब्द और अर्थ में **कार्य-कारण-सम्बन्ध** की विवेचना भी भर्तृहरि ने की है। भर्तृहरि ने इन सभी मतों की विवेचना पूरी तरह की है। सब की छानबीन के बाद वे एक ही परिणाम पर पहुँचे हैं, कि यदि कोई सम्बन्ध शब्द और अर्थ में है ही, तो वह 'वाच्य-वाचक' के रूप में ही सम्भव है : **'अस्याऽयं वाचको वाच्य इति'** (वा० ३.३.३)। किन्तु, इसका अर्थ यह नहीं कि वे अन्य

सम्बन्धों की उपेक्षा करते हैं। उनकी दृष्टि में सम्बन्ध के अन्य वर्णित प्रकार भी शब्दार्थ-सम्बन्ध के विविध पार्श्वों की व्याख्याभर ही करते हैं।

१७८. **व्यंग्य-व्यंजक और लक्ष्य-लक्षक** – शब्द-शक्तियों की कल्पना पर आश्रित सम्बन्धों में से **'व्यंग्य-व्यंजक सम्बन्ध'** को भर्तृहरि कहीं भी मान्यता प्रदान करते दिखाई नहीं देते। उसे उन्होंने यदि कहीं मान्यता दी है, तो 'स्फोट और नाद' के सम्बन्ध में ही। 'स्फोट' अर्थ नहीं है, और 'नाद' शब्द नहीं है। नाद द्वारा अभिव्यज्यमान 'शब्द' में स्फोट द्वारा व्यज्यमान 'अर्थ' की प्रतीति होती है। **अतः वे व्यंजना जैसी किसी शब्दशक्ति तथा व्यंग्य-व्यंजक जैसे तन्मूलक सम्बन्ध को स्वीकार करते दिखाई नहीं देते।** यही स्थिति 'लक्ष्य-लक्षक-सम्बन्ध' के विषय में है। **'लक्षितेऽर्थे'** या **'लक्ष्येऽर्थे'** कह देने से ही लक्ष्य-लक्षक भावकी सिद्धि नहीं हो जाती। वे 'गौ' के प्रसिद्ध लक्ष्यार्थ 'वाहीक' की चर्चा करते हुए, उसे भी धेनुपरक अर्थ के समान ही, स्वाभाविक एवं वाच्य मानते हैं। गौण-मुख्य का अन्तर लोक-प्रसिद्धि-श्रित हो सकता है। पर लोक-प्रसिद्धि की न्यूनता ही तो 'लक्ष्यार्थ' की व्याख्या नहीं है।

> **यथासास्नादिमान् पिण्डो गोशब्देनाऽभिधीयते।**
> **तथा स एव गोशब्दो वाहीकेऽपि व्यवस्थितः॥ वा० २.२५४॥**
> **सर्वशक्तेस्तु तस्यैव शब्दस्यानेकधर्मणः।**
> **प्रसिद्धिभेदाद् गौणत्वं मुख्यत्वं चोपवर्ण्यते॥ वा २.२५५॥**
> **गोत्वानुषङ्गो वाहीके निमित्तात्कैश्चिदिष्यते॥ वा० २.२५७॥**

अतः 'बाधा' या अन्य किसी निमित्त को स्वीकार करके 'लक्षणा' व तन्मूलक 'लक्ष्य-लक्षक-सम्बन्ध' की कल्पना भर्तृहरि की मूल धारणा के विपरीत जा पड़ती है।

१७९. **स्व-स्वामिभाव और योग्यता** – 'स्व-स्वामिभाव-सम्बन्ध' के मूल में, शब्दांशों के धात्वर्थ या प्रातिपदिकार्थ के रूप में, कुछ स्थिर अर्थों की कल्पना काम करती दीखती है। शब्द किसी अर्थ का 'स्वामी' है या वह उसके साथ ही संयुक्त है, **अथवा** अर्थ शब्द का स्वामी है, यह भावना कुछ स्थलों पर सफल भले ही दिखाई दे; इसे स्थिर मान्यता नहीं दी जा सकती, विशेष कर 'वाक्य' की स्थिति में। जब शब्दों के पृथक् अस्तित्व की व्यावहारिक मान्यता भी अकृतार्थ हो जाती है, तब ऐसे किसी सम्बन्ध की कल्पना उपहासास्पद ही हो जाती है। **योग्यता** की व्याख्या इससे भिन्न है। 'योग्यता' को किसी प्रकार का 'सम्बन्ध' मानना उचित भी है और अनुचित भी। एक ओर, भर्तृहरि उसे **कार्यकारण भाव** के समकक्ष मान्यता (वा० १. २५), देते हैं। दूसरी ओर, से वे उसे सम्बन्ध से पृथक् (वा० ३. ३. २९) भी मानते हैं। 'योग्यता' का अर्थ है: जिस प्रकार माता और पुत्र में पारस्परिक सम्बन्ध की एक स्वाभाविक चेतना (नेचुरल इन्स्टिंक्ट) रहती है, उसी प्रकार शब्द और अर्थ भी एक आन्तरिक चेतना

(स्वाभाविक योग्यता) से परस्पर संयुक्त रहते हैं :

अनादिरर्थैः शब्दानां सम्बन्धो योग्यता तथा ।। वा० ३. ३. २९ ।।

सम्बन्धशब्दे सम्बन्धो योग्यतां प्रति योग्यता ।

समयात् योग्यता संविन्मातापुत्रादियोगवत् ।। वा० ३. ३. ३१ ।।

'योग्यता' को हम एक स्वाभाविक आन्तरिक सामर्थ्य कह सकते हैं । वह 'सम्बन्ध' की कोटि में नहीं आ सकती ।

१८०. **कार्यकारण भाव** – कार्यकारण-भाव का उल्लेख योग्यभाव या योग्यता के साथ ही भर्तृहरि ने किया है :

कार्यकारणभावेन योग्यभावेन च स्थिताः ।

धर्मे ये प्रत्यये चाङ्गं सम्बन्धाः साध्वसाधुषु ।। वा० १. २५ ।।

शब्दार्थ-सम्बन्ध **कार्य-कारण-भाव** से किस तरह रहता है ? इस बात को भर्तृहरि ने अन्यत्र स्पष्ट किया है ।

शब्दः कारणमर्थस्य स हि तेनोपजन्यते ।

तथा च बुद्धिविषयादर्थाच्छब्दः प्रतीयते ।। वा० ३. ३. ३२. ।।

अरणिस्थो यथा ज्योतिः प्रकाशान्तरकारणम् ।

तद्वच्छब्दोऽपि बुद्धिस्थः श्रुतीनां कारणं पृथक् ।। वा० १. ४७ ।।

'बुद्धिस्थ अर्थ शब्द का कारण हो सकता है, और शब्द ज्ञान (बुद्धिस्थ भावना) का कारण बनता है । इन दोनों का सम्बन्ध पारस्पराश्रित है । अतः किसी एक को **कारण** और दूसरे **कार्य** कह सकने की द्विविधामय स्थिति में शब्द और अर्थ के समन्वयन की वास्तविक व्याख्या इस 'सम्बन्ध' के द्वारा नहीं की जा सकती ।'

१८१. **सम्बन्ध का वास्तविक रूप** – **प्रत्याय्य-प्रत्यायक** और **वाच्य-वाचक-सम्बन्ध** एक ही बात की दो व्याख्याएँमात्र दीखते हैं । इन दोनों के मूल में क्रमशः 'प्रत्यय' और 'अर्थ' का सत्तात्मक विवाद है । शब्द अपने प्रथम उच्चारण के साथ किसी 'प्रत्यय' का ज्ञान कराता है, या किसी अर्थ का ? यह प्रश्न ही इन दो सम्बन्धों की पृथक् कल्पना का कारण है । पतंजलि व भर्तृहरि का मत इस विषय में पहले 'अर्थ का स्वरूप' प्रकरण में स्पष्ट किया जा चुका है ।

यस्मिंस्तूच्चरिते शब्दे यदा योऽर्थः प्रतीयते ।। वा० २. ३३० ।।

येनोच्चारितेन सास्नालांगूलखुरविषाणिनां सम्प्रत्ययो भवति (महा० १.१.१) ।

इन दोनों कथनों में 'सम्प्रत्यय' और 'प्रतीति' पर बल दिया गया है । 'अर्थ' भी वही है, जो 'प्रत्यय' के द्वारा उपलब्ध होता ।

जायते प्रत्ययोऽर्थेभ्यस्तथैवोद्देशजा मतिः ।। वा० ३. ३. ५३ ।।

अकृत्स्नविषयाभासं शब्दः प्रत्ययमाश्रितः ।।

अर्थमाहात्म्यरूपेण स्वरूपेणाविरूपितम् ।। वा० ३. ३.५४ ।।

इन दोनों ही वचनों में प्रत्यय और अर्थ का परम्पराश्रित सम्बन्ध बताया गया है। प्रत्यय के बिना अर्थ की सत्ता नहीं और अर्थ के बिना प्रत्यय की उपयोगिता सिद्ध नहीं होती। प्रत्यय में आई विषयगत समग्रता ही 'अर्थ' को स्वतःपूर्ण बनाती है। अतः शब्द का अर्थ से सम्बन्ध आधारित ही 'प्रत्यय' या 'प्रतीति' पर है।

सति प्रत्ययहेतुत्वे सम्बन्ध उपपद्यते।
शब्दस्यार्थे यतस्तत्र सम्बन्धोऽस्तीति गम्यते ॥ वा० ३. ३. ३७ ॥

सम्बन्ध-प्रतीति के इस आधार पर ही सुप्-तिङ्-कृत्-तद्धितादि संस्कारों का नाम भी 'प्रत्यय' पड़ा दीखता है। इस 'प्रत्यय' की उपलब्धि कराने के कारण ही शब्द 'प्रत्यायक' एवं अर्थ 'प्रत्याय्य' कहलाता है। परन्तु यह 'प्रत्याय्य' अर्थ 'प्रत्यायक' शब्द में किस रूप में रहता है ? क्या शब्द के उच्चरित होते ही अर्थ का प्रत्यय हो जाता है, या किसी और माध्यम से होता है? इन प्रश्नों के उत्तर के लिये ही शब्द और अर्थ का पारस्परिक सम्बन्ध **'वाच्य-वाचक'** के रूप में कहा गया। 'वाच्य' और 'वाचक' शब्दों का सम्बन्ध किसी भी रूप में 'धात्वर्थ' आदि से नहीं है। यहाँ यह स्पष्ट समझ लेना चाहिये कि वाच्य-वाचक का अर्थ **अभिधेय-अभिधायक** से अभिन्न है। वक्ता जिस अर्थ को मन में लेकर चलता है, वही 'वाच्य' है। और उस अर्थ को ध्वनित करने वाले शब्द स्वभावतः 'वाचक' कहलायेगा। 'वाक्' का सम्बन्ध उच्चारण से है। 'वाचक' उसी उच्चरित या 'प्रकटित' शब्द का सूचक है। 'वाच्य' का अर्थ हुआ उच्चारणसमकाल होने वाला 'प्रत्यय'। यह 'प्रत्यय' जिस रूप में भी होता है, वही शब्द का अर्थ है। उसे हम किसी 'शब्द' के माध्यम से कहें, या 'वाक्य' के? उस का अपना रूप 'प्रतीति' का है, 'अशब्द' और 'अ-रूप'।[1] अर्थ शब्द की आत्मा है, इस प्रत्ययके रूप में ही (वा० १.१३१)। और, यह 'प्रत्यय' तभी सत्य होता है, जब वक्ता और श्रोता की बुद्धि और मन में एक ही 'अर्थ' या 'वस्तु' की उपलब्धि हो जाती है। प्रयोक्ता और ग्रहीता के अभिधेय और प्रतिपाद्य का आधार जब 'शब्द' (वा० १.५४) ही है, तब उनकी बुद्धि और मन का 'प्रत्यय' भी एक हो, इसी में वाक् के उद्देश्य की पूर्णता है : **बुद्ध्यर्थादेव बुद्ध्यर्थे जाते तदपि दृश्यते** (वा० ३.३.३३)। अतः शब्द का प्रयोग प्रयोक्ता ने जिस अर्थ में किया है, वह 'वाच्य' है। शब्द उसका 'वाचक' है। ग्रहीता को भी उसे उसी रूप में ग्रहण करना अभीष्ट है। अतः 'वाचक' अर्थ ही सच्ची स्थिति है। जो अर्थ 'वाच्य' बन कर स्थित नहीं है, वह उस क्षण में उस प्रयुक्त शब्द का अर्थ भी नहीं बतला सकता। किसी भी प्रयुक्त शब्द में एक समय में एक ही अर्थ स्पष्टतः 'वाक्य' बन कर रहता है।

अवाच्यमिति यद्वाच्यं तदवाच्यतया यदा।
वाच्यमित्यवसीयेत वाच्यमेव तदा भवेत् ॥ वा० ३.३.२० ॥

---

१. वा० ३.२.२,११; ३.३.५६.

अथाप्यवाच्यमित्येवं न तद्वाच्यं प्रतीयते ।
विविक्षिताऽस्य याऽवस्था सेयं नाध्यवसीयते ।। वा० ३.३.२१ ।।

कोई अर्थ-भावना 'अवाच्य' रह ही नहीं सकती । जिसकी भी सत्ता है, वह वाच्य ही कहला सकता है :—

अथान्यथा सर्वथा च यस्यावाच्यत्वमुच्यते ।
तत्रापि नैव सावस्था तैः शब्दैः प्रतिषिध्यते ।। वा० ३.३.१२ ।।

अतः शब्द का 'अर्थ' वह भावना है, जिसमें प्रयोक्ता उसे विनियोग करके प्रयोग करता है । जिस अर्थ में उस शब्द का प्रयोग ही नहीं हो रहा, वह न 'अवाच्य' हो सकता है, न 'वाच्य' । प्रयोगमूलक अर्थ 'वाच्य' ही कहला सकता है, कुछ अन्य नहीं । उस अर्थ का अभिधायक शब्द 'वाचक' ही कहलाता है ।

विनियोगादृते शब्दो न स्वार्थस्य प्रकाशकः ।
अर्थाभिधानसंबन्धमुक्तिद्वारं प्रचक्षते ।। वा०२.४०६ ।।

और, वाग्व्यापार है क्या ? '**उक्तिद्वार**' ही तो ! उससे ही शब्द और अर्थ का सम्बन्ध निश्चित होता है।

१८२. **सम्बन्ध-विनिश्चायक दो 'धर्म'** – इस विषय में भर्तृहरि ने दो महत्त्वपूर्ण तत्वों की ओर संकेत किया है ।

तद्धर्मणोस्तु ताच्छब्द्यं संयोगसमवाययोः ।
तयोरप्युपकारार्थाः नियतास्तदुपाधयः ।। वा०३.३.६ ।।

यहाँ भर्तृहरि ने **समवाय और संयोग** – दोनों – को सम्बन्ध के 'धर्म' बताया है । **समवाय और संयोग का महत्व 'सम्बन्ध' के कारण ही है, अथवा 'सम्बन्ध' के स्वरूप को स्पष्ट करने में इन दोनों का भी योग होता है** – ये दोनों बातें एक ही अर्थ की सूचक हैं ? वास्तव में इन दोनों की सत्ता है ही सम्बन्ध को स्पष्ट करने के लिये । 'समवाय' एक व्यापक आधार भूमि है । उस स्थिति में ही 'संयोग' की भी आवश्यकता पड़ती है । 'सम्बन्ध-तत्व' में गृहीत होने वाले सभी तत्व किसी न किसी रूप में संयुक्त होकर ही अभिव्यक्ति देते हैं । प्रत्यय व उपसर्ग भी अपनी सत्ता उसी रूप में सुरक्षित रख पाते हैं । तथा, उनका प्रभाव 'अर्थ-तत्व' के संस्कार, परिष्कार, परिवर्तन या परिवर्द्धन पर पड़ता है । निपात, अव्यय या कर्मप्रवचनीयों की दृश्यमान स्वतन्त्र स्थिति भी 'समवाय' में ही महत्वपूर्ण हो पाती है, उसके बिना नहीं । इस समवाय की कार्य-प्रणाली के सम्बन्ध में इस बात को समझ लेना और भी आवश्यक है कि सामान्यतः शब्दों के उच्चरित होते ही जो अर्थ हमें प्रतीत होते हैं, वाक् प्रयोग में, उनमें कुछ न कुछ परिवर्त्तन-परिवर्धन आ जाता है । शब्दों के वाच्य अर्थों के अन्तर्गत उस परिवर्तन-परिवर्धन का समावेश न हो सकेगा । **उसे समवाय का धर्म ही कहेंगे ।**

इन दोनों पर अधिक विचार करने के लिये निम्न वक्तव्य अवधेय है :—

काचिदेव हि साऽवस्था कार्यप्रसवसूचिता ।
कस्यचित्केनचिद्यस्यां संयोग उपजायते ।। वा० ३.३.७ ।।
निरात्मकानामुत्पत्तौ नियमः क्वचिदेव यः ।
तेनैवाव्यपवर्गश्च प्राप्त्यभेदे स यत्कृतः ।। वा० ३.३.८ ।।
आत्मान्तरस्य येनात्मा तदात्मेवावधार्यते ।
यतश्चैकस्य नानात्वं तत्वं नाध्यवसीयते ।। वा० ३.३.९ ।।
तां शक्तिं समवायाख्यां शक्तीनामुपकारिणीम् ।
भेदाभेदावतिक्रान्तामन्यथैव व्यवस्थिताम् ।। वा० ३.३.१० ।।
धर्मः सर्वपदार्थानामतीतः सर्वलक्षणः ।
अनुगृह्णाति सम्बन्धः इति पूर्वेभ्य आगमः ।। वा० ३.३.११ ।।

यहाँ भर्तृहरि अन्तिम श्लोक में प्रत्यक्षतः 'सम्बन्ध' का रूप बता रहे हैं, किन्तु साथ ही साथ वे इसे रूप का 'आगम' भी कह रहे हैं। 'सम्बन्ध' स्वतः पद-पदार्थों से परे की वस्तु है। उसमें 'समवाय', 'संयोग' आदि सभी लक्षणों का अन्तर्ग्रहण हो जाता है, किन्तु वह स्वयं इनसे अतीत है। फिर भी, वह **पदार्थ का धर्म** ही कहलाता है, क्योंकि पद और पदार्थ को परस्पर 'धारण करने' को शक्ति उसी में है। इस 'धर्म (संबन्ध)' की ही एक सर्वप्रमुख शक्ति है 'समवाय'। 'समवाय' एक पृथक् शक्ति है। किन्तु सम्बन्ध उसे अपने दायरे में ही ग्रहण करके स्वीकार कर लेता है । यह **समवाय-शक्ति** भी पर्याप्त व्यापक है। इसी में 'संयोग-विभाग' का अन्तर्भाव भी हो जाता है। 'समवाय' एक प्रकार की अनिवार्य और आवश्यक स्थिति है, जो किसी विशिष्ट कार्य या प्रयोजन की दृष्टि से सूचित होती है। इसे हम 'अवस्था' कह सकते हैं। यहाँ **'कार्य-प्रसव-सूचिता'** शब्द पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिये। पहली वात यह है कि यह 'समवाय' की अवस्था केवल 'सूचित' होती है, वह भी 'कार्य' की प्रायोगिक स्थिति में। हम कुछ ऐसे शब्द बोल डालें, जो हमारे किसी कार्य (अभिधेय) को व्यक्त न कर सकें, तब समवाय की स्थिति न आयेगी। किन्तु, जब हम किसी विशिष्ट 'अभिधेय' को लेकर किसी शब्द या शब्द-समूह को बोलते हैं, तो 'समवाय' की एक अनिवार्य स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इसी 'समवाय' की अवस्था में ही 'किसी का किसी में' **संयोग** उत्पन्न हो जाता है, अर्थात् समवाय की अवस्था में ही 'संयोग' की स्थिति सम्भव होती है।[1] **तस्येदम्** के द्वारा पाणिनि ने 'सम्बन्ध' की व्याख्या की और भर्तृहरि 'किसी का किसी में' कह कर उसी के अन्तवर्त्ती एक अन्य 'विभाग' का उल्लेख करते हैं। 'सम्बन्ध में षष्ठी' को **'षष्ठी शेषे'**[2] कह कर पाणिनि ने 'सम्बन्ध' की

१. वा० ३.३.७. २. पा० २.३.५०.

व्यापकतम व्याख्या कर दी है। **'सम्बन्धः कारकेभ्योऽन्यः, क्रियाकारकपूर्वकः'**[1] तथा **'निमित्तनियमः शब्दात् सम्बन्धस्य न गृह्यते'**[2] इन दो वक्तव्यों के द्वारा 'सम्बन्ध' के इस रूप पर भर्तृहरि ने पर्याप्त प्रकाश डाला है। 'संयोग' की स्थिति केवल कारकों से ही उत्पन्न नहीं होती। कारकों की पहुँच से भी परे जो कुछ बच जाता है, वह 'सम्बन्ध' में ही अन्तर्गृहीत होता है। और, इस 'सम्बन्ध' को किसी निमित्त-भूत नियम के द्वारा बाँधा नहीं जा सकता। अतः 'कारकों' द्वारा सूचित सम्बन्ध में, 'षष्ठी के सम्बन्ध' की पृथक्ता पहचान कर भी, यह जान लेना आवश्यक है कि **षष्ठी का सम्बन्ध ही अन्य सब सम्बन्धों की व्याख्या करने वाला है : व्यतिरेकः सः।**[3] और यह सम्बन्ध 'द्विष्ठ'[4] (उभयपदनिष्ठ) होता है, जब कि 'संयोग' एकपदनिष्ठ होता है। संयोग में प्रत्ययादि का प्रकृत्यादि से जो 'सम्बन्ध' होता है, वह 'संयोग' की परिभाषा में इस लिये आता है कि वह अन्य सहवर्त्ती द्रव्यों से सम्बन्द्ध नहीं होता, या उन पर किसी प्रकार का प्रभाव नहीं छोड़ता। **संयोग एक ऐसी प्रक्रिया है कि जिससे काल, संख्या, कारक, आदि सभी की सूचना दी जा सकती है।** किन्तु यह सूचना जिन तत्त्वों (प्रत्ययादि) द्वारा दी जाती है, वे स्वयं 'निरात्मक' होते हैं।[5] अर्थात्, उनका अपना कोई स्वतन्त्र अस्तित्व, अर्थ और प्रयोग नहीं होता। यह संयोग अधिकांशतः इन प्रत्ययों के द्वारा व्यक्त होता है, किन्तु इनके बिना भी (समासादि रूप में) व्यक्त हो सकता है। प्रत्यक्षतः पदार्थ की जो उपलब्धि 'पद' से हमें होती है, उसमें 'प्रत्यय' का अर्थ 'प्रकृति' के अर्थ से अभिन्न होकर रहता है, पृथक् नहीं। 'प्राप्ति' या उपलब्धि जिस अर्थ की होती है, वह अभिन्न ही रहता है।[6] द्वित्वादि गुणों का भी 'प्रकृति' या 'पद' में संयोग होकर यही स्थिति होती है, वे, अपनी सत्ता पृथक् न रख कर भी, अपनी सूचना प्रकृति या पद के अर्थ से अभिन्न ही देते हैं। अर्थ अविभाज्य है, 'संयोग' तो उसे स्पष्ट-मात्र कर सकता है :

> **द्रव्यत्वसत्तासंयोगाः स्वाधारोपनिबन्धनाः।**
> **तत्प्रदेशविभागाश्च गुणाः द्वित्वादयश्च ये ॥ वा० ३.३. १३ ॥**
> **स्वाश्रयेण तु संयुक्तैः संयुक्तं विभु गम्यते ॥ वा० ३.३.१४ ॥**

कुछ स्थानों पर इस 'संयोग' की स्पष्ट उपस्थिति या संकेत नहीं भी उपलब्ध होता, फिर भी यह सम्बन्ध को सूचित कर ही देता है :

> **अदृष्टवृत्तिलाभेन यथासंयोग आत्मनः।**
> **क्वचित्स्वस्वामियोगाख्यो, भेदेऽन्यत्रापि संक्रमः ॥ वा० ३.३. १३ ॥**

इस प्रकार **संयोग** का मुख्य कार्य है 'सम्बन्ध का स्पष्टीकरण'। यह स्पष्ट होकर

१. वा० ३.७. (शे०) १. २. वा० ३.७. (शे०) ३. ३. ५. वा० ३.७. (शे०) ६.
४. वा० ३.७. (शे०) २. ५. वा० ३.३.८. ६. वा० ३.३.९.

दृष्ट रहे या अदृष्ट, सम्बन्ध से पृथक् इसकी उपयोगिता नहीं। यह 'संयोग' जिस अवस्था में या जिस मुख्या वृत्ति का अंग बन कर इस सम्बन्ध को कर पाने में समर्थ होता है, उसे **समवाय** कहते हैं।

१८३. **अन्वय-व्यतिरेक का आधार : समवाय** – ऊपर 'समवाय' वृत्ति को शक्तियों की उपकारिणी कहा गया है।[1] अर्थात्, तथाकथित शब्द-शक्तियाँ या अन्य शक्तियाँ भी 'समवाय' स्थिति में ही अपना प्रभाव दिखा सकती हैं। 'अन्वय-व्यतिरेक' की स्थिति इसी अवस्था में उत्पन्न होती है। 'गौ' कहने पर, 'गाय' के अतिरिक्त, 'सीधे-सादे व्यक्ति' का ध्यान हमें न आयेगा। परन्तु, 'वह तो निरा गाय है' – कहते ही संयोग-विभाग (या अन्वय-व्यतिरेक) की प्रक्रिया से हम 'सीधा-सादा' अर्थ को पा लेंगे। ये अन्वय-व्यतिरेक वास्तविक न होकर काल्पनिक ही हैं। व्यवहार की सुविधा के लिए ही इन्हें माना गया है: **अन्वयव्यतिरेकौ तु व्यवहारनिबन्धानम्** (वा० २.१२)।

यह प्रक्रिया 'समवाय' की स्थिति में ही सम्भव होती है। हम इसे सम्बन्ध की स्पष्टता कहें या शब्द-शक्ति (लक्षणा) का चमत्कार, यह समवाय की अवस्था में ही सम्भव हो पाता है। सामवायिक संयोग-विभाग को पहचानने के बाद मुख्यार्थ, मुख्यार्थ-बाधा, आदि के प्रश्न स्वतः समाप्त हो जाएँगे। वहाँ शेष रह जाते हैं **वाच्य या अवाच्य**। जब सामान्य रूप से 'वाच्य' भी हमारे सामने स्पष्ट नहीं हो पाता (अवाच्य-सा रह जाता है), तब यह समवाय की दशा ही उसे स्पष्ट (वाच्य) कर देती है। और, कई बार हम सामान्यतः 'वाच्य' समझे जाने वाले अर्थ को 'अवाच्य' रखना चाहते हैं, तब भी 'समवाय' की अवस्था ही इस प्रयोजन की सिद्धि में समर्थ होती है (वा० ३.३.२०–२१)। अवाच्य को वाच्य और वाच्य को अवाच्य बना देने वाली स्थिति क्या शब्द-शक्तियों से ऊपर – **भेदाभेदाऽतिक्रान्ता** – नहीं है? उनमें सापेक्षिकता की आधायक इस वृत्ति को 'वाच्य' की सीमा में इसलिए नहीं लाया जा सकता, क्योंकि उसकी स्वतः पूरी-पूरी व्याख्या नहीं की जा सकती। प्रयोक्ता और ग्रहीता, इसे प्रतिक्षण व्यवहार में लाकर भी, इसकी व्याख्या शब्दों द्वारा नहीं कर सकते। इस प्रकार यह एक 'प्राप्तिमात्र' है, अनुभूतिमात्र:

प्राप्तिं तु समवायाख्यां वाच्यधर्मातिवर्तिनीम्।
प्रयोक्ता प्रतिपत्ता वा न शब्दैरनुगच्छति ॥ वा० ३.३.१९ ॥

समवाय कोई विशिष्ट प्रकार का सम्बन्ध नहीं है, और न ही 'सम्बन्ध' से पृथक् उसकी स्वतन्त्र सत्ता है। संयोग-वियोग द्वारा स्पष्ट होकर भी वह कोई विशिष्ट और पृथक् सत्ता नहीं है : **सयवायस्य सम्बन्धो नाऽपरस्तत्र दृश्यते**।[2] इसी समवाय-वृत्ति या अवस्था का सम्बन्ध-विवेचन में अन्तर्ग्रहण सम्भव होता है। ऐसा 'सम्बन्ध' स्वयं,

---

१. वा० ३.३.१०. २. वा० ३.३.१४.

पदार्थ का विषय न होकर, **अपदार्थीकृत** है। इसी रूप में वह ग्राह्य है।[1] अतः 'सम्बन्ध' और उसमें अन्तर्गृहीत 'समवाय और संयोग', पद और पदार्थ से व्यतिरिक्त, कोई सत्ता नहीं रखते। बल्कि उनमें परस्पर, और पद-पदार्थ के साथ उपकार्य-उपकारक सम्बन्ध है; या यूँ कह लें कि वे उसके 'धर्म' हैं।[2] लौकिक-व्यवहार उस धर्म के बिना, भाषा-माध्यम से, सम्भव ही नहीं। इस **स्व-धर्म** की उपलब्धि के बाद ही 'ज्ञान' या 'अर्थ' निर्णीत, या निश्चित रूप में मान्य, और स्थिर कहा जा सकता है। क्योंकि समस्त संशयों-सन्देहों के निवारण में यह सम्बन्ध-ज्ञान ही समर्थ हो पाता है :

यदा च निर्णयज्ञाने निर्णयत्वेन निर्णयः।
प्रकम्प्यते तदा ज्ञानं स्वधर्मणावतिष्ठते ॥ वा० ३.३.२४ ॥

ज्ञान की पवित्रता और उसका 'स्व-धर्म' (स्वरूप) इसी सम्बन्ध-रूप धर्म के सही ज्ञान और विनिश्चिय के बाद सम्भव होता है। अन्यथा, संशयों की एक अनवच्छिन्न परम्परा चल पड़ती है, जिसकी समाप्ति होनी असम्भव होती है। हमारा तर्क उलझता चलता है। अतः **स्व-रूप** की उपलब्धि इसी 'सम्बद्ध' अर्थ की उपलब्धि होने पर ही सम्भव है। उसकी उपलब्धि में ही सब संशय समाप्त हो जाते हैं।

न हि संशयरूपेऽर्थे शेषत्वेन व्यवस्थिते।
अव्युदासे स्वरूपस्य संशयोऽन्यः प्रवर्त्तते ॥ वा० ३.३.२३ ॥
स्वरूपेषूपलब्धेषु व्यभिचारो न विद्यते ॥ वा० ३.३.२ ॥

१८४. **अनेकार्थक शब्दों की समस्या** — युक्तिक्रम की इस सरलता के बाद एक नया प्रश्न उठ खड़ा होता है : क्या अनेकार्थक शब्दों की सत्ता ही नहीं है? और, यदि अनेकार्थक शब्दों की सत्ता है, तो, 'वाच्य' अर्थ के रूप में, उनमें से एक का सामने आना, तथा अन्यों का पीछे छिपकर रहना, कैसे सम्भव हो पाता है? भर्तृहरि इसका उत्तर देते हैं : अनेकार्थक शब्द भी होते हैं और समानार्थक भी; परन्तु उनमें कौन सा अर्थ वाच्य बन कर सामने आये?, इसका निर्णय पाठक की **प्रयोग-भावना** (विनि-योग) पर आधारित होता है :

बहुष्वेकाभिधानेषु सर्वेष्वेकार्थकारिषु।
यत्प्रयोक्ताऽभिसन्धत्ते शब्दस्तत्रावतिष्ठते ॥ वा० २.४०९ ॥

वक्ता का यह 'विनियोग' जिस एक अर्थ को सामने लाता है, उसे सामने लाने में दो नियम काम करते हैं : **उपचार** और **प्रतिचार**। 'उपचार' वह धर्म है, जिसके कारण अन्य अर्थों की अपेक्षा अभिधेय या वाच्यार्थ ही प्रमुखता ग्रहण करके सामने आ पाता है। भर्तृहरि इसे पदार्थ की 'सत्ता' मानते हैं। हम इसे 'औपचारिकी सत्ता' कह सकते हैं।

---

१. वा० ३.३.१२. २. वा० ३.३.६.

व्यपदेशे पदार्थानामन्या सत्तौपचारिकी ।
सर्वावस्थासु सर्वेषामात्मरूपस्य दर्शिका ।। वा० ३.३.३९ ।।

इस सत्ता या नियम और कार्य नीरंग स्फटिक जैसे होता है । शब्द का किसी विशेष अर्थ से सम्बन्ध न मान कर उसे स्वच्छ-स्फटिक की भाँति माना गया है । वक्ता उसमें जिस भावना का विनियोग (निधान) करके उसका प्रयोग करता है, वही उसका अर्थ मुख्य हो जाता है और सामने आ जाता है :

स्फटिकादि यथा द्रव्यं भिन्नरूपैरुपाश्रयैः ।
स्वशक्तियोगात्सम्बन्धस्ताद्रूप्यमुपगच्छति ।। वा० ३.३.४० ।।

इसकी विपरीत दिशा में एक दूसरी सत्ता या नियम का भी काम चलता रहता है । इसे 'प्रतिचार' या 'प्रातिचारिकी सत्ता' कहा जा सकता है । प्रतिषेध्य या अवांछित अर्थ को निषिद्ध एवं अपहित करने में यही नियम काम करता है । वक्ता की उसके विनियोग के प्रति अनुत्सुकता ही किसी भी अर्थ को दबाने या छिपाने का आधार बनती है । इसे ही 'प्रतिचार' कहते हैं :

एवं च प्रतिषेध्येषु प्रतिषेधप्रक्लृप्तये ।
आश्रितेषूपचारेण प्रतिचारः प्रवर्त्तते ।। वा० ३.३.४२ ।।

इस प्रकार अनेकार्थक शब्दों में समस्या किसी अर्थ के सामने आने या न आने की है, 'अवाच्य' कहलाने की नहीं । अभाव की कोई अवस्था होती ही नहीं । 'अभाव' का अर्थ है 'भाव का न होना' । जब 'भाव' या 'सत्' का विनाश नहीं हो सकता, और 'असत्' या 'अभाव' से 'भाव' या 'सत्' की उत्पत्ति नहीं हो सकती, तो चाहे सापेक्ष रूप में ही सही, किसी 'अर्थ' को अभाव-सूच्य (अवाच्य रूप में) कैसे स्वीकार किया जा सकता है ? कभी न कभी तो वह प्रयोज्य होता ही है । फिर, व्यावहारिक रूप में भाव-अभाव (अथवा वाच्य-अवाच्य आदि) का व्यवहार एक ही वस्तु की दो सापेक्ष स्थितियाँ मात्र बताने के लिए होता है ।[1]

इस प्रकार वाच्य और अवाच्य, वस्तुतः, पृथक् एवं अप्रयुक्त अर्थों की स्थिति को स्पष्ट करने के लिये ही दो शब्द चुन लिये गये हैं । वास्तव में वे सभी अर्थ कभी न कभी 'वाच्य' बन कर ही व्यवहृत होते हैं ।

१८५. शब्द शक्ति और वाच्य-वाचक भाव – और, जब ऐसा है तब शब्द-शक्तियों की मान्यता का प्रश्न भी उठ सकता है । डा० कपिलदेव द्विवेदी[2] तथा अन्य अनेक विद्वानों ने भर्तृहरि को भी इस विषय में परम्परावादी ही सिद्ध किया है तथा उसे शब्द-शक्तियों का व्याख्याता माना है । उस प्रकार के निर्णय में सत्य का अंश कितना है ?,

---

१. वा० ३.३.५९, ६०, ७२. २. 'अर्थ० व्याक०', 'शब्दशक्ति' अध्याय-६ ।

इस प्रश्न पर हम आगे विवेचना करेंगे।[1] 'व्यंग्य-व्यंजक भाव' और 'ध्वनि' का सम्बन्ध आलंकारिकों की भाषा में, स्वीकार न करने वाले भर्तृहरि 'व्यंजना' या 'ध्वनि' शब्दों को 'शब्द-शक्ति' के रूप में मानते हैं, ऐसा कहने का साहस हम नहीं कर सकते। इसी सत्य को आचार्य रामगोविन्द शुक्ल ने भी स्वीकार किया है।[2] 'लक्षणा' की उपयोगिता, भर्तृहरि की दृष्टि में, कितनी होनी चाहिये, यह इसी से सिद्ध है कि वे 'गौ' में 'वाहीक' एवं 'धेनु' अर्थों की उपस्थिति को, एक ही मूल आधार पर आश्रित, स्वीकार करते हैं।[3] हाँ, उनमें से एक के सामने आने या न आने का कारण विनियोग,[4] और लोक-व्यवहार आदि को अवश्य मानते हैं। अर्थों की मुख्यता-गौणता की भावना ही इसी लोक-व्यवहार या लोकानुगमन एवं विनियोग पर आधारित रहती है (वा० २.२६५)। अतः, उनकी दृष्टि में 'एक ही' शब्द-शक्ति या अर्थ-नियम है : 'अभिधा', और एक ही सम्बन्ध है : वाच्य-वाचक भाव (२. ४०८)।

१८६. **अर्थप्रतीति के प्रेरक कारण** — भर्तृहरि ने किसी विशिष्ट अर्थ को लाने वाली औपचारिकी सत्ता या 'उपचार' का ही वर्णन नहीं किया, बल्कि उस सत्ता के सहायक तत्वों का भी उल्लेख किया है। प्रतिपत्ता या ग्रहीता, उन्हीं के आधार पर, प्रयोक्ता की भावना तक पहुँचने में समर्थ हो पाता है। वाक्य, प्रकरण, अर्थ, औचित्य, देशकाल संसर्ग, विप्रयोग, साहचर्य, विरोध, लिंग, अन्य-संनिधि, सारूप्य, वैरूप्य, आदि के द्वारा ही शब्द का वास्तविक अर्थ-विनिश्चय होता है। केवल शब्द के रूप का ही अर्थ-विनिश्चय से सम्बन्ध नहीं है (वा० २.३१६-३१९)। चाहे 'अभिधा' हो या तथाकथित लक्षणा और व्यंजना, उन सब के अर्थ-विनिश्चय में उपरोक्त तत्व ही सहायता पहुँचाते हैं। और, जब ऐसा है तब एक को 'सीधा' (वाच्य) दूसरे को 'सम्बद्ध' (लक्ष्य) एवं तीसरे को 'अकथित' (व्यंग्य) अर्थ की प्रतीति कराने वाली शक्ति-विशेष कहना या मानना सर्वथा भ्रमावह ही है। उपरोक्त तत्वों के प्रभाव से जो भी अर्थ 'प्रत्यक्ष' या 'प्रतीत' होता है, वही 'वाच्य' है। 'वाच्य' का सम्बन्ध शब्द-रूप से है और अन्यों का नहीं, ऐसा मानना भी सर्वथा अनुचित है। न वाच्य अर्थ शब्द के 'रूप' पर आधारित रहता है, न कोई तथाकथित अन्य अर्थ रह सकता है। **अर्थमात्र के निर्धारण एवं स्वरूप-निश्चय में उपरोक्त सत्यों की उपस्थिति अत्यावश्यक एवं अनिवार्य है।**

अतः अर्थ 'वाच्य' ही हो सकता है और 'शब्दशक्ति' (यदि उसे 'शक्ति' ही कहने का हठ हो) 'अभिधा' ही होगी।

१८७. **शब्द-शक्तियाँ उपाय-मात्र हैं** — और, फिर 'शब्द-शक्तियों' की सत्ता तो रह भी नहीं जाती। इन की सत्ता का प्रश्न ही 'वाक्-प्रयोग' की दशा में उठता है।

१. अध्याय-१३, 'शब्दशक्ति'।
२. 'वाक्यपदीय : ब्रह्मकाण्ड' (चौखम्बा सीरीज) भूमिका, पृ० १९।
३. वा० २.२५४, २५५.
४. वा० २.४०६.

अन्यथा शब्द को जिस सीधे रूप में हम ग्रहण करते हैं, वह 'शब्दार्थ' ही कहलाता है।
उसके 'पद' रूप में परिवर्तित होने पर, उसका 'शब्दार्थ' महत्व हीन हो जाता है।
अब वह 'वाक्य' और 'वाक्यार्थ' का अविच्छेद्य अंग बन जाता है। और, वाक्यार्थ
'वाच्यार्थ' ही होता है; क्योंकि प्रयोक्ता उसे ही कहना चाहता है। 'वाक्यार्थ' के विषय
में यदि 'लक्ष्य' या 'व्यंग्य' का प्रश्न उठाया जाये, तब भी विचार्य है। उससे पृथक्
रूप में शब्दों या पदों की विविध प्रकार की शक्ति अथवा अर्थ की कल्पना व्यर्थ है ही,
अव्यावहारिक भी है (वा० २.३२६)। इसीलिये भर्तृहरि को कहना पड़ा है कि जिस
अर्थ को हम अप्रयुक्त पद पर आश्रित समझते हैं, और इसीलिए 'अनुमान' को उसकी
अर्थोपलब्धि का कारण मानते हैं, वह भी वास्तव में सामान्य 'अर्थ' ही है (वा० २.
३२९)। उसे कुछ और समझना भ्रामक है, क्योंकि वाक्याङ्ग रूप में, या स्वतन्त्र रूप
में, शब्द के उच्चरित होते ही वह अर्थ प्रतीत हो जाता है (वा० २.३३०)। भर्तृहरि
तो 'अनुमान' और तथाकथित 'अप्रयुक्त-पद-कल्पना' की बात को 'शब्द-शक्ति' का नाम
देने वालों को एक ही उत्तर देते हैं : 'यह प्रतिपत्ता या ग्रहीता की अशक्ति है, कि वह
ऐसा समझता है (वा० १.८६; २.४१७)।' उसकी दृष्टि में वे 'शब्द-शक्तियाँ' न होकर
'प्रतिपत्ति की उपायभूत' प्रतिपत्ता की 'अशक्ति' ही हैं।' 'उपाय' की व्याख्या स्वयं
भर्तृहरि इस प्रकार करते हैं : 'कार्यसिद्धि के लिये अवलम्ब देकर भी जो त्याज्य होते
हैं' (वा० २.३८)। और, किसी भी उपायभूत वस्तु को नियम नहीं माना जा
सकता।

अतः शब्दार्थ-सम्बन्ध केवल 'वाच्य-वाचक' ही है : शब्द है वाच्य अर्थ का प्रत्यायक और वाच्य अर्थ है प्रत्याय्य।

शब्द-शक्ति

१८८. **भर्तृहरि की मान्यता** – अर्थ के स्वरूप, उसके भेदों और उसके शब्द से सम्बन्ध पर विचार करते हुए **शब्द-शक्तियों** की चर्चा बार-बार आई है। भर्तृहरि से पहले यह धारणा बद्धमूल हो चुकी थी। पहले-पहल मीमांसा दर्शन में इसे पृथक्-व्यक्तित्व दिया गया। वहाँ लक्षणों को गिना कर, उन्हें अर्थ-विनिश्चय का आधार स्वीकार किया गया। बाद में आनन्दवर्धन और भामह आदि ने भी इस सम्बन्ध में विचार व्यक्त किये। किन्तु, भर्तृहरि ने लक्षणा, व्यंजना और ध्वनि आदि की सत्ता को स्वीकार करने से निषेध कर दिया हैं। वे 'वाच्य' और 'अभिधेय' को मुख्यता देते थे। 'वाच्य' की पहुँच से जो कुछ भी शेष रह जाता है, वह 'अवाच्य' ही है। अतः उसकी मान्यता अथवा 'बाधा' आदि की स्वीकृति, की आवश्यकता को भर्तृहरि अनुभव नहीं करते। उनकी इन धारणाओं को संक्षेप में पृष्ठभूमि सहित देख लेना अधिक उचित होगा।

१८९. **शब्द और अर्थ** – भर्तृहरि जब शब्द को अर्थ का कारण एवं अर्थ को शब्द का कारण मानते हैं,[1] तब वस्तुतः वे एक मूल समस्या पर विचार कर रहे होते हैं। उन का हल सीधा और सरल है—शब्द है ही अर्थ-भावना।[2] शब्द 'बुद्ध्यर्थ' को दिया गया एक 'रूप' है। कुछ लोग इस 'रूप' में ही अटक कर रह जायें, उनके लिए बाह्यार्थ ही सब कुछ रह जाये, तो प्रयोक्ता का क्या दोष ? वह तो शब्दों का उच्चारण एक माध्यम रूप में करता है, अपनी भावनाओं (बुद्ध्यर्थ) के परिवहन के लिए। यदि ग्रहीता, उसकी भावनाओं (बुद्ध्यर्थ) तक न पहुँच कर, शब्द के आकार और प्रकृति-प्रत्ययादि के कल्पित अर्थों में अटक कर रह जाता है, तो वह उस 'स्व-रूप', 'अर्थ-भावना', 'विषय-भावना' या 'बुद्ध्यर्थ' से परिचित नहीं हो पाता। यह 'बुद्ध्यर्थ' ही प्रयोक्ता और ग्रहीता को सम धरातल पर लाने की एक भूमिका है। 'बाह्य-रूप' इसे ही बाँधने के उपक्रम-मात्र हैं। उन्हें स्वयं में एक 'अन्त' नहीं मान लेना चाहिए।

१९०. **स्फोट साध्य नहीं** – 'शब्द' के उच्चरित होते ही हम किसी एक अर्थ से परिचित हो जाते हैं। इसे 'स्फोट' कह सकते हैं। किन्तु, जिस प्रकार नाद मिटकर भी एक हलके से ध्वनि-कम्पन को हमारी चेचना में तरंगित कर जाते हैं, उसी प्रकार यह स्फोट भी एक प्रकार के 'ध्वनि-कम्पन' को, अर्थ-चेतना के विविधतामय-विस्तार के रूप में, जन्म देता है, जिसकी अंतिम परिणति स्व-रूप' या 'अभिधेय' की आत्मा

---

१. वा० ३.३.३२. २. वा० १.१२२.

(वृत्ति) की उपलब्धि के रूप में होती है। इस प्रकार उच्चरित शब्द का अन्तिम लक्ष्य है **स्वरूपोलब्धि** या 'अभिधेय' की प्राप्ति।

१९१. **वाच्य-वाचक-सम्बन्ध** — शब्द और अर्थ का सामान्यतम सम्बन्ध 'वाच्य-वाचक सम्बन्ध' ही हो सकता है। यही सम्बन्ध सर्व-व्यापी भी है। कारण यह कि प्रयोक्ता प्रायः शब्द-प्रयोग किसी विशिष्ट अर्थ को लक्ष्य करके ही करता है। ऐसा करते हुए वह उस शब्द को एक अर्थ में नियमित कर बैठता है और वह शब्द इस प्रकार, उस 'नियमित' (अभिसंहित) अर्थ का वाचक बन जाता है।

यथा प्रणिहितं चक्षुर्दर्शनायोपकल्पते।
तथाऽभिसंहितः शब्दो भवत्यर्थस्य वाचकः॥ वा० २.४०७॥

प्रत्येक शब्द इस प्रकार के 'वाच्य-अर्थ' से संनिविष्ट अवश्य रहता है। परन्तु, वाक्य में उसकी सत्ता किसी स्वतन्त्र 'वाच्य' को न कह कर, 'वाक्य' के सामूहिक 'वाक्य' को प्रकट करने के लिए ही रह जाती है: **एक साधारणो वाच्यः प्रतिशब्दमवस्थितः** (वा० ४०१)।

इसका अर्थ यह नहीं कि हम जो भी शब्द प्रयोग करते हैं, उनका कोई अन्य अर्थ या अर्थात्मक-सम्बन्ध होता ही नहीं। जब हम शब्द को एकाकी प्रयोग करते हैं, तो निश्चय ही हमारी दृष्टि किसी अर्थ-विशेष में केन्द्रित रहती है। अकेला उच्चरित होता हुआ शब्द किसी न किसी अर्थ भावना से संयुक्त ही होता है। शब्द का उच्चारण बिना अर्थ-भावना के हो ही नहीं सकता। ऐसी 'अर्थ-भावना' जिसका आभास शब्द-मात्र से ही हो जाए, और जिसके लिए प्रकरण आदि की अधिक अपेक्षा न की जाये, साधारणतः 'वाच्य' ही कहलाती है। किन्तु शब्द जब अन्य शब्दों के साथ मिल कर या 'वाक्यार्थ-भावना' का अंग बन कर सामने आता है, तब उस के इस 'वाच्य' अर्थ में प्रकरणादि-सापेक्ष अन्तर आ ही जाता है। अर्थ तो तब भी 'वाच्य' ही कहलायेगा; यद्यपि उसका आधार, केवल शब्द का उच्चारण न होकर, अन्य सहवर्ती शब्दों को भी मानना पड़ेगा। 'वाच्य-वाचक' सम्बन्ध के विषय में शब्दों के वर्णात्मक अर्थों या प्रकृति-प्रत्ययादि-जन्य अर्थों को जो मान्यता दी गई है, भर्तृहरि ऐसी 'वाचकता' के विरोधी हैं:

नार्थवत्ता पदे वर्णे वाक्ये चैवं विशिष्यते।
अभ्यासात्प्रक्रमोऽन्यस्तु विरुद्ध इव दृश्यते॥ वा० २. ४०५॥

वास्तव में इस वाच्य-वाचक-सम्बन्ध की तीन शर्तें हैं, जिनसे किसी भी शब्द का अर्थ-विनिश्चय हो सकता है। इन तीनों शर्तों को जानने के बाद तथाकथित लाक्षणिक और 'व्यंग्य' अर्थों सम्बन्धी अपनी धारणा में हमें बहुत कुछ सुधार करना होगा। ये तीन शर्तें हैं: (१) संज्ञा का क्रिया से सम्बन्ध, (२) किसी न किसी अर्थ का प्रति-

पादन, और (३) विनियोग या प्रयोग भेद ।

अभिधानक्रियाभेदादर्थस्य प्रतिपादकात् ।
नियोगभेदान्मन्यन्ते तानेकत्वदर्शिनः ॥ वा० २. ४११ ॥

१६२. **मुख्यार्थ : गौणार्थ** – इस प्रकार वाच्य-वाचक सम्बन्ध, किसी विशिष्ट शक्ति का चमत्कार न होकर, शब्द और अर्थ का स्वाभावाविक सम्बन्ध है। वह शब्द का अभिधेय से सीधा सम्बन्ध रखता है। इसीलिए उसे 'सह-ज नियम' कहा जा सकता है। प्रयोग या जन-भाषा को उसका 'नियामक' कहा जा सकता है। जन-प्रयोग की इस युक्ति में, जब कुछ शब्द किन्हीं अर्थों में अधिक प्रसिद्ध अथवा अप्रसिद्ध हो उठते हैं, तब प्रसिद्धि-प्राप्त को 'मुख्य' तथा कम प्रसिद्ध को 'गौण' कहा जाता है। देखना यह है कि यह प्रसिद्धि और अप्रसिद्धि भी प्रकरण, स्थान, आदि पर आधारित होती है। अवसरादि का ध्यान न रखने पर यदि हम किसी शब्द के अन्यत्र प्रसिद्ध अर्थ को अन्यत्र ही 'मुख्य' बना बैठे, तो हमारा अपना भ्रम होगा। वास्तव में न कोई अर्थ 'गौण' है, न कोई मुख्य। अर्थ-सिद्धि का आधार है 'प्रसिद्धि'। यदि प्रसिद्धि के आधार पर अर्थसिद्धि होती है, तो उस वाच्य-अर्थ को ही 'मुख्यार्थ', अन्यथा अ-प्रसिद्धि के आधार पर अर्थ-सिद्धि होने पर, 'वाच्य' अर्थ को ही 'गौणार्थ', कह दिया जाता है : 'सिद्ध्यसिद्धिकृता तेषां गौणमुख्यप्रकल्पना'।[1]

यदि ऐसा न होता तो शब्द के पद-रूप में परिवर्त्तन अथवा लिंग-वचन-कारक आदि के प्रयोग की आवश्यकता ही न रहती। प्रयोग और व्यवहार में इन सबकी उपलब्धि ही 'वाच्यार्थ' की सूचिका रहती है। केवल 'रूप' इनकी 'सत्ता' का द्योतक हो सकता है, अर्थ का द्योतक नहीं।

नामाख्यातसरूपा ये कार्यान्तरनिबन्धनाः ।
शब्दा वाच्याश्च तेष्वर्थो न रूपादधिगम्यते ॥ वा० २.३१६ ॥

इसलिए 'वाच्यार्थ' की सत्ता होते हुए भी 'गौण-मुख्य' का यह भेद केवल व्यवहार-सौकर्य के लिए ही होता है। इन्हें वास्तविक मानकर 'लक्ष्य' आदि अर्थों की पृथक्-कल्पना कर बैठना उचित नहीं। इस दृष्टि से 'बैल' का अर्थ 'पशु विशेष' भी है, और 'जड़, मतिमन्द' भी। कहीं 'पशु-विशेष' मुख्यार्थ का सूचक हो सकता है, तो अन्यत्र 'जड़ता-मन्दता' आदि की सूचना मुख्य हो जाती है। अधिक प्रचलन और प्रसिद्धि के कारण हम एक प्रदेश में 'पशु' वाले अर्थ को 'मुख्य' मान लेते हैं, परन्तु किसी अन्य प्रदेश में वही 'मुख्यता', अधिक-प्रसिद्धि के कारण, 'जड़' आदि अर्थों को प्राप्त हो जाती है। ये सब शब्द एक दूसरे के पर्याय से प्रतीत होते हैं, किन्तु अर्थ, प्रकरण, द्वारा इनका स्थान-स्थान पर नियमन होता है।[2]

---

१. वा० २.२६५.   २. वा० २.३३५.

१६३. **वृत्ति या अभिधेय** – भर्तृहरि से बहुत पहले ही 'पद' की प्रवृत्ति 'संहिता' मानी जा चुकी थी। अर्थात्, अभिधेय का अंशभूत उसे स्वीकार किया गया था। दूसरे शब्दों में, 'शब्द' के रूप में पद के अस्तित्व को स्वीकार करके भी उसे वक्तव्य का अविभाज्य-अंश स्वीकार किया था। इसीलिए शब्द को 'प्रातिपदिक' मान कर 'पद' रूप को पाने के लिये पाणिनि ने उसके 'संस्कार' को आवश्यक माना। पाणिनि के बाद आने वाले महाभाष्यकार पतंजलि ने 'वृत्ति' का अर्थ लिया 'वक्तव्य'। पाणिनि ने 'सूत्र' कहे थे, वक्तव्यों के इंगितमात्र। उनकी 'वृत्ति' अन्तर्हित ही थी। पतंजलि ने उनकी 'वृत्ति' को प्रकाशित किया। पर इससे पूर्व कात्यायन उन सूत्रों की 'वृत्ति' के व्याख्यात्मक 'वार्तिक' बना चुके थे। पाणिनि से पतंजलि तक की यह परम्परा उत्तर काल में सूत्रों की 'वृत्ति' और 'उदाहरण' के रूप में स्थिर हो गई। भर्तृहरि ने इसे भाषा के दैनिक प्रयोग की 'वृत्ति' से अ-भिन्न सिद्ध कर दिया। हम जो कुछ भी बोलते हैं, वह भी तो सूत्र रूप होता है। अतः जो कुछ हम कहना चाहते हैं, वह उसकी 'वृत्ति' है। इस 'वृत्ति' को ही हम 'अभिधेय' कह सकते हैं। उस 'अभिधेय' या वृत्ति के प्रकाश में ही हमारे सूत्र-रूप वचनों का स्पष्टीकरण हुआ करता है। वास्तव में यह 'वृत्ति' समुदाय में ही स्पष्ट हो पाती है।

समुदायमुपक्रम्य पदं तस्यां प्रयुज्यते ॥ वा० ३. ३. ३५ ॥

इस प्रकार 'अर्थ' को ही 'वृत्ति' या 'अभिधेय' कहा गया है। पद का अपना अर्थ अलग से कुछ नहीं होता। पद इसी अर्थ का अभिधान करता है। यह 'अर्थ' ही वाक्य का 'प्रयोजन' होता है। अर्थात्, अभिधेय भावना से ही पद और वाक्य की सत्ता है। इस प्रकार 'पद' हो या 'वाक्य', उनकी सत्ता इस 'अभिधेय' या 'वृत्ति' की दृष्टि से, एक है 'नार्थवत्ता पदे वर्णे' (वा० २.४०५) आदि का यही अर्थ है। उन्होंने उसे अधिक स्पष्ट करके इस प्रकार कहा है :

तथा पदानां सर्वेषां पृथगर्थनिवेशिनाम्।
वाक्येभ्यः प्रविभक्तानामर्थवत्ता न विद्यते ॥ वा० २. ४२७ ॥

'अर्थ' या 'वृत्ति' से अलग करके ही 'पदार्थों' की पृथक् कल्पना स्वीकार की जाती है, और इसके लिये 'अपोद्धार' नामक शक्ति या धर्म की कल्पना करनी पड़ती है। वास्तव में 'वृत्ति' या 'अभिधेय' अविभाज्य और अविकल है।

१६४. **'वृत्ति' उपेक्षणीय नहीं** – यह सब चर्चा इसलिए करनी पड़ी कि यह जाना जा सके, कि जो भर्तृहरि शब्दों की 'पद' रूप में पृथक्-सत्ता ही स्वीकार नहीं करते, वे उनके लक्षक-व्यंजकादि भेदों को स्वीकार कैसे कर सकते हैं ? उनकी दृष्टि में अर्थ या 'वृत्ति' एक है और, अर्थ की उस एकता के रहते, अर्थ को लक्ष्य, व्यंग्य, आदि भेदों में बाँटना उचित नहीं। वह सदा ही 'अभिधेय' है। हम 'अभिधान' चाहे पद को कहें

पादन, और (३) विनियोग या प्रयोग भेद।

अभिधानक्रियाभेदादर्थस्य प्रतिपादकात्।
नियोगभेदान्मन्यन्ते तानेकत्वदर्शिनः ॥ वा० २. ४११ ॥

१९२. **मुख्यार्थ : गौणार्थ** – इस प्रकार वाच्य-वाचक सम्बन्ध, किसी विशिष्ट शक्ति का चमत्कार न होकर, शब्द और अर्थ का स्वाभावाविक सम्बन्ध है। वह शब्द का अभिधेय से सीधा सम्बन्ध रखता है। इसीलिए उसे 'सह-ज नियम' कहा जा सकता है। प्रयोग या जन-भाषा को उसका 'नियामक' कहा जा सकता है। जन-प्रयोग की इस युक्ति में, जब कुछ शब्द किन्हीं अर्थों में अधिक प्रसिद्ध अथवा अप्रसिद्ध हो उठते हैं, तब प्रसिद्धि-प्राप्त को 'मुख्य' तथा कम प्रसिद्ध को 'गौण' कहा जाता है। देखना यह है कि यह प्रसिद्धि और अप्रसिद्धि भी प्रकरण, स्थान, आदि पर आधारित होती है। अवसरादि का ध्यान न रखने पर यदि हम किसी शब्द के अन्यत्र प्रसिद्ध अर्थ को अन्यत्र ही 'मुख्य' बना बैठे, तो हमारा अपना भ्रम होगा। वास्तव में न कोई अर्थ 'गौण' है, न कोई मुख्य। अर्थ-सिद्धि का आधार है 'प्रसिद्धि'। यदि प्रसिद्धि के आधार पर अर्थ सिद्धि होती है, तो उस वाच्य-अर्थ को ही 'मुख्यार्थ', अन्यथा अ-प्रसिद्धि के आधार पर अर्थ-सिद्धि होने पर, 'वाच्य' अर्थ को ही 'गौणार्थ', कह दिया जाता है : 'सिद्ध्यसिद्धिकृता तेषां गौणमुख्यप्रकल्पना'।[1]

यदि ऐसा न होता तो शब्द के पद-रूप में परिवर्त्तन अथवा लिंग-वचन-कारक आदि के प्रयोग की आवश्यकता ही न रहती। प्रयोग और व्यवहार में इन सबकी उपलब्धि ही 'वाच्यार्थ' की सूचिका रहती है। केवल 'रूप' इनकी 'सत्ता' का द्योतक हो सकता है, अर्थ का द्योतक नहीं।

नामाख्यातसरूपा ये कार्यान्तरनिबन्धनाः।
शब्दा वाच्याश्च तेष्वर्थो न रूपादधिगम्यते ॥ वा० २.३१९ ॥

इसलिए 'वाच्यार्थ' की सत्ता होते हुए भी 'गौण-मुख्य' का यह भेद केवल व्यवहार-सौकर्य के लिए ही होता है। इन्हें वास्तविक मानकर 'लक्ष्य' आदि अर्थों की पृथक्-कल्पना कर बैठना उचित नहीं। इस दृष्टि से 'बैल' का अर्थ 'पशु विशेष' भी है, और 'जड़, मतिमन्द' भी। कहीं 'पशु-विशेष' मुख्यार्थ का सूचक हो सकता है, तो अन्यत्र 'जड़ता-मन्दता' आदि की सूचना मुख्य हो जाती है। अधिक प्रचलन और प्रसिद्धि के कारण हम एक प्रदेश में 'पशु' वाले अर्थ को 'मुख्य' मान लेते हैं, परन्तु किसी अन्य प्रदेश में वही 'मुख्यता', अधिक-प्रसिद्धि के कारण, 'जड़' आदि अर्थों को प्राप्त हो जाती है। ये सब शब्द एक दूसरे के पर्याय से प्रतीत होते हैं, किन्तु अर्थ, प्रकरण, द्वारा इनका स्थान-स्थान पर नियमन होता है।[2]

---

१. वा० २.२६५.   २. वा० २.३३५.

१६३. वृत्ति या अभिधेय – भर्तृहरि से बहुत पहले ही 'पद' की प्रवृत्ति 'संहिता' मानी जा चुकी थी। अर्थात्, अभिधेय का अंशभूत उसे स्वीकार किया गया था। दूसरे शब्दों में, 'शब्द' के रूप में पद के अस्तित्व को स्वीकार करके भी उसे वक्तव्य का अविभाज्य-अंश स्वीकार किया था। इसीलिए शब्द को 'प्रातिपदिक' मान कर 'पद' रूप को पाने के लिये पाणिनि ने उसके 'संस्कार' को आवश्यक माना। पाणिनि के बाद आने वाले महाभाष्यकार पतंजलि ने 'वृत्ति' का अर्थ लिया 'वक्तव्य'। पाणिनि ने 'सूत्र' कहे थे, वक्तव्यों के इंगितमात्र। उनकी 'वृत्ति' अन्तर्हित ही थी। पतंजलि ने उनकी 'वृत्ति' को प्रकाशित किया। पर इससे पूर्व कात्यायन उन सूत्रों की 'वृत्ति' के व्याख्यात्मक 'वार्तिक' बना चुके थे। पाणिनि से पतंजलि तक की यह परम्परा उत्तर काल में सूत्रों की 'वृत्ति' और 'उदाहरण' के रूप में स्थिर हो गई। भर्तृहरि ने इसे भाषा के दैनिक प्रयोग की 'वृत्ति' से अ-भिन्न सिद्ध कर दिया। हम जो कुछ भी बोलते हैं, वह भी तो सूत्र रूप होता है। अतः जो कुछ हम कहना चाहते हैं, वह उसकी 'वृत्ति' है। इस 'वृत्ति' को ही हम 'अभिधेय' कह सकते हैं। उस 'अभिधेय' या वृत्ति के प्रकाश में ही हमारे सूत्र-रूप वचनों का स्पष्टीकरण हुआ करता है। वास्तव में यह 'वृत्ति' समुदाय में ही स्पष्ट हो पाती है।

समुदायमुपक्रम्य पदं तस्यां प्रयुज्यते ॥ वा० ३. ३. ३५ ॥

इस प्रकार 'अर्थ' को ही 'वृत्ति' या 'अभिधेय' कहा गया है। पद का अपना अर्थ अलग से कुछ नहीं होता। पद इसी अर्थ का अभिधान करता है। यह 'अर्थ' ही वाक्य का 'प्रयोजन' होता है। अर्थात्, अभिधेय भावना से ही पद और वाक्य की सत्ता है। इस प्रकार 'पद' हो या 'वाक्य', उनकी सत्ता इस 'अभिधेय' या 'वृत्ति' की दृष्टि से, एक है 'नार्थवत्ता पदे वर्णे' (वा० २.४०५) आदि का यही अर्थ है। उन्होंने उसे अधिक स्पष्ट करके इस प्रकार कहा है :

तथा पदानां सर्वेषां पृथगर्थनिवेशिनाम् ।
वाक्येभ्यः प्रविभक्तानामर्थवत्ता न विद्यते ॥ वा० २. ४२७ ॥

'अर्थ' या 'वृत्ति' से अलग करके ही 'पदार्थों' की पृथक् कल्पना स्वीकार की जाती है, और इसके लिये 'अपोद्धार' नामक शक्ति या धर्म की कल्पना करनी पड़ती है। वास्तव में 'वृत्ति' या 'अभिधेय' अविभाज्य और अविकल है।

१६४. 'वृत्ति' उपेक्षणीय नहीं – यह सब चर्चा इसलिए करनी पड़ी कि यह जाना जा सके, कि जो भर्तृहरि शब्दों की 'पद' रूप में पृथक्-सत्ता ही स्वीकार नहीं करते, वे उनके लक्षक-व्यंजकादि भेदों को स्वीकार कैसे कर सकते हैं ? उनकी दृष्टि में अर्थ या 'वृत्ति' एक है और, अर्थ की उस एकता के रहते, अर्थ को लक्ष्य, व्यंग्य, आदि भेदों में बाँटना उचित नहीं। वह सदा ही 'अभिधेय' है। हम 'अभिधान' चाहे पद को कहें

या वाक्य को ,'अभिधेय' सदा एक है । उन दोनों के स्वाभाविक नियम को ही अभिधा कहते हैं— 'अभिधा नियमस्तस्मादभिधानाभिधेययोः' (वा० २.४०८) । इस 'वृत्ति' की एकता और इसके महत्व को स्वीकार करने के बाद ही हम जान सकेंगे कि प्रसंग, काकु, देश-काल, लिंग, आदि का महत्व इसी में समझा जा सकता है । इसके बिना उनके महत्व का प्रश्न ही नहीं उठता । और, यदि इस बात को ध्यान में रख कर विचार किया जाये तो—**'एकः साधारणो वाच्यः प्रतिशब्दमवस्थितः'** एवं **'संघे संघिषु चार्थात्मा'** का अर्थ हमें कुछ और प्रतीत होगा । वक्तव्य या 'अर्थ' एक और अविच्छेद्य है । यह वाक्य में संघ-रूप में भी स्थित है और प्रत्येक शब्द भी उसी एक अर्थ को कहने के लिये प्रयुक्त हो रहा होता है । यह अर्थ या वक्तव्य 'वाच्य' ही कहलाता है । इस प्रकार भर्तृहरि 'वाक्य' की आत्मा मानते हैं 'वृत्ति' को । 'अर्थ-भावना' या 'वृत्ति' से प्रेरित होकर हम शब्द-प्रयोग करते हैं । जब शब्दों के अपने अर्थों का 'वृत्ति' में महत्व ही नहीं, और उससे समवेत 'वाच्य' या अभिधेय को ही ग्रहण करना अभीष्ट है, तो 'गौ' से लक्षणा द्वारा 'वाहीक', और स्तुति-निन्दा में व्यंजना के चमत्कार, को मानना व्यर्थ नहीं ? कई शब्द अपने ज्ञात अर्थों को, इसी 'वृत्ति' में, छोड़ बैठते हैं । वास्तव में अर्थ और प्रकरण की अपेक्षा में जो भी अर्थ प्रतीत या निश्चित होता है, वही 'स्व-अर्थ' है, 'स्वरूप' है : **अर्थप्रकरणाभ्यां तु तेषां स्वार्थो नियम्यते** (वा० २.३३५)' इस वृत्ति के दायरे में ही प्रवृत्ति और निवृत्ति का कार्य होता है । स्तुति हो या निन्दा, इस प्रवृत्ति-निवृत्ति के बिना उनका अर्थ जाना ही नहीं जा सकता । इन कारणों से ही वे, अपने ज्ञात अर्थों को न छोड़कर भी, वृत्यर्थ या 'अभिधेयार्थ' के वाहक बन जाते हैं : **तत्रापि च प्रवृत्तिश्च निवृत्तिश्चोपदिश्यते** (वा० २.३२६) ।

असत्यां प्रतिपत्तौ च मिथ्या वा प्रतिपादने ।
स्वैरर्थैः नित्यसम्बद्धास्ते ते शब्दाः व्यवस्थिताः ।। वा० २.३३७ ।।

'शब्द का सम्बन्ध हर दशा में 'स्वार्थ' से रहता ही है' । यदि ऐसी बात न होती, तो उसमें 'काकु' आदि का प्रयोग क्यों किया जाता ? 'काकु' आदि का प्रयोग स्पष्टतः शब्दार्थों को स्व-अर्थ-द्योतन में असमर्थ न बना कर, अपना कुछ अर्थ प्रकट कर देता है। जिस प्रकार प्रत्येक ध्वनि और इंगित का कुछ अर्थ होता है, उसी प्रकार इन काकु आदि का भी अपना कुछ अर्थ होता है । उनके अर्थ की प्रत्यक्ष अनुपस्थिति में 'वाक्यार्थ' या 'वृत्ति' पर पड़ने वाले उसके प्रभाव को हम अनुभव नहीं कर पाते ।

१६५. व्यंग्यार्थ में भी वृत्ति की उपयोगिता – व्यंग्यार्थ के सम्बन्ध में उदाहरणों से अधिक स्पष्टता आ सकेगी । 'चलना चाहिए ! ज़रा, सूर्य को तो देखो' – का अर्थ, 'शब्दार्थ' से ढूंढने के स्थान पर, यदि इसी वृत्ति द्वारा ढूंढा जाए, तो केवल 'काल-ज्ञान' की उत्सुकता ही सूचित होगी । 'ज़रा कौओं से दही बचाना' – का यह अर्थ

नहीं कि रोटी, खीर आदि की रक्षा नहीं करनी। खाने की क्रिया में थाली माँजना, बर्तन धोना, आदि 'अनुक्त' होकर भी अभिहित रहता ही है' (वा० २.३१२-५)। अब इन में भी यदि व्यंग्यार्थ की सत्ता मानी जाये, तो समस्त क्रियाओं में अनेकानेक अनुक्त अर्थ गृहीत होने के कारण, उन सभी को व्यंग्यात्मक मानना होगा। सत्य यह है कि शब्द मूलतः स्वार्थ में ही स्थिर रहता है। वह अन्य भावनाओं से समवेत रह कर उनके प्रकाशन का भी कारण हो सकता है। जिस प्रकार एक दीपक अनेक वस्तुओं को एक साथ प्रकाशित कर सकता है, और जिस प्रकार अरणि-मन्थन से अग्नि-दीपक के साथ धुंआ भी उत्पन्न होता ही है, उसी प्रकार एक अर्थ में कहा हुआ शब्द अन्यार्थों को भी प्रकाशित कर देता है। यही उसकी अपनी शक्ति है (वा० २. ३०१-३)।

१९६. **'शक्ति' मानना उचित नहीं** – यह युक्ति-क्रम केवल व्यंग्यार्थ के विषय में ही लागू नहीं होता, अपितु 'लक्षणा' में भी यही युक्ति-क्रम लागू होता है। भर्तृहरि तो 'अभिधा' को भी शक्ति' नहीं मानते। 'अर्थ' का उसे एक 'नियम' मात्र माना है। 'लक्ष्य' और 'व्यंग्य' का यदि कुछ भी महत्व उनकी दृष्टि में है तो, वह केवल 'वृत्ति' की 'अंगिता' में ही; अलग 'शक्ति' रूप सत्ता में नहीं। अर्थात्, यदि लक्षणा एवं व्यंजना का कोई अस्तित्व है ही, तो 'वृत्ति' की स्वाभाविकता में ही उनका अन्तर्भाव हो जाना चाहिये। उनकी पृथक् से मान्यता कल्पना को महज़ ओझिल बना देगी। उन्हें 'शक्ति' रूप में मानना तो भर्तृहरि को कतई अभीष्ट नहीं :

> **वाक्येऽपि नियताः धर्माः, केचिद् वृत्तौ, द्वयोस्तथा।**
> **ते त्वभेदेन सामर्थ्यमात्र एवोपवर्णिताः ।। वा० ३.१४.३६ ।।**

भर्तृहरि ने 'शक्ति' शब्द का प्रयोग कई स्थानों पर किया है। 'शब्द-शक्तयः' भी एक दो स्थानों पर प्रयुक्त हुआ है। किन्तु, वहाँ अर्थ है कुछ और ही। वे शब्द की जिन शक्तियों की चर्चा करते हैं, उनका तथाकथित शब्द-शक्तियों से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है। सर्वप्रथम वे **सार्वार्थ्य-शक्ति** की चर्चा करते हैं। शब्द अपनी शक्ति से अपने अर्थों में विस्तार या दृश्यमान परिवर्तनादि कर सकता है। इसे ही 'अर्थस्य सर्वशक्तित्वात्'[1] के द्वारा वे कहते हैं। 'शक्ति' का दूसरा प्रयोग शब्द की 'ग्राह्य' और 'ग्राहक' शक्तियों के लिए हुआ है (वा० १.५६)। किन्तु, इन दोनों शक्तियों का सम्बन्ध किसी भी रूप में तथाकथित अर्थात्मक शब्द-शक्तियों से नहीं है। शब्द की ये शक्तियाँ उसकी प्रत्यायक व अर्थ की प्रत्याय्य स्थिति का भानमात्र कराने वाली हैं। इनका 'सम्बन्ध' या अर्थ-निर्धारण से कुछ भी सम्बन्ध नहीं। शब्द और अर्थ के पारस्परिक आत्मनिष्ठ सम्बन्ध की यह व्याख्या मात्र है। इसमें उनके धर्मों या

---
१. वा० २.४३७.

स्वरूपों का वर्णन मात्र है । इसलिए इन्हें भी 'शब्द-शक्तियों' से उस रूप में सम्बद्ध मानना भ्रामक होगा । शब्द की स्थिति ग्राहक और अर्थ की स्थिति ग्राह्य मानते ही, अर्थ को अभिधेय से अभिन्न और शब्द का ही एक पार्श्व-मात्र कह दिया गया । शब्द जिस प्रकार अर्थ से भिन्न न होकर, उसी का अभिधायक 'रूप मात्र' है, उसी प्रकार 'ग्राह्य' से अभिन्न होकर ही 'ग्राहक' शक्ति भी एक ही शब्द में विद्यमान रहती है । इन की पृथक्ता केवल प्रयोजन-गम्य है : **एक से शब्द की 'स्वरूप' में स्थिति सम्भव होती है और दूसरे से 'अर्थ-ज्ञान' की प्रक्रिया चलती है ।**

१६७. **शक्तियों का सम्भावित आधार** – इनके अतिरिक्त 'शक्ति' के आधार रूप में एक और स्थिति की चर्चा हुई है, इसे **समवाय** कह सकते हैं । 'समवाय' को यदि 'वृत्ति' का अभिव्यक्ति-माध्यम कह दें तो उचित रहेगा । वृत्ति का धर्म ही है 'समुदाय' या 'समवाय' । इसे ही **संहिता**[1] के द्वारा कहा गया है। इस 'समवाय' की स्थिति में ही तथाकथित 'शब्द-शक्तियों' के रहने का प्रश्न उठ सकता है । पर इसमें भी अवकाश कहाँ है ? क्योंकि यह 'समवाय' स्वयं शक्ति माना गया है : "तां शक्तिं समवाया-ख्याम्" । 'शक्ति' किसी अन्य शक्ति का आधार कैसे बन सकती है ? हम यह अवश्य कह सकते हैं कि शब्द की ग्राह्य-ग्राहक या प्रत्याय्य-प्रत्यायक आदि शक्तियाँ इस 'समवाय-शक्ति' के कारण ही स्थित होती हैं ।[2] यह 'शक्ति' एक स्थिति मात्र है । इसे शब्दार्थ को परिवर्तित करने वाली शक्ति न मानकर उनकी निर्धारिका स्थिति मात्र मानना चाहिए, जिसका शब्दार्थ-सम्बन्ध से अभिन्न सम्बन्ध है । यह 'शक्ति' अर्थों या शब्दों के भेदादि की चर्चा से परे की चीज है (वा० ३.३.१०) ।

१६८. **वाच्य : अवाच्य** – इसलिए 'अभिधेय' के ज्ञान के लिए वक्ता या वक्तव्य की 'वृत्ति' का ज्ञान आवश्यक है । यह 'वृत्ति' वाक्य की 'समवाय' अवस्था में ही सूचित हो पाती है । 'समवाय' जिस अर्थ को सामने लाता है, वह सामान्यतया 'वाच्य' का धर्म न प्रतीत होकर 'अवाच्य' या 'वाच्य-धर्मातिवर्ती' माना जा सकता है । किन्तु, उसे 'वाच्य' से भिन्न कहना भ्रम होगा । प्रकट होने वाला 'अभिधेय' या 'वाक्यार्थ' 'वाच्य' ही हो सकता है । अर्थ की 'अ-वाच्य' अवस्था सही अर्थों में सम्भव ही नहीं । अवाच्य उसे इसी अर्थों में कहा जा सकता है कि वह सामान्य-रूप में शब्दार्थ की 'वाच्यता' की सीमा में अन्तर्गृहीत नहीं हो सकता । किसी भी अवस्था में प्रकट हो जाने पर उसे 'वाच्य' में ही गिना जाना चाहिए ।[3] फिर, 'अवाच्य' क्यों कहा ? केवल इसलिए कि उसके द्वारा 'वाच्य' की 'अनभिहित' या 'अकथित' अवस्था बताई जा सके । पर, शब्द रूपों में न बंध कर भी 'अकथित' आदि अर्थ सामने आ ही जाते हैं । अतः 'अ-वाच्य' की स्थिति सापेक्ष रूप में उस 'अर्थ' की सूचना मात्र है, जिसे शब्दों द्वारा व्यक्त नहीं किया गया

---

१. वा० ३.३.१९-२१. २. वा० ३.३.५. ३. वा० ३.३.२०-२१.

(या जिसे शब्दों की सीमा में सीमित नहीं किया गया), किन्तु फिर भी जो 'समवाय' की अवस्था में स्वत: व्यक्त होकर 'वाच्य' हो उठा है। इस 'अवाच्य' रूप से व्यक्त होकर 'वाच्य' बनने वाले अर्थ को हम 'लक्ष्य' या 'व्यंग्य' भेद से कहना चाहें, तो वह कथन की सुविधामात्र होगी। उन्हें वास्तव में अलग से सत्तावान् मानना भ्रम ही होगा। शब्द-प्रयोग की स्थिति एक ही हो सकती है – 'अभिधेय' या 'वाच्य'। वही 'वाच्य-अवाच्य' रूप में द्विधा बँटकर रहती है :

श्रूयते वचनं यत्र भावस्तत्र विशिष्यते।

निवर्त्तते यद्वचनं तस्य भावो न विद्यते ॥ वा० ३.१४.१२८ ॥

१६६. **औपचारिकी-सत्ता** – 'अवाच्य' का 'वाच्य' में यह परिवर्तन 'समवाय' की स्थिति में ही होता है। किन्तु, वह कारण या सामर्थ्य, जिसके कारण वह सामने न दीखने वाला अर्थ भी सामने आ जाता है, और जो एक अर्थ या दूसरे अर्थ को सामने लाने का कारण बनता है। **औपचारिकी-सत्ता** के रूप में कहा जा सकता है। उपचार और प्रतिचार को दो शक्तियाँ कह लें या धर्म, जिनके कारण अर्थ की स्वीकृति और निषेध (या अर्थ की पुष्टि और विरोध) होता है। 'उपचार' उचित अर्थ को सामने लाने में 'सहायता देता है'। प्रतिचार निषिद्ध अर्थ को सामने लाने से 'रोकता है।' इन दोनों का क्षेत्र है **आत्मरूप**। वह 'सत्ता' उनके द्वारा सदा सब पदार्थों के 'आत्म-रूप' को सामने लाती है (वा० ३.३.३९)। इस प्रकार 'लक्षणा' या 'व्यंजना' द्वारा जिस 'अ-विद्यमान' अर्थ को सामने लाने या कहने की बात कही जाती है, 'औपचारिकी सत्ता' मानो उसका प्रत्याख्यान करने वाली है। वास्तव में किसी नये अर्थ के जन्म का प्रश्न ही नहीं उठता। यदि ऐसा हो तो एक वैज्ञानिक आपत्ति उठ खड़ी होगी, क्या अर्थ पहले से था या नहीं? यदि था तो उसके जन्म का प्रश्न नहीं। यदि नहीं था, तो उसके जन्म की सम्भावना नहीं।[1] 'जन्म' और 'विनाश' दो सापेक्ष-सत्तायें मात्र हैं, जिनका वैज्ञानिक अस्तित्व कोई नहीं है। जो चीज है वही प्रकट हो सकती है, और जो चीज नहीं है वह प्रकट हो ही नहीं सकती। इसलिए अर्थ स्वयं की स्वयं से ही पुष्ट करने में समर्थ होता है, बाहरी कोई सत्ता या शक्ति उसे पुष्ट नहीं करती (वा० ३.३.४७)। इस दृष्टि से इस 'सत्ता' को भी 'शक्ति' मानने की आवश्यकता नहीं। इसे यदि हम 'प्रवृत्ति-निवृत्ति हेतु' कहें तो अधिक उपयुक्त होगा। क्योंकि इस प्रवृत्ति-निवृत्ति से ही प्रेरित होकर हर प्रकार का उपयोगी और अवसरानुकूल अर्थ हमारे सम्मुख सामने आने में समर्थ हो पाता है। शब्द का अर्थ सामने आने से दूसरा अर्थ मिट नहीं जाता। और, इस प्रकार भिन्न-भिन्न समयों में एक ही अर्थ को प्रकट करती हुई तथा उसके सामने न आने पर भी नष्ट रूप होने से बचाती हुई यह सत्ता स्वत: त्रैकालिकी सत्ता

---

१. वा० ३.३.४३.

स्वरूपों का वर्णन मात्र है । इसलिए इन्हें भी 'शब्द-शक्तियों' से उस रूप में सम्बद्ध मानना भ्रामक होगा । शब्द की स्थिति ग्राहक और अर्थ की स्थिति ग्राह्य मानते ही, अर्थ को अभिधेय से अभिन्न और शब्द का ही एक पार्श्व-मात्र कह दिया गया । शब्द जिस प्रकार अर्थ से भिन्न न होकर, उसी का अभिधायक 'रूप मात्र' है, उसी प्रकार 'ग्राह्य' से अभिन्न होकर ही 'ग्राहक' शक्ति भी एक ही शब्द में विद्यमान रहती है । इन की पृथक्ता केवल प्रयोजन-गम्य है : **एक से शब्द की 'स्वरूप' में स्थिति सम्भव होती है और दूसरे से 'अर्थ-ज्ञान' की प्रक्रिया चलती है ।**

१९७. **शक्तियों का सम्भावित आधार** – इनके अतिरिक्त 'शक्ति' के आधार रूप में एक और स्थिति की चर्चा हुई है, इसे **समवाय** कह सकते हैं । 'समवाय' को यदि 'वृत्ति' का अभिव्यक्ति-माध्यम कह दें तो उचित रहेगा । वृत्ति का धर्म ही है 'समुदाय' या 'समवाय' । इसे ही **संहिता**[1] के द्वारा कहा गया है। इस 'समवाय' की स्थिति में ही तथाकथित 'शब्द-शक्तियों' के रहने का प्रश्न उठ सकता है । पर इसमें भी अवकाश कहाँ है ? क्योंकि यह 'समवाय' स्वयं शक्ति माना गया है : "तां शक्तिं समवायाख्याम्" । 'शक्ति' किसी अन्य शक्ति का आधार कैसे बन सकती है ? हम यह अवश्य कह सकते हैं कि शब्द की ग्राह्य-ग्राहक या प्रत्याय्य-प्रत्यायक आदि शक्तियाँ इस 'समवाय-शक्ति' के कारण ही स्थित होती हैं ।[2] यह 'शक्ति' एक स्थिति मात्र है । इसे शब्दार्थ को परिवर्तित करने वाली शक्ति न मानकर उनकी निर्धारिका स्थिति मात्र मानना चाहिए, जिसका शब्दार्थ-सम्बन्ध से अभिन्न सम्बन्ध है । यह 'शक्ति' अर्थों या शब्दों के भेदादि की चर्चा से परे की चीज़ है (वा० ३.३.१०) ।

१९८. **वाच्य : अवाच्य** – इसलिए 'अभिधेय' के ज्ञान के लिए वक्ता या वक्तव्य की 'वृत्ति' का ज्ञान आवश्यक है । यह 'वृत्ति' वाक्य की 'समवाय' अवस्था में ही सूचित हो पाती है । 'समवाय' जिस अर्थ को सामने लाता है, वह सामान्यतया 'वाच्य' का धर्म न प्रतीत होकर 'अवाच्य' या 'वाच्य-धर्मातिवर्ती' माना जा सकता है । किन्तु, उसे 'वाच्य' से भिन्न कहना भ्रम होगा । प्रकट होने वाला 'अभिधेय' या 'वाक्यार्थ' 'वाच्य' ही हो सकता है । अर्थ की 'अ-वाच्य' अवस्था सही अर्थों में सम्भव ही नहीं । अवाच्य उसे इसी अर्थों में कहा जा सकता है कि वह सामान्य-रूप में शब्दार्थ की 'वाच्यता' की सीमा में अन्तर्गृहीत नहीं हो सकता । किसी भी अवस्था में प्रकट हो जाने पर उसे 'वाच्य' में ही गिना जाना चाहिए ।[3] फिर, 'अवाच्य' क्यों कहा ? केवल इसलिए कि उसके द्वारा 'वाच्य' की 'अनभिहित' या 'अकथित' अवस्था बताई जा सके । पर, शब्द रूपों में न बंध कर भी 'अकथित' आदि अर्थ सामने आ ही जाते हैं । अतः 'अ-वाच्य' की स्थिति सापेक्ष रूप में उस 'अर्थ' की सूचना मात्र है, जिसे शब्दों द्वारा व्यक्त नहीं किया गया

---

१. वा० ३.३.१९-२१. २. वा० ३.३.५. ३. वा० ३.३.२०-२१.

(या जिसे शब्दों की सीमा में सीमित नहीं किया गया), किन्तु फिर भी जो 'समवाय' की अवस्था में स्वतः व्यक्त होकर 'वाच्य' हो उठा है। इस 'अवाच्य' रूप से व्यक्त होकर 'वाच्य' बनने वाले अर्थ को हम 'लक्ष्य' या 'व्यंग्य' भेद से कहना चाहें, तो वह कथन की सुविधामात्र होगी। उन्हें वास्तव में अलग से सत्तावान् मानना भ्रम ही होगा। शब्द-प्रयोग की स्थिति एक ही हो सकती है – 'अभिधेय' या 'वाच्य'। वही 'वाच्य-अवाच्य' रूप में द्विधा बँटकर रहती है :

श्रूयते वचनं यत्र भावस्तत्र विशिष्यते।

निवर्त्तते यद्वचनं तस्य भावो न विद्यते ।। वा० ३.१४.१२८ ।।

१६६. **औपचारिकी-सत्ता** – 'अवाच्य' का 'वाच्य' में यह परिवर्तन 'समवाय' की स्थिति में ही होता है। किन्तु, वह कारण या सामर्थ्य, जिसके कारण वह सामने न दीखने वाला अर्थ भी सामने आ जाता है, और जो एक अर्थ या दूसरे अर्थ को सामने लाने का कारण बनता है। **औपचारिकी-सत्ता** के रूप में कहा जा सकता है। उपचार और प्रतिचार को दो शक्तियाँ कह लें या धर्म, जिनके कारण अर्थ की स्वीकृति और निषेध (या अर्थ की पुष्टि और विरोध) होता है। 'उपचार' उचित अर्थ को सामने लाने में 'सहायता देता है'। प्रतिचार निषिद्ध अर्थ को सामने लाने से 'रोकता है।' इन दोनों का क्षेत्र है **आत्मरूप**। वह 'सत्ता' उनके द्वारा सदा सब पदार्थों के 'आत्म-रूप' को सामने लाती है (वा० ३.३.३६)। इस प्रकार 'लक्षणा' या 'व्यंजना' द्वारा जिस 'अ-विद्यमान' अर्थ को सामने लाने या कहने की बात कही जाती है, 'औपचारिकी सत्ता' मानो उसका प्रत्याख्यान करने वाली है। वास्तव में किसी नये अर्थ के जन्म का प्रश्न ही नहीं उठता। यदि ऐसा हो तो एक वैज्ञानिक आपत्ति उठ खड़ी होगी, क्या अर्थ पहले से था या नहीं? यदि था तो उसके जन्म का प्रश्न नहीं। यदि नहीं था, तो उसके जन्म की सम्भावना नहीं।[1] 'जन्म' और 'विनाश' दो सापेक्ष-सत्तायें मात्र हैं, जिनका वैज्ञानिक अस्तित्व कोई नहीं है। जो चीज़ है वही प्रकट हो सकती है, और जो चीज़ नहीं है वह प्रकट हो ही नहीं सकती। इसलिए अर्थ स्वयं की स्वयं से ही पुष्ट करने में समर्थ होता है, बाहरी कोई सत्ता या शक्ति उसे पुष्ट नहीं करती (वा० ३.३.४७)। इस दृष्टि से इस 'सत्ता' को भी 'शक्ति' मानने की आवश्यकता नहीं। इसे यदि हम 'प्रवृत्ति-निवृत्ति हेतु' कहें तो अधिक उपयुक्त होगा। क्योंकि इस प्रवृत्ति-निवृत्ति से ही प्रेरित होकर हर प्रकार का उपयोगी और अवसरानुकूल अर्थ हमारे सम्मुख सामने आने में समर्थ हो पाता है। शब्द का अर्थ सामने आने से दूसरा अर्थ मिट नहीं जाता। और, इस प्रकार भिन्न-भिन्न समयों में एक ही अर्थ को प्रकट करती हुई तथा उसके सामने न आने पर भी नष्ट रूप होने से बचाती हुई यह सत्ता स्वतः त्रैकालिकी सत्ता

१. वा० ३.३.४३.

ही तो है (वा० ३.३.५०)। इसीलिए विरोधी धर्मों की उपस्थिति में भी कोई 'अर्थ' प्रकट हो ही जाता है (वा० ३.३.४२)। इस सत्ता को समझ लेने के बाद नित्य-अनित्य, भाव-अभाव एवं सत्-असत् आदि पारिभाषिक-शब्दों की सत्ता सापेक्षिकमात्र सिद्ध हो जाती है। भर्तृहरि की सापेक्षिक दृष्टि का इसे मूलाधार कह सकते हैं। इसका दार्शनिक आधार है सांख्यदर्शन का 'सत्कार्यवाद' सम्बन्धी सिद्धान्त।

२००. **अशक्ति और उपाय** – अतः, भर्तृहरि की दृष्टि में, ऐसा कोई भी अर्थ, जिसे किसी शब्द या वाक्य के उच्चरित होने पर समझा जा सकता है, उस शब्द या वाक्य का अपना अर्थ है। उसे किसी भी रूप में बाह्य-देन या 'नया-अर्थ' नहीं माना जा सकता। कदाचित् वह जन-प्रसिद्धि की दृष्टि से अधिक प्रसिद्ध न हो, यह एक बात है। यह भी सम्भव है कि हम उसे अप्रसिद्ध मान कर 'गौण' कह दें। हो सकता है, वह अर्थ शब्दों द्वारा 'वाच्य' रूप में न कहा गया हो, फिर भी प्रकट हो ही गया हो। या, इसी प्रकार किसी विरोधी-से प्रतीयमान अर्थ के रहते भी कोई अर्थ हमारे सम्मुख आने में समर्थ हुआ हो (वा० २.२८७)। इन सभी अवस्थाओं में वह 'अर्थ' शब्द या वाच्य का ही अर्थ कहलाता है; उसी का हो सकता है। और, जब अर्थ उसी एक वाक्य या शब्द का है, तब उस 'अर्थ' के दो या तीन रूप लक्ष्य, व्यंग्य आदि कैसे माने जा सकते हैं? वह एक ही रूप में रह सकता है: 'वाच्य'। होता यह है कि हम शब्दों को, तथाकथित, अर्थों की उपलब्धि में असमर्थ पाकर, उस अर्थ की व्याख्या करने के लिए, कुछ एक अन्य शब्दों की सत्ता बीच में मान बैठते हैं और अपने उपलब्ध अर्थ की पूरी व्याख्या कर लेते हैं। ऐसा करते हुए हम कुछ 'शक्तियों' की सत्ता भी स्वीकार कर लेते हैं। क्योंकि, जिन शब्दों की हमने कल्पना की और उनसे अर्थ-भावना का पूरा निर्माण किया, उन्हें आधार देने के लिए, हमारी दृष्टि में, इस प्रकार की कोई 'शक्ति' आवश्यक होती है। अब देखना यह है कि क्या श्रोता या ग्रहीता को भी इस प्रकार के शब्द कल्पित करके ही अर्थ समझ में आता है या वह तत्काल ही अर्थ-प्रतीति में समर्थ हो जाता है। थोड़ा-सा भी यत्न करने पर यह बात स्पष्ट हो जायेगी कि इन शब्दों की कल्पना हमारे मन में अर्थ-प्रतीति के बाद ही जगती है। क्योंकि, हम अपने मन में जगे हुए भाव को तर्क-संगत ठहराने की कोशिश करते है। इस प्रकार के शब्दों की सत्ता भिन्न-भिन्न रूप में व्यक्त की जा सकती है। परन्तु, अर्थ प्रतीति के क्षण में इन में से किसी की भी सत्ता माध्यम रूप में उपस्थित नहीं रहती। इस दृष्टि से ये शब्द 'निराधार' एवं अवास्तविक हैं। इसलिए इन्हें कल्पित करने वाली कोई 'शक्ति' नहीं हो सकती। यदि इनके बिना किसी को अर्थ-प्रतीति ही सम्भव न हो, और वह इनके बिना अर्थ की सत्ता ही सही रूप में मानने को तैयार न हो, तो इसे उसकी मन्द-बुद्धिता या अशक्ति ही कहा जायेगा। 'शब्द-शक्ति' कहना इस शब्द का [illegible] करना है:

असतश्चान्तराले यान् शब्दानस्तीति मन्यते ।

प्रतिपत्तुरशक्तिः सा, ग्रहणोपाय एव सः ॥ वा० १.८६ ॥

यहाँ प्रश्न यह उठता है कि क्या इन कल्पित अन्तर्वर्त्ती शब्दों के कारण ही किसी 'शब्द-शक्ति' की कल्पना करनी पड़ी, या किसी शक्ति के कारण इनकी ? यदि कहा जाए कि 'शक्ति' के कारण इनकी कल्पना करनी पड़ी है, तो कुछ मौलिक समस्याएँ उठ खड़ी होंगी। यदि किसी 'शक्ति' से इन शब्दों का अस्तित्व सिद्ध होता है, तो वह शक्ति स्वतः कब 'कार्य' करती है ? 'लक्षणा' और 'व्यंजना' का कार्यक्षेत्र तब माना गया है, जब मुख्यार्थ की 'बाधा' या उसका 'अभाव' उपस्थित हो। जब किसी मुख्यार्थ की बाधा या अभाव का प्रश्न उठा, उस समय उन दोनों में एक शक्ति को अवकाश मिला कार्य करने का। तो क्या उस शक्ति से पहले हमें वास्तविक अर्थ प्रतीति हुई या पहले इन शब्दों की कल्पना जगी ? 'गंगा पर आश्रम है', में हमने लक्षणा के द्वारा 'गंगा के तट पर आश्रम है' अर्थ करके 'के तट' शब्द बाहर से ग्रहण किये। उनका ग्रहण हो जाने से अर्थ सुगम और सरल बन गया : वह 'वाच्य' बन गया। अब प्रश्न यह है कि ये **बाह्य-शब्द** ही क्या लक्षणा के द्वारा आवश्यक रूप में 'ग्राह्य' हैं, या वह अर्थ ? यदि अर्थ ग्राह्य है, तो इन शब्दों की सत्ता मानने की आवश्यकता नहीं। और, यदि ये शब्द ग्राह्य हैं, तो अर्थ में लाक्षणिकता का प्रश्न ही नहीं उठता। इन शब्दों की कल्पना करते ही वह निरा 'वाच्य' रह जायेगा। वस्तुतः जो अर्थ प्रतीति हमारे मानस को उस वाक्य के सुनते ही हो जाती है, यह शब्द राशि केवल उसी के औचित्य प्रतिपादन के लिए हम कल्पित करते हैं। इसी लिए उसे, शक्ति का चमत्कार न कह कर, भर्तृहरि ने प्रतिपत्ता की अशक्ति से उत्पन्न 'ग्रहणोपायमात्र' कहा है। उनकी दृष्टि में ऐसे शब्द 'अ-सत्' हैं, उन्हें हम कल्पित भर कर लेते हैं।

और, **उपाय** ! भर्तृहरि उपाय की परिभाषा करते हैं **'उपादायाऽपि ये हेयास्तानुपायान् प्रचक्षते'**।[२] अर्थात्, जिनका ग्रहण साधन रूपमें तो किया जाता है, पर जो अनिवार्य-रूप में 'साध्य' के अंग नहीं बन जाते। वे ग्रहण-करके भी त्याग दिये जाते हैं। उनका ग्रहण किसी वास्तविकता के आधार पर न होकर कल्पना के आधार पर होता है। इस प्रकार के शब्द और उनके लिये कल्पित शक्तियाँ इसी प्रकार के उपायमात्र ही तो हैं। उनकी सत्ता अर्थ को समझने या समझे हुए अर्थ को सही सिद्ध करने के यत्न-मात्र के लिए ही स्वीकार की जाती है। अन्यथा, उन्हें पृथक् से सिद्ध किया जाना सम्भव ही नहीं।

उपायमात्रं नानात्वं समूहस्त्वेक एव सः।

विकल्पाभ्युच्चयाभ्यां वा भेदसंसर्गकल्पना ॥ वा ३. १४. ६६ ॥

२०१. **स्तुति-निन्दापरक वाक्य** – स्तुति-निन्दा या काकु प्रयोग के वाक्यों में भी

यह 'ग्रहणोपाय' की बात स्पष्टतः समझ लेनी चाहिये। 'काकु-प्रधान' या स्तुति-निन्दा-प्रधान' वाक्यों में भी उन वाक्यों के उच्चारण-समकाल में ही हमें अर्थ-प्रतीति हो जाती है। उसे तर्क-संगत और उचित सिद्ध करने के लिए ही, हम शब्दों के फैलाव-द्वारा यह सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं, कि जिन शब्दों को हमने सुना, उसकी अपेक्षा कुछ अधिक और नये शब्द सामने आकर उस अर्थ को स्पष्ट करते हैं। इस प्रकार इस अर्थ को शब्दों के वर्तमान-रूप से असम्बद्ध कह कर, उसे 'व्यंग्य' या 'व्यंजना-जन्य' नाम दे बैठते हैं। यहाँ केवल इतना ही प्रश्न है कि क्या जिन शब्दों की सत्ता को उस शक्ति द्वारा हम स्वीकार करते हैं, वे सत्य हैं? यदि वे ही सत्य हैं, और विद्यमान शब्द असत्य हैं, तो अ-विद्यमान शब्दों की अर्थ प्रतीति को 'मान्य' कैसे कहा जा सकता है? यदि कहा जाय कि अर्थ प्रतीति सत्य है, और उसे सिद्ध करने के लिये हम इन शब्दों द्वारा उसकी व्याख्या भर करते हैं, तो प्रश्न उठता है यह अर्थ कहाँ से प्रतीत हुआ? क्या यह अर्थ शब्दों में ही नहीं था? यदि यह 'अर्थ' शब्दों में नहीं था, तो प्रतीत कैसे हुआ? अर्थ-प्रतीति में क्षण-मात्र भी विलम्ब न होकर, हमें उसकी प्रतीति 'तत्काल' ही होती है। अतः इन शब्दों की सत्ता केवल ज्ञात अर्थ की व्याख्या के लिए ही मानी जानी चाहिए, उसके औचित्य को उचित सिद्ध करने भर के लिए ही।

२०१. **लक्षणा-व्यंजना** – तो क्या भर्तृहरि, लक्षणा और व्यंजना का कोई अस्तित्व नहीं मानते? भर्तृहरि ने 'लक्षण', 'उपलक्षण', और 'लक्षणा' शब्द का अनेक स्थानों पर प्रयोग किया है। यह हमारा दुर्भाग्य है कि पदकाण्ड में उनके लिखे 'बाधा' और 'लक्षण' नाम के समुद्देश नहीं मिलते। फिर भी वृत्ति-समुद्देश, सम्बन्ध-समुद्देश, जाति-समुद्देश, तथा वाक्य-काण्ड के उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर हम यही कह सकते हैं कि वे **अभिधा** नाम तक का प्रयोग शक्ति के रूप में नहीं करते; लक्षणा और व्यंजना का तो करते ही नहीं। 'वृत्ति' की महत्ता और उपयोगिता को स्वीकार करने के बाद, तथा उसकी 'अभिधेय' रूप में अखण्डता स्वीकार करने के बाद, उन 'शक्तियों' की मान्यता का प्रश्न ही नहीं उठता। मीमांसकों, द्वारा मानी हुई लक्षणा, बाधा, आदि की परिभाषाओं को उन्होंने 'पदवादी' मत में माना है। स्वयं 'अखण्डवादी' बन कर उनका उचित उत्तर दिया है। उनका कहना यह है कि ये सभी चीजें यदि अपनी कुछ भी स्थिति रखती हैं, तो 'वाक्य' में ही। पर, 'वाक्यार्थ' अन्ततः 'अभिधेय' या वृत्ति है। उसके जगने पर ये सभी खण्ड-लक्षण समाप्त हो जाते हैं। अतः लक्षणा या व्यंजना का प्रयोग उन खण्ड-लक्षणों को ही स्पष्ट करने में हो तो हो; 'वृत्ति' के जगने पर इन दोनों की सत्ता किसी प्रकार सिद्ध नहीं होती।

भर्तृहरि ने **वृत्ति-समुद्देश** और **वाक्यकाण्ड** में भी 'सादृश्य' आदि का वर्णन पर्याप्त विस्तार से किया है, किन्तु उनका बल उसे पृथक्.महत्व देने पर नहीं है। वे उसे **योग्यता-लक्षण** मानते हैं। और, योग्यता है एक स्वाभाविक अर्थ। बाधा और लक्षरण के अन्तर्गत माने गये मीमांसकों के उदाहरणों के साथ उन्होंने महाभाष्य में आये 'गौर्वाहीकः' आदि उदाहरणों पर भी पूरी तरह विचार किया है। वे तो 'वाहीक' को भी 'गौ' का वाच्य-अर्थ ही मानते हैं, भिन्न या बाधा- प्राप्त अर्थ नहीं। इसी प्रकार अन्यान्य उदाहणों को देकर भी उनका कहना यही है कि यह सब 'पदार्थबुद्धि' में ही जगता है। 'वाक्य-वृत्ति' के जगते ही इन सबकी पृथक्-सत्ता रह ही नहीं जाती। जब पदार्थों में ही बुद्धि भ्रामक है, तब उनके परिणामों में क्यों नहीं ?

'यदन्तराले ज्ञानं तु पदार्थेषूपजायते।
प्रतिपत्तेरुपायोऽसौ प्रक्रमानवधारणात् ॥ वा० २. ४१७ ॥

अतः यह सब विरोधाभास, लक्षण, सम्मुच्चय आदि वाक्य में उसी प्रकार कल्पित किये जाते हैं, जिस प्रकार पद और पदार्थ। यह 'अर्थ' या वृत्ति की अपनी 'शक्ति' के कारण ही होता है। इसे ऐसी पृथक् 'शक्ति-कल्पना' के रूप में मानने की आवश्यकता नहीं। यदि इसे मान लिया जाय तो प्रत्येक 'क्रिया' और अधिकांश 'शब्दों' को लाक्षरिणक ही मानना पड़ेगा।

२०३. **लक्षणा** — लक्षणा के सम्बन्ध में चर्चा करते हुए हमें भर्तृहरि के 'उपसर्जनीभूत अर्थ' और 'चरितार्थ' शब्दों के प्रयोग को भी न भूलना चाहिए। इन दोनों का महत्त्व निश्चय ही हमें स्मर्तव्य है। किसी शब्द के बाह्य-अर्थ को 'ग्राह्य' नहीं कहा जा सकता। जिसे हम शब्द और प्रत्यय का अर्थ कहते हैं, वह वास्तविक 'अभिधेय' नहीं होता। बाह्य-अर्थ से अभिधेय तक पहुँचने के लिये हमें अनेक सीढ़ियाँ पार करनी पड़ती हैं। अभिधेय को यदि हम 'बौद्ध-अर्थ' कहें तो इन बीच की 'सीढ़ियों' का दूसरा नाम खोजना होगा। इनका उपयोग हमें 'अभिधेय' की प्राप्ति कराने में होता है, इनकी स्वतन्त्र सत्ता मान बैठना भ्रम होगा। भर्तृहरि ने इस प्रकार के सोपान रूप में ही 'उपसर्जनीभूत अर्थ' और 'चरितार्थ' को माना है। (वा० १.५४)। इनकी चर्चा अर्थ-प्रकरण में भी हम कर आये हैं। इन दोनों की सत्ता पर विचार से पूर्व हमें यह स्पष्ट समझ लेना आवश्यक है कि शब्द का प्रतिपाद्य 'अभिधेय' है, न कि प्रतीत-अर्थ। प्रतीत-अर्थ की सीमा में कई ऐसे 'अन्तर्भुक्त' और अन्तर्हित अर्थ भी आ जाते हैं, जिन्हें हम 'अर्थ' न कह कर 'अर्थ-विस्तार' मात्र कह सकते हैं। क्रियाओं के अर्थ तो होते ही इस प्रकार के हैं। लोक-व्यवहार में जब कोई भी शब्द या क्रिया हम प्रयोग करते हैं, तो उसके पीछे हमारी कुछ भावना छिपी होती है। यदि उस भावना को खण्डशः समझने की कोशिश करें, तो वह कई

अंशों में बँट कर सामने आयेगी और अन्ततः एक सम्पूर्ण चित्र को सामने प्रस्तुत करेगी। इस समग्र-चित्र में से वे अन्तवर्ती चित्र निश्चय ही मिट जाएँगे। क्योंकि उन्हें हमारी बुद्धि ने साधन-रूप में ही अपनाया था, साध्य-रूप में नहीं। वह हमारे समझने समझाने का तरीका मात्र है। ऐसे मध्यवर्ती चित्रों या भाव खण्डों को हम 'चरितार्थ' कह सकते हैं। और, इस प्रकार के 'उपाय' या 'साधन' सदा ही 'साध्य' प्राप्ति के अनन्तर त्याज्य हो जाते हैं।

२०४. **उपसर्जनीभूत अर्थ** – जब कोई शब्द अपने प्रसिद्ध अर्थ को सामने न लाकर प्रकरणादि के कारण किसी सहभूत या गौण-अर्थ को सामने लाता है, तब ऐसे सामने आने वाले अर्थ को 'उपसर्जनीभूत' कहा जाता है।[1] परन्तु इससे यह न समझना चाहिए कि ऐसा कोई अर्थ सर्वथा 'नया' और मूल शब्दार्थ से 'असम्बद्ध' हो सकता है। वास्तव में यह अर्थ भी 'अभिधेय' की प्राप्ति में ही सहायक होता है। नयापन इसमें इसीलिये प्रतीत होता है, कि हम शब्द में अर्थ की कोई निश्चित भावना मान बैठते हैं। अन्यथा शब्द का प्रतिपाद्य तो उसका मूलगत 'अभिधेय' होता है, जिसे 'शब्द-रूप' में बाँधने का यत्न भर किया जाता है। इसका विस्तृत चर्चा हम 'अर्थ-भेद' में कर आये हैं।

२०५. **व्यंजना** – व्यंजना के विचार-प्रसंग में हमें व्यंग्यार्थ गम्यार्थ और प्रक्रान्तार्थ आदि पर फिर से विचार कर लेना चाहिए। उनका सम्बन्ध व्यंजना से अविच्छिन्न रूप में माना गया है। भर्तृहरि ने वा० २. ३१२ से ३१५ तक कुछ उदाहरण देकर यह सिद्ध किया है, कि शब्दों के कहने या न कहने (अनुक्त) से अर्थ प्रतीति का सम्बन्ध नहीं रहता। यह बात केवल व्यंग्यार्थ के लिए ही नहीं है। वस्तुतः जब वक्ता कहता है, 'जरा सूर्य को तो देख लो, चलना है', तब वस्तुतः इसका अभिधेय सूर्य के दर्शन करने से न होकर समय के ज्ञान से ही होता है।[2] भर्तृहरि की दृष्टि में वक्ता का अभिधेय अर्थ ही 'समय ज्ञान' है। 'सूर्य को देखना' वहाँ काल के ज्ञान का ही वाचक बन जाता है। समझने वाला भी जानता है कि सूर्य को नहीं देखना, बल्कि समय बताना है। अतः जब दोनों ही एक बात को उसी शब्द के माध्यम से कह और समझ रहे होते हैं, तब अर्थ को शब्द से असम्बद्ध मान कर उसे 'व्यंग्यार्थ' के रूप में अलग नाम देने की आवश्यकता नहीं रह जाती। यही बात 'बिना धनुष के मार देता है' का अर्थ 'धनुष' के बिना शब्दों पर ही आधारित नहीं है।[3] यहाँ 'विशेष' स्थिति का वर्णन करने से, किसी विशेष वस्तु का ही बोध होगा। निश्चय ऐसा बोध वक्ता और श्रोता दोनों को अभीष्ट होगा। कोई आँखों से भी बींध सकता है। वहाँ भी

---

१. इस विषय के लिये विशेष देखें—अनुच्छेद १६४, अध्याय ११।
२. वा० २. ३१२. ३. वा० २. ३१३.

'बींधने' का सामान्य अर्थ नहीं लिया जायेगा। अतः यदि इसे गम्यार्थ या व्यंग्यार्थ कह कर 'वाच्यार्थ' किसी और 'अर्थ' को कहा जाए, तो वह भ्रम ही होगा। बच्चे से हम कहते हैं, 'कौओं से दही बचाना!' निश्चय ही बच्चा केवल कौओं से ही रक्षा न करके, सभी अन्य पक्षियों या पशुओं से भी रक्षा करता ही है[3]। अब यदि यह कहा जाए कि कुत्ते आदि से रक्षा करना 'व्यंग्यार्थ' या 'गम्यार्थ' के द्वारा सिद्ध होता है, तो यह वाग्व्यापार की मूल धारणा के ही विपरीत होगा। वाक्यार्थ या वागर्थ का सारा व्यापार ही 'प्रतिभा' पर आधारित होता है। उस प्रतिभा के कारण ही बच्चे ने उक्त भावना ली भी। अतः इसका सम्बन्ध शब्दों से न होकर प्रयोग भावना से है। भर्तृहरि मज़ाक का एक उदाहरण देते हैं, 'तब तो 'खाना खाने' से जो थाली माँजना या शराबों को धोना आदि अर्थ व्यक्त होते हैं, उन्हें भी 'प्रकान्तार्थ' या 'व्यंग्यार्थ' समझा जाएगा।[2]' यदि ऐसा हो, तब सम्पूर्ण वाग्व्यापार ही व्यंजना का विषय हो जाएगा।

'स्तुति-निन्दा' सम्बन्धी वाक्यों की स्थिति स्पष्ट की जा चुकी है। वहाँ वक्ता का वक्तव्य ही स्तुति या निन्दा होती है। उसे 'अवाच्य' कह कर 'व्यंग्यार्थ' या 'ध्वन्यर्थ' की कल्पना व्यर्थ है।[1]

२०६. **शक्ति नहीं सत्ता** – 'अभिधा' की चर्चा उन्होंने 'शक्ति' के तौर पर न कर के स्वाभाविक सम्बन्ध-भावना के रूप में ही की है। एक भी स्थान पर उन्होंने इन तीनों को एकत्रित रूप में नहीं पढ़ा है, न इनका भेद-प्रदर्शन किया है। हाँ, अर्थ-वृत्ति की व्याख्या करते हुए वे इनकी, बिना नामोल्लेख के ही, चर्चा अवश्य करते रहे हैं, और इस प्रकार की चर्चा में उनका स्पष्ट ध्येय रहा है, अर्थ की एकता, अखण्डता, अविरोधिता, आदि को द्योतित करना। कदाचित् उनकी इस धारणा को अधिक स्पष्टता मिली है 'समवाय-वृत्ति' की व्याख्या में। उसे ही वे आधारभूत शक्ति मान कर, उसमें अन्तवर्ती संयोग को 'निरात्मक' अर्थों की उत्पत्ति एवं 'अन्य-आत्मा' के 'तद्-आत्मा' रूप में अवधारण का कारण मानते हैं। इसे भेद-अभेद से परे की 'शक्ति' उन्होंने कहा है। इस से भी बढ़ कर, वे 'औपचारिकी सत्ता' की व्याख्या में उसे विरुद्ध से विरुद्ध धर्मों या अवस्थाओं में भी अर्थ को धारण और स्थिर करने वाली सत्ता मानते हैं:

तस्माद् भिन्नेषु धर्मेषु विरोधिष्वविरोधिनीम्।
विरोधिख्यापनायैव शब्दैस्तैस्तैरुपाश्रिताम्॥ वा० ३. ३. ४६॥

'वह विरोधी से विरोधी से विरोधी अवस्था में भी स्वार्थ या स्वरूप की संरक्षा का कारण बनती है।' उनकी दृष्टि में यदि 'शक्ति' का कुछ भी महत्त्व या अर्थ है, तो कल्पित 'अपोद्धार' की सामर्थ्य से ही। ये तथाकथित शब्द-शक्तियाँ भी तो इसी

---

१. वा० २. ३१४.   २. वा० २. ३१५.   ३. वा० २. ३२०-१.

अंशों में बँट कर सामने आयेगी और अन्ततः एक सम्पूर्ण चित्र को सामने प्रस्तुत करेगी। इस समग्र-चित्र में से वे अन्तवर्ती चित्र निश्चय ही मिट जाएँगे। क्योंकि उन्हें हमारी बुद्धि ने साधन-रूप में ही अपनाया था, साध्य-रूप में नहीं। वह हमारे समझने समझाने का तरीका मात्र है। ऐसे मध्यवर्ती चित्रों या भाव खण्डों को हम 'चरितार्थ' कह सकते हैं। और, इस प्रकार के 'उपाय' या 'साधन' सदा ही 'साध्य' प्राप्ति के अनन्तर त्याज्य हो जाते हैं।

२०४. **उपसर्जनीभूत अर्थ** – जब कोई शब्द अपने प्रसिद्ध अर्थ को सामने न लाकर प्रकरणादि के कारण किसी सहभूत या गौण-अर्थ को सामने लाता है, तब ऐसे सामने आने वाले अर्थ को 'उपसर्जनीभूत' कहा जाता है।[1] परन्तु इससे यह न समझना चाहिए कि ऐसा कोई अर्थ सर्वथा 'नया' और मूल शब्दार्थ से 'असम्बद्ध' हो सकता है। वास्तव में यह अर्थ भी 'अभिधेय' की प्राप्ति में ही सहायक होता है। नयापन इसमें इसीलिये प्रतीत होता है, कि हम शब्द में अर्थ की कोई निश्चित भावना मान बैठते हैं। अन्यथा शब्द का प्रतिपाद्य तो उसका मूलगत 'अभिधेय' होता है, जिसे 'शब्द-रूप' में बाँधने का यत्न भर किया जाता है। इसका विस्तृत चर्चा हम 'अर्थ-भेद' में कर आये हैं।

२०५. **व्यंजना** – व्यंजना के विचार-प्रसंग में हमें व्यंग्यार्थ गम्यार्थ और प्रक्रान्तार्थ आदि पर फिर से विचार कर लेना चाहिए। उनका सम्बन्ध व्यंजना से अविच्छिन्न रूप में माना गया है। भर्तृहरि ने वा० २. ३१२ से ३१५ तक कुछ उदाहरण देकर यह सिद्ध किया है, कि शब्दों के कहने या न कहने (अनुक्त) से अर्थ प्रतीति का सम्बन्ध नहीं रहता। यह बात केवल व्यंग्यार्थ के लिए ही नहीं है। वस्तुतः जब वक्ता कहता है, 'जरा सूर्य को तो देख लो, चलना है', तब वस्तुतः इसका अभिधेय सूर्य के दर्शन करने से न होकर समय के ज्ञान से ही होता है।[2] भर्तृहरि की दृष्टि में वक्ता का अभिधेय अर्थ ही 'समय ज्ञान' है। 'सूर्य को देखना' वहाँ काल के ज्ञान का ही वाचक बन जाता है। समझने वाला भी जानता है कि सूर्य को नहीं देखना, बल्कि समय बताना है। अतः जब दोनों ही एक बात को उसी शब्द के माध्यम से कह और समझ रहे होते हैं, तब अर्थ को शब्द से असम्बद्ध मान कर उसे 'व्यंग्यार्थ' के रूप में अलग नाम देने की आवश्यकता नहीं रह जाती। यही बात 'बिना धनुष के मार देता है' का अर्थ 'धनुष' के बिना शब्दों पर ही आधारित नहीं है।[3] यहाँ 'विशेष' स्थिति का वर्णन करने से, किसी विशेष वस्तु का ही बोध होगा। निश्चय ऐसा बोध वक्ता और श्रोता दोनों को अभीष्ट होगा। कोई आँखों से भी बींध सकता है। वहाँ भी

१. इस विषय के लिये विशेष देखें—अनुच्छेद १६४, अध्याय ११।
२. वा० २. ३१२. ३. वा० २. ३१३.

'बींधने' का सामान्य अर्थ नहीं लिया जायेगा। अतः यदि इसे गम्यार्थ या व्यंग्यार्थ कह कर 'वाच्यार्थ' किसी और 'अर्थ' को कहा जाए, तो वह भ्रम ही होगा। बच्चे से हम कहते हैं, 'कौओं से दही बचाना!' निश्चय ही बच्चा केवल कौओं से ही रक्षा न करके, सभी अन्य पक्षियों या पशुओं से भी रक्षा करता ही है[1]। अब यदि यह कहा जाए कि कुत्ते आदि से रक्षा करना 'व्यंग्यार्थ' या 'गम्यार्थ' के द्वारा सिद्ध होता है, तो यह वाग्व्यापार की मूल धारणा के ही विपरीत होगा। वाक्यार्थ या वागर्थ का सारा व्यापार ही 'प्रतिभा' पर आधारित होता है। उस प्रतिभा के कारण ही बच्चे ने उक्त भावना ली थी। अतः इसका सम्बन्ध शब्दों से न होकर प्रयोग भावना से है। भर्तृहरि मज़ाक का एक उदाहरण देते हैं, 'तब तो 'खाना खाने' से जो थाली माँजना या शराबों को धोना आदि अर्थ व्यक्त होते हैं, उन्हें भी 'प्रक्रान्तार्थ' या 'व्यंग्यार्थ' समझा जाएगा।[2]' यदि ऐसा हो, तब सम्पूर्ण वाग्व्या पार ही व्यंजना का विषय हो जाएगा।

'स्तुति-निन्दा' सम्बन्धी वाक्यों की स्थिति स्पष्ट की जा चुकी है। वहाँ वक्ता का वक्तव्य ही स्तुति या निन्दा होती है। उसे 'अवाच्य' कह कर 'व्यंग्यार्थ' या 'ध्वन्यर्थ' की कल्पना व्यर्थ है।[3]

२०६. **शक्ति नहीं सत्ता** – 'अभिधा' की चर्चा उन्होंने 'शक्ति' के तौर पर न कर के स्वाभाविक सम्बन्ध-भावना के रूप में ही की है। एक भी स्थान पर उन्होंने इन तीनों को एकत्रित रूप में नहीं पढ़ा है, न इनका भेद-प्रदर्शन किया है। हाँ, अर्थ-वृत्ति की व्याख्या करते हुए वे इनकी, बिना नामोल्लेख के ही, चर्चा अवश्य करते रहे हैं, और इस प्रकार की चर्चा में उनका स्पष्ट ध्येय रहा है, अर्थ की एकता, अखण्डता, अविरोधिता, आदि को द्योतित करना। कदाचित् उनकी इस धारणा को अधिक स्पष्टता मिली है 'समवाय-वृत्ति' की व्याख्या में। उसे ही वे आधारभूत शक्ति मान कर, उसमें अन्तवर्ती संयोग को 'निरात्मक' अर्थों की उत्पत्ति एवं 'अन्य-आत्मा' के 'तद्-आत्मा' रूप में अवधारण का कारण मानते हैं। इसे भेद-अभेद से परे की 'शक्ति' उन्होंने कहा है। इस से भी बढ़ कर, वे 'औपचारिकी सत्ता' की व्याख्या में उसे विरुद्ध से विरुद्ध धर्मों या अवस्थाओं में भी अर्थ को धारण और स्थिर करने वाली सत्ता मानते हैं :

तस्माद् भिन्नेषु धर्मेषु विरोधिष्वविरोधिनीम्।
विरोधिख्यापनायैव शब्दैस्तैस्तैरुपाश्रिताम्॥ वा० ३. ३. ४६॥

'वह विरोधी से विरोधी से विरोधी अवस्था में भी स्वार्थ या स्वरूप की संरक्षा का कारण बनती है।' उनकी दृष्टि में यदि 'शक्ति' का कुछ भी महत्त्व या अर्थ है, तो कल्पित 'अपोद्धार' की सामर्थ्य से ही। ये तथाकथित शब्द-शक्तियाँ भी तो इसी

१. वा० २. ३१४. २. वा० २. ३१५. ३. वा० २. ३२०-१.

'अपोद्धार' के कारण समर्थ होती हैं। पर इस अपोद्धार को वे स्वयं कल्पित मानते हैं[२]। 'अभिधा' को वे, इसीलिए, 'नियम' कहते हैं :

अभिधा नियमस्तस्मादभिधानाभिधेययोः ॥ वा० २. ४०८ ॥

२०७. **लोक-प्रयोग** – उनकी इस प्रकार की मान्यता सर्वथा उचित भी है। वे भाषा या वाक्-प्रयोग को व्याकरण का चमत्कार या ईश्वरीय देन मात्र न मान कर लोक-व्यवहार की देन मानते हैं। लोक का व्यवहार क्योंकि उसके बिना-चल नहीं सकता : इसीलिए भाषा को माध्यम रूप में चुन लिया जाता है। लोक-व्यवहार का सम्पूर्ण आधार इन्हीं शब्दों पर होता है। पर, शब्दों का अस्तित्व, पृथक् संकेतक रूप में सत्तावान् माना जाकर भी, व्यवहार में ग्राह्य नहीं है। व्यवहार तो निर्वर्तित होता है 'वृत्ति' या 'अभिधेय' भावना से। प्रयोक्ता के लिए जो 'अभिधेय' होता है, वही ग्रहीता के लिए 'प्रतिपाद्य' होता है। जब वक्ता किसी भी उक्ति को कहता है, तो उसके पीछे कोई न कोई 'वक्तव्य' या 'अभिधेय' छिपा रहता है। उसकी प्रयुक्त शब्द-राशि भी उसी 'अभिधेय' को लेकर चलती है। इस प्रकार उसके प्रत्येक शब्द का अस्तित्व उस सामान्य 'वाक्यार्थ' या 'वाच्यार्थ' के लिए ही होता है। स्वतन्त्र रूप में शब्दों की अर्थ-द्योतक सत्ता भले ही मान ली जाए, किन्तु व्यवहार में उनका उपयोग इसी वाक्यार्थ के अभिधायक 'पद' रूप में ही होता है। वे 'पद' अस्वतन्त्र और एक वक्तव्य भावना के आश्रित होते हैं। अतः उनसे उत्पन्न होने वाला बाधा आदि ज्ञान वक्तव्य-सापेक्ष होता है। 'वक्तव्य' की उपलब्धि होते ही उनकी कुछ भी सत्ता नहीं रहती।

२०८. **लोकोक्ति** – लोक-व्यवहार में 'लोकोक्तियों' या 'व्यंग्योक्तियों' के रूप में तथा 'लक्षक' और 'व्यंजक' कहे जाने शब्दों के रूप में सहस्रों प्रयोग असभ्य से असभ्य भाषा में भी पाए जाते हैं। वे उनका प्रयोग 'स्व-भाव' की दृष्टि से करते हैं। किसी बाधा का अभाव आदि की कल्पना उनके मन में नहीं जगती। वे तो उसे भी बहुधा 'रूढ़ि' अथवा सामान्यतम 'उक्ति' के रूप में प्रयोग करते हैं। कम-से-कम 'लक्षक' और 'व्यंजक' कहे जाने वाले सैकड़ों शब्द तो जन-प्रयोग में 'रूढ़' ही मान लिए जाते हैं। अतः, ये ही शब्द हमारे लिए 'लक्षक' या 'व्यंजक', और उनके लिए 'वाचक', हो जाएँगे। भाषा की प्रवृत्ति को जानने वाले से यह भी छिपा नहीं है कि किस प्रकार एक बोली का 'वाचक' शब्द, दूसरी बोली में 'लक्षक' के रूप में ग्रहण कर लिया जाता है। इस प्रकार 'लोक-प्रयोग या व्यवहार' भाषा के अर्थ-निर्धारण की सबसे बड़ी शक्ति है। भर्तृहरि इस बात को जानते थे। इसीलिए उन्होंने 'विनियोग' को भाषा के 'वाचकत्व' का सबसे बड़ा आधार माना है। उनकी दृष्टि में तो 'विनियोग' के बिना शब्द अपने अर्थ को भी प्रकट नहीं करता (वा० २. ४०६)।

---

२. वा० २. १०; तथा ३. ३. १-२.

२०९. उपसंहार – इस प्रकार ऊपर के पृष्ठों में जो कुछ भी विचार किया गया वह भर्तृहरि की अर्थ-चेतना के प्रकाश में ही। पदार्थों के अनस्तित्व और वाक्य के अस्तित्व को सत्य मानने वाले भर्तृहरि की मौलिकता युक्ति-क्रम को सरल और बोध-गम्य बनाने में है। वे कल्पना से बोझिल शास्त्र को लोक के लिए प्रमाण न मान कर, लोक को शास्त्र के लिए प्रमाण मानते हैं। उनके चिन्तन को लोकानुगामी और व्यवहारवादी कह सकते हैं। स्वयं वैयाकरण और भाष्यकार होकर भी वे, पाणिनि और पतंजलि से भी बढ़कर, 'लोक' का आग्रहपूर्ण उद्घोष कैसे कर सके? यह एक आश्चर्य का विषय है। और, इस सबसे बढ़कर है उनकी सबसे बड़ी दार्शनिक युक्ति जिसे हम लोकदर्शन का मूल कह सकते हैं: दुनिया में सब कुछ सत्य है और सब कुछ असत्य। यह हमारी दृष्टि की सापेक्षता है जो इन दोनों में भेद खड़ा करती रहती है। अन्यथा, जो 'सत्य' है वह कभी 'असत्य' में बदल नहीं सकता। रूपान्तरण मात्र से आत्मा तो नहीं बदल जाती। इसलिए जब हम 'असत्य' कहते हैं, तो वह हमारी अपनी दृष्टि की सीमा होती है। अन्यथा जो सत्य है वह असत्य हो ही कैसे सकता है? इस दृष्टि से न कुछ असत्य है, न अभाव और न ही अ-नित्य। दृश्यमान सभी कुछ सत्य है, भाव है या नित्य है।' उनकी इस सापेक्ष-दृष्टि के ही भाषा और लोक-दर्शन में 'त्रैकालिकी-सत्ता' जैसी सत्ता को भी सरलतम रूप में उपस्थित किया।

अतः सबसे बड़े अस्तित्ववादी, अ-भेदवादी, अ-अखण्डवादी और 'शब्द-ब्रह्म' के उपासक भर्तृहरि शब्द की अर्थ-सीमाओं को 'धर्मः सर्वपदार्थानामतीतः सर्वलक्षणः अनुगृह्णाति सम्बन्धः'[3] के रूप में मानकर, उसे कैसे इन अनित्य शक्तियों की सीमाओं में बंटा हुआ स्वीकार कर लेते? शब्दार्थ सम्बन्ध स्वयं इतना लचकीला, बृंहणशील और सर्वशक्तिमान् है कि उसके रहते अनित्य और खण्ड-रूप शक्तियों को मानने की आवश्यकता और उपयोगिता शेष प्रतीत नहीं होती।

———

१. वा० २. ४०६. २. वा० ३. २. १, १२, १३. ३. वा० ३. ३. ११.

वाक्यार्थ और वाक्य-भेद्

२१०. **वाक्यार्थ वाक्य से अभिन्न है** – भर्तृहरि की वाक्य, शब्द और अर्थ विषयक धारणाओं को समझ लेने के बाद 'वाक्यार्थ' के विषय में उनकी धारणा स्वतः ही स्पष्ट हो जाती है। वस्तुतः 'वाक्य' की भर्तृहरिकृत परिभाषा के मूल में उनकी यह 'वाक्यार्थ-भावना' ही काम कर रही है। **'एकोऽर्थः शब्दवाच्यत्वे बहुरूपः प्रकाशते'** (वा० ३. ३. ८५) – के रूप में भर्तृहरि ने इस 'वाक्यार्थ' को ही एक और अविभाज्य 'वागर्थ' कहा है। वाक्य को 'अपद'[1] 'अक्रम'[2] कहने का कारण भी 'अर्थ' (वाक्यार्थ) की यह अविभाज्यता ही है। सच तो यह है कि भर्तृहरि की सम्पूर्ण वैज्ञानिक एवं दार्शनिक चेतना जिस सापेक्षिक सत्कार्यवाद के सिद्धान्त पर आधारित है, उस में काल, भाव, सत्ता आदि के अभाव अथवा तज्जन्य विभाग आदि को मानने का अवकाश ही नहीं रहता। इस युक्ति के अनुसार नित्यता-अनित्यता अथवा एकत्व का निर्णय प्रायोगिक सापेक्षता पर निर्भर होता है। उच्चारण-काल, व्यक्तिगत 'सत्ता' या 'भाव' की सीमा के कारण वक्ता के एक ही अभिधेय या वक्तव्य को, 'पद' अथवा 'पदार्थ' के रूप में खण्ड-खण्ड मान बैठना अनुचित है। व्यावहारिक सुविधा के लिए इसे भले ही मान लिया जाय, किन्तु इस प्रकार की पदार्थ-कल्पना की स्थिति न तो दार्शनिक युक्तिक्रम से सिद्ध की जा सकती है, न वैज्ञानिक युक्तिक्रम से। दार्शनिक युक्तिक्रम में 'वक्ता की इच्छा' की विभाज्यता-अविभाज्यता को आधार मानना होगा। और, वैज्ञानिक युक्तिक्रम में प्रत्यक्ष दीखने वाले पदों की प्रत्ययसंयोगजन्य पराश्रितता एवं 'अंगभाव' का ध्यान रखना होगा। पंचम व दशम अध्याय में प्रदर्शित किया जा चुका है कि दोनों दृष्टियों से 'वक्तव्य' एक और अविच्छेद्य है। 'पदों' का विभाग उस 'अविभक्त' को ही कहने का साधनमात्र है। परन्तु उसी कारण उन पदों को पृथक् पृथक् अर्थों का वाहक मान बैठना अनुचित होगा। 'अर्थ' किसी भाव या सत्ता पर आधारित रहता है। एक ही क्षण में एक ही वस्तु की दो 'सत्ताएँ' या 'स्थितियाँ' स्वीकार करना दर्शन व विज्ञान – दोनों – की धारणा के विपरीत है। इसीलिए भर्तृहरि **'वाक्य' और 'वाक्यार्थ' को एक और अविभाज्य इकाई स्वीकार करते हैं।**

२११. **योग्यता, आकांक्षा और आसत्ति की मान्यता अनावश्यक** – विश्वनाथ ने 'साहित्यदर्पण' में वाक्य की परिभाषा इस रूप में की है : **वाक्यं स्याद् योग्यता-**

१. वा० ३. ३. ७६.   २. वा० ३. ३. ८१.

कांक्षा सत्तियुक्तः पदोच्चयः (सा० २. १)। अर्थात्, योग्यता, आकांक्षा एवं आसत्ति से युक्त पदोच्चय (पद-समूह) का नाम 'वाक्य' है। प्रत्यक्षतः वे **अभिहितान्वयवाद** से प्रभावित हैं और वाक्य-विषयक 'संघात-मत' के समर्थक हैं। यहाँ उन्होंने **पदोच्चय** को 'वाक्य' कहने की जो तीन शर्तें बताई हैं, उन पर विचार कर लेना आवश्यक है। **योग्यता** का अर्थ स्वाभाविक अनुकूलता या परस्पर सहवर्तित्ता की सामर्थ्य से है। 'योग' का अर्थ है 'सम्बन्ध'। सम्बन्ध की प्रवृत्ति और स्वाभाविक अनुकूलता ही 'योग्यता' है। भर्तृहरि ने इसे माता और पुत्र के बीच की स्वाभाविक सम्बन्ध-चेतना से तुलनीय बताया है : **समयं योग्यता संविन्मातापुत्रादियोगवत्** (वा० ३. ३. ३१)। **आकांक्षा** का अर्थ है 'पूर्णता प्राप्ति की चाह'। विश्वनाथ के अनुसार जहाँ एक ही वाक्य में स्थित पदों में एक दूसरे के प्रति स्वाभाविक 'योग्यता' (सहवर्तन की भावना) होनी चाहिए, वहाँ उनमें एक दूसरे से मिलकर पूर्ण होने, अथवा एक दूसरे के बिना अभाव अनुभव करने की भावना भी होनी चाहिए। तीसरी विशेषता होनी चाहिए – **आसत्ति** की, अर्थात् उन पदों की समकालिक सहस्थिति की। ये तीनों विशेषताएँ रहने पर ही कोई 'पद-समूह' **वाक्य** कहलाने का अधिकारी होता है। विश्वनाथ द्वारा उक्त ये तीनों विशेषताएँ 'पद' और 'पदार्थ' दोनों पर समान रूप से लागू होती हैं। परन्तु, इसके लागू होने की भी एक सीमा है। जहाँ **भावात्मक** या **प्रश्नात्मक** वाक्यों में एक ही पद वाक्य की स्थिति धारण कर लेता है, वहाँ इन तीनों बातों का ही अवकाश नहीं रहता। वास्तव में ये तीनों शर्तें 'वाक्य' की तथाकथित 'बाह्य-रचना' पर लागू होती है। परन्तु, 'वाक्य' किसी बाह्य रचना का नाम नहीं है, यह बात पूर्व ही स्पष्ट की जा चुकी है। यदि एक 'पद' या वर्ण भी, 'वाक्य' द्वारा अभिहित भावना (अभिधेय) को स्पष्ट करने में समर्थ हो जाता है, तो वह 'वाक्य' ही कहलाता है। (वा० २. ४०)। ऐसे वाक्यों में योग्यता और आसत्ति – दोनों ही महत्वहीन हो जाते हैं। कहा जा सकता है कि ऐसे पद या किसी पूर्ण अर्थ की प्रतीति से पूर्व हमें, उस पद के अर्थ के अतिरिक्त, कुछ अन्य पदों के अर्थों का भी आश्रय लेना पड़ता है। अतः वाक्य-रचना और वाक्यार्थ प्रतीति में वे 'अप्रयुक्तपद' भी अवयवभूत गिने ही जाने चाहिए। किन्तु, सत्य यह है कि न तो वक्ता ही ऐसे 'आवश्यक' (?) पदों को प्रयोग करना अनिवार्य मानता है, और न ही 'स्फोट-सिद्धान्त' के अनुसार उस पद-रूप वाक्य की समाप्ति के समकाल होने वाली अर्थ प्रतीति से पूर्व श्रोता को ही किसी अतिरिक्त पद-कल्पना की सम्भावना रहती है। वक्ता और श्रोता दोनों ही एक विशिष्ट स्थिति में होते हैं। वक्ता की बात को श्रोता स्वतः ही उच्चारण समकाल में ही, समझ लेता है। उसके लिए 'पद' या 'पदार्थ' रूप में किसी अलग वस्तु की कल्पना की आवश्यकता नहीं रह जाती। यदि उस प्रकार की कल्पना का अस्तित्व स्वीकार कर लिया जाय, तब 'स्फोट-सिद्धान्त' का आधार ही स्थिर नहीं रहता। भर्तृ-

हरि ने इस प्रकार की कल्पना को निरी 'व्यावहारिकता' एवं 'ग्रहीता की अशक्ति' कहा है। अध्ययन या अन्यथा समझने-समझाने की सुविधा के लिये हम ऐसी स्थिति को — और उस कारण योग्यता-आकांक्षा-आसत्ति आदि की स्थिति को — भले ही स्वीकार कर लें, उनकी वास्तविक स्थिति व उपयोगिता, प्रतिपत्ता और प्रयोक्ता में से किसी के लिए, न है और न उसे स्वीकार किया जाना चाहिए। (वा० १.२.८६., ४१७) अतः 'वाक्यार्थ' के तथाकथित 'निर्माण' या 'समुच्चय' के लिए कोई शर्तें स्वीकार नहीं की जा सकतीं। यहाँ यह स्मर्तव्य है कि इन्हीं तीन शर्तों में मीमांसा आदि के मतों की आधारभूमि भी गृहीत हो जाती है। इसलिए अभिहितान्वय या अन्विताभिधान-वाद में स्वीकृत 'पदार्थों' की पृथक् सत्ता की कल्पना, किसी भी रूप में, अग्राह्य एवं अस्वीकार्य ही रहनी चाहिए। स्वभावतः, 'एक पद' से भी, अनेक-पद-निर्मित वाक्य के समान ही, एक और अविभाज्य अर्थ की प्रतीति होती है।

२१२. **'क्रम' और 'पद' निरर्थक उपायमात्र हैं** — विश्वनाथ के उपर्युक्त मत की विवेचना में संघात और क्रम मतों की विवेचना गृहीत हो चुकी है। साथ ही **अन्विताभिधानवाद** के समर्थक 'आदिपद', 'पृथक्-सर्व-पद', एवं 'साकांक्षपद' को मानने वाले तीनों मतों की उपयोगिता भी वहीं निरर्थक सिद्ध हो चुकी है। 'स्फोट-सिद्धान्त' की स्वीकृति वाक्यार्थ की जिन दो विशेषताओं को सामने लाती है, वे हैं **अक्रमता** (यौगपद्य) और **अपदता** (संहिताभाव)। ये दोनों विशेषताएँ मानने का एकमात्र कारण है, उच्चरित ध्वनियों को, वर्ण, पद, या वाक्यरूप में स्वीकार न करके, वक्ता के बुद्धिस्थ 'अभिधेय' को ही 'वाक्य' रूप में स्वीकार करना : **वाक्यस्य बुद्धौ नित्यत्वम्**। क्रम और पद की आवश्यकता 'उपाय' या साधन-रूप में ही पड़ती है : उस एक और अविभाज्य अर्थ (वाक्य) को व्यक्त करने के लिए ही। बुद्धिस्थ वह अर्थ एक और अविभाज्य है : उच्चारण व श्रुतिरूप में उसे ही विभाजित करके अभिव्यक्ति मिलती है। स्वभावतः उससे उत्पन्न होने वाली प्रतीति (वाक्यार्थ) भी अविभक्त एवं युगपत् ही होनी चाहिए। आखिर, वाक्य है 'वाग्व्यापार की इकाई'। और, 'वाक्' है वक्ता के बुद्ध्यर्थ की श्रोता के बुद्ध्यर्थ में परिणति : **बुद्धि यर्थादेव बुद्ध्यर्थे जाते तदपि दृश्यते।** और, यदि 'वाक्यार्थ' बुद्धिस्थ होने से एक है, तो उसके विभाजित अंशों को, सुविधा-पूर्ण मानकर भी, स्वतन्त्र इकाई नहीं माना जा सकता। अंश या अंग कभी 'अंगी' नहीं कहला सकते। अंगी के बिना अंगों की सत्ता निरर्थक है।

पृथङ् निविष्टतत्वानां पृथगर्थानुपातिनाम्।
इन्द्रियाणां यथा कार्यमृते देहान्न कल्पते ॥ वा० २. ४. २६ ॥

और अंगी 'वाक्य' या 'वाक्यार्थ' ही हो सकता है।

२१३. **प्रतिभा ही वाक्यार्थ है** — 'वाक्यार्थ' के सम्बन्ध में 'संसर्ग', 'आधिक्य', आदि

अन्यान्य सम्भावनाओं के निराकरण के बाद भर्तृहरि, इसीलिये, **प्रतिभा (बुद्धि) को ही 'वाक्यार्थ' का मूल स्वीकार करते हैं।** 'बुद्ध्यर्थ' की बात भी इसी मान्यता को सम्पुष्ट करती है। उनका कहना है कि 'वाक्यार्थ' को 'प्रतिभा' कहना ही अधिक उपयुक्त है। जब हम किसी 'वाक्य' को पदों में विभक्त करके उसे समझने का प्रयत्न करते हैं, तब उन खण्डांशों द्वारा उत्पन्न प्रतिभा खण्डित-सी प्रतीत होती है। इसीलिये उसमें वाक्यार्थ-सी एकत्ववृत्ति उत्पन्न न होकर, खण्डात्मक प्रतीति उपलब्धि होती है। वास्तव में, 'वाक्यार्थ' की एकता जगते ही पदार्थों की विविधता डूब जाती है। सब पदार्थों का स्वतन्त्र अस्तित्व मिट कर ही एक नई 'अखण्डता' का जन्म होता है। इसे ही हम 'वाक्यार्थ' या 'प्रतिभा' कहते हैं। इस 'प्रतिभा' की व्याख्या या इसका निरूपण किन्हीं अन्य शब्दों द्वारा नहीं किया जा सकता। इसे विभक्त करके देखने की प्रवृत्ति तो वक्ता या प्रयोक्ता में भी नहीं होती। अर्थात्, प्रयोग की स्थिति में प्रयोक्ता कभी भी पदार्थों का विचार करके पदों को प्रयुक्त नहीं करता।

विच्छेदग्रहणेऽर्थानां प्रतिभाऽन्यैव जायते।
वाक्यार्थ इति तामाहुः पदार्थैरुपपादिताम् ॥ वा० २.१४५ ॥
इदं तदिति साऽन्येषामनाख्येया कथंचन।
प्रत्यात्मवृत्तिसिद्धा सा कर्त्राऽपि न निरूप्यते ॥ वा० २.१४६ ॥

२१४. **प्रतिभा अखण्डनीया है** — इस 'प्रतिभा' का स्वरूप निर्देश करते हुए भर्तृहरि ने वे ही विशेषतायें गिनाई हैं, जिन्हें 'वाक्य' की एकता के लिए बताया गया है। इस 'प्रतिभा' का यदि पदार्थों के रूप में विश्लेषण करना चाहें, तो पदार्थों का एक अजीब-सा मिला-जुला रूप सामने आता है। उनमें परात्पर विभाजक रेखायें खींचने का प्रयास भ्रामक ही सिद्ध होता है। सत्य तो यह है कि वह वर्तमान या अदृश्य पदों की समग्रता को लेकर भी, उनसे बढ़कर, एक सर्वग्राही रूप लेती दिखाई देती है। वास्तव में उसका सम्बन्ध शब्दों से नहीं, 'विषय' से है।

उपश्लेषमिवार्थानां सा करोत्यविचारिता।
सार्वरूप्यमिवापन्ना विषयत्वेन वर्त्तते ॥ वा० १.१४७ ॥

हम उसको उच्चरित शब्दों से सम्बद्ध मान बैठें, या प्रयोक्ता और ग्रहीता के भावैक्य पर आधारित; वक्तव्य के पूर्णतम विनिश्चय में उससे बढ़कर अन्य कोई शक्ति या चेतना अधिक समर्थ नहीं है। शब्द अथवा शब्द-भावना की पूर्णता भी, उनके प्रत्यायन की पूर्ण सामर्थ्य के रूप में, 'प्रतिभा' में ही है।

साक्षाच्छब्देन जनितां, भावनानुगमेन वा।
इतिकर्त्तव्यतायां तां न कश्चिदतिवर्त्तते ॥ वा० २.१४८ ॥

मनुष्य, बच्चा, या पशु-पक्षी कोई भी हो, इस 'प्रतिभा' को ही 'अर्थ-ग्रहण' और

वाग्व्यापार' में परम प्रमाण मानता है। जीवन के अन्य-क्षेत्रों में भी, बच्चों और पक्षियों के अबोध जीवन में भी, यह प्रतिभा ही यथार्थ का ज्ञान कराने वाली होती है। 'प्रतिभा' जिस बात की ग्रहण कर ले वही बात अज्ञानी से अज्ञानी के लिए भी ग्राह्य बन जाती है। (वा० २.११६,१४६)।

२१५ **प्रतिभा सहज है** – यह प्रतिभा सहजात है, अभ्यासादि द्वारा उत्पन्न नहीं। अभ्यास द्वारा प्रतिभा की प्रखरता में अन्तर आ सकता है। किन्तु, प्रतिभा के बिना अभ्यास महत्वहीन ही रह जाता है (वा० २.१२०)। सत्य तो है कि 'मन्दबुद्धिता' आदि कर्मफल का परिणाम होती हैं। 'प्रतिभा' भी उसी प्रकार 'मन्दादि'-विभाजन को प्राप्त करती है। अतः प्रतिभा को, स्वाभाविक के अतिरिक्त, सहजात कहना भी ठीक है (वा० २.१५०)। नर-कोयल के स्वर में वसन्त में वासनात्मक मस्ती का समावेश, पक्षियों को नीड-निर्माण, एवं पशुओं को अपनी-अपनी शरण के निर्माण में समर्थ बनाने वाली यह सहज प्रतिभा ही है (वा० २.१५१)। पशु-पक्षियों की वंशक्रमागत भोजन, राग, द्वेष, या अन्यान्य प्रवृत्तियों का आविर्भाव भी इसी सहजात प्रतिभा के कारण ही होता है (वा० २.१५२)। अतः यह 'प्रतिभा' ही 'प्रयोग' और 'ग्रहण' का मूलाधार है।

२१६. **छह प्रकार की प्रतिभा** – भर्तृहरि ने इस प्रतिभा को छह प्रकार की बताया है (वा० २.१५४)। स्वाभाविक या सहज प्रतिभा (स्वभाव) की चर्चा ऊपर की जा चुकी है। परम्परागत व्यवहार (चरण) से भी प्रतिभा को विकास मिलता है। 'अभ्यास' है मनुष्य द्वारा किया जाने वाला अनुकरण। बार-बार का अनुकरण भी किसी विशिष्ट चेतना के दृढ़ीकरण में सहायता पहुँचाता है। 'यौगिक' या योगात्मक प्रतिभा (योग) मनुष्य के अपने पर्यवेक्षण का परिणाम है। अन्वय-व्यतिरेक आदि की भावना भी इसी यौगिक प्रतिभा में ही गृहीत होती है। संयोग-विभागात्मक बुद्धि द्वारा प्रकृति-प्रत्ययादि का विभाग भी इसी वर्ग में गृहीत होता है। अध्ययनादि द्वारा यह प्रतिभा सम्पुष्ट होती है। 'अदृष्टोपपादित' प्रतिभा का अर्थ है भाग्यवशात् या अप्रत्यक्ष कारणों द्वारा समृद्ध प्रतिभा। व्यवहार में भी हम देखते हैं कि श्रुत शब्दों की सीमा से भी परे जब कभी कोई दृष्टि जा पहुँचती है, तब उसका कारण 'अप्रत्यक्ष' ही रहता है। शिक्षा, अभ्यास, आदि भी इसमें कुछ सहायता नहीं करते। परन्तु, इस के विपरीत अन्य स्थिति वह है, जब किसी विशिष्ट दशा में या विशिष्ट प्रकरणादि में कोई उद्बोध होता है। विशिष्ट स्थितियों में जगने वाली यह प्रतिभा ही 'विशिष्टोपहिता प्रतिभा' कही गई है।

इस प्रकार प्रतिभा छह प्रकार की है और यही अन्यान्य रूप में स्फोटात्मक वाक्यार्थ की उपलब्धि में कारण बनती है। इसीलिये 'शब्द' को भर्तृहरि ने 'प्रतिभात्मा'

(वा० १.११६) कहा है।

२१७. **विशिष्ट स्थितियां** –'विशिष्टोपहिता' प्रतिभा में जिस 'विशेष स्थिति' का संकेत दिया गया है, वह मूलतः वाग्व्यापार की 'पृष्ठभूमिका' के रूप सर्वत्र ही व्याप्त रहती है। उसका प्रभाव भी किसी न किसी रूप में सर्वत्र देखा ही जाता है। वाग्व्यापार की इस पृष्ठभूमिका को समझना अत्यावश्यक है। 'वाक्यार्थ' और 'वागर्थ' को समझने का मूलाधार ये विशिष्ट स्थितियाँ ही हैं। भर्तृहरि इन्हें वाक्य, प्रकरण, अर्थ (मूलभावना), औचित्य (समयानुकूलता), देश, काल. संसर्ग, विप्रयोग, साहचर्य, विरोध, लिङ्ग, अन्यसंनिधि, सारूप्य और वैरूप्य के रूप में मानते हैं (वा० २.३१६-७)। **'न रूपादेव केवलात्'** (वा० २.३१६) कहकर वे वाग्व्यापार के अभिव्यक्त-रूपों (वर्ण, पद, आदि) की निस्सारता एवं असमर्थता भर प्रकट करते हैं। यदि उच्चरित पदों के अर्थों (पदार्थों) से ही 'वाक्यार्थ' का ज्ञान सम्भव होता, तब इन प्रकरणादि को मान्यता देने की आवश्यकता न रहती। आधुनिकतम विचारकों ने भी यह स्वीकार किया है कि एक ही 'वाक्य' विविध अवस्थाओं में विविध अर्थों की प्रतीति देने में समर्थ होता है।[1] परन्तु ये विविध अर्थ तब तक ही हैं, जब तक वक्ता और श्रोता के अतिरिक्त तीसरा व्यक्ति उन्हें पढ़ता या सुनता है, क्योंकि उसका आधार शब्द-रूप होते हैं। वक्ता और श्रोता को अपनी परिस्थिति, स्थान, समय आदि का पूर्ण ध्यान होने से वे किसी विशिष्ट वाक्य को एक विशिष्ट अर्थ में ही प्रयोग एवं ग्रहण करते हैं : उनके लिए अर्थ-भिन्नता का अवकाश ही नहीं रहता। यही स्थिति अनेकार्थकता के सम्बन्ध में भी है। अनेकार्थता या विविध-अर्थात्मकता का प्रश्न कुछ शास्त्रीय प्रश्न है, उसे व्यावहारिक नहीं माना जा सकता। भाषा-तत्व और व्याकरण की दृष्टि से 'प्रतिभा' का स्वरूप 'स्फोट' है। और, 'स्फोट' के रहते किसी भी प्रकार की 'शब्दशक्ति' की मान्यता का अवकाश नहीं रहता।[2] 'स्फोट' वाक्य में जिस अर्थ की अभिव्यक्ति देता है, उसे 'शब्दार्थ' या 'पदार्थ' न कह कर 'वाक्यार्थ' या 'अभिधेयार्थ' ही कहना चाहिए। शब्द-शक्ति के समर्थकों द्वारा मर्यादित 'अभिधा' का उस से कोई सम्बन्ध नहीं है। शब्द या वाक्य का अर्थ से सीधा सम्बन्ध 'स्फोट' रूप में ही होता है। इसीलिए 'स्फोटात्मा' (वा० १.७८) और प्रतिभात्मा (वा० १-११६) को 'वाक्यार्थ' या 'अभिधेय' का पर्याय ही कहना चाहिए। और, 'स्फोट' और 'प्रतिभा' क्योंकि अविभाज्य हैं, इसलिए उनसे होने वाली प्रतीति (वाक्यार्थ) भी अविभाज्य होनी चाहिए।

२१८. **विभाग-वाक्यों का महत्त्व** – वाक्यार्थ की इस अविभाज्यता को स्वीकार कर

---

१. 'स्पीच एक लैंग्वेज', अनुच्छेद–५१', पृ० २८५–१६०।

२. 'वाक्य० ब्रह्म०', भूमिका, रामगोविन्द, शुक्ल चौ० सीरीज, पृ० १६।

हरि ने इस प्रकार की कल्पना को निरी 'व्यावहारिकता' एवं 'ग्रहीता की अशक्ति' कहा है। अध्ययन या अन्यथा समझने-समझाने की सुविधा के लिये हम ऐसी स्थिति को — और उस कारण योग्यता-आकांक्षा-आसत्ति आदि की स्थिति को — भले ही स्वीकार कर लें, उनकी वास्तविक स्थिति व उपयोगिता, प्रतिपत्ता और प्रयोक्ता में से किसी के लिए, न है और न उसे स्वीकार किया जाना चाहिए। (वा० १.२.८६., ४१७) अतः 'वाक्यार्थ' के तथाकथित 'निर्माण' या 'समुच्चय' के लिए कोई शर्तें स्वीकार नहीं की जा सकतीं। यहाँ यह स्मर्तव्य है कि इन्हीं तीन शर्तों में मीमांसा आदि के मतों की आधारभूमि भी गृहीत हो जाती है। इसलिए अभिहितान्वय या अन्विताभिधान-वाद में स्वीकृत 'पदार्थों' की पृथक् सत्ता की कल्पना, किसी भी रूप में, अग्राह्य एवं अस्वीकार्य ही रहनी चाहिए। स्वभावतः, 'एक पद' से भी, अनेक-पद-निर्मित वाक्य के समान ही, एक और अविभाज्य अर्थ की प्रतीति होती है।

२१२. **'क्रम' और 'पद' निरर्थक उपायमात्र हैं** — विश्वनाथ के उपर्युक्त मत की विवेचना में संघात और क्रम मतों की विवेचना गृहीत हो चुकी है। साथ ही **अन्विताभिधानवाद** के समर्थक 'आदिपद', 'पृथक्-सर्व-पद', एवं 'साकांक्षपद' को मानने वाले तीनों मतों की उपयोगिता भी वहीं निरर्थक सिद्ध हो चुकी है। 'स्फोट-सिद्धान्त' की स्वीकृति वाक्यार्थ की जिन दो विशेषताओं को सामने लाती है, वे हैं **अक्रमता** (यौगपद्य) और **अपदता** (संहिताभाव)। ये दोनों विशेषताएँ मानने का एकमात्र कारण है, उच्चरित ध्वनियों को, वर्ण, पद, या वाक्यरूप में स्वीकार न करके, वक्ता के बुद्धिस्थ 'अभिधेय' को ही 'वाक्य' रूप में स्वीकार करना : **वाक्यस्य बुद्धौ नित्यत्वम्।** क्रम और पद की आवश्यकता 'उपाय' या साधन-रूप में ही पड़ती है : उस एक और अविभाज्य अर्थ (वाक्य) को व्यक्त करने के लिए ही। बुद्धिस्थ वह अर्थ एक और अविभाज्य है : उच्चारण व श्रुतिरूप में उसे ही विभाजित करके अभिव्यक्ति मिलती है। स्वभावतः उससे उत्पन्न होने वाली प्रतीति (वाक्यार्थ) भी अविभक्त एवं युगपत् ही होनी चाहिए। आखिर, वाक्य है 'वाग्व्यापार की इकाई'। और, 'वाक्' है वक्ता के बुद्ध्यर्थ की श्रोता के बुद्ध्यर्थ में परिणति : **बुद्धि्यर्थादेव बुद्ध्यर्थे जाते तदपि दृश्यते।** और, यदि 'वाक्यार्थ' बुद्धिस्थ होने से एक है, तो उसके विभाजित अंशों को, सुविधा-पूर्ण मानकर भी, स्वतन्त्र इकाई नहीं माना जा सकता। अंश या अंग कभी 'अंगी' नहीं कहला सकते। अंगी के बिना अंगों की सत्ता निरर्थक है।

पृथङ् निविष्टतत्वानां पृथगर्थानुपातिनाम्।
इन्द्रियाणां यथा कार्यमृते देहान्न कल्पते॥ वा० २. ४. २६॥

और अंगी 'वाक्य' या 'वाक्यार्थ' ही हो सकता है।

२१३. **प्रतिभा ही वाक्यार्थ है** — 'वाक्यार्थ' के सम्बन्ध में 'संसर्ग', 'आधिक्य', आदि

अन्यान्य सम्भावनाओं के निराकरण के बाद भर्तृहरि, इसीलिये, **प्रतिभा (बुद्धि) को ही 'वाक्यार्थ' का मूल स्वीकार करते हैं।** 'बुद्ध्यर्थ' की बात भी इसी मान्यता को सम्पुष्ट करती है। उनका कहना है कि 'वाक्यार्थ' को 'प्रतिभा' कहना ही अधिक उपयुक्त है। जब हम किसी 'वाक्य' को पदों में विभक्त करके उसे समझने का प्रयत्न करते हैं, तब उन खण्डांशों द्वारा उत्पन्न प्रतिभा खण्डित-सी प्रतीत होती है। इसीलिये उसमें वाक्यार्थ-सी एकत्ववृत्ति उत्पन्न न होकर, खण्डात्मक प्रतीति उपलब्धि होती है। वास्तव में, 'वाक्यार्थ' की एकता जगते ही पदार्थों की विविधता डूब जाती है। सब पदार्थों का स्वतन्त्र अस्तित्व मिट कर ही एक नई 'अखण्डता' का जन्म होता है। इसे ही हम 'वाक्यार्थ' या 'प्रतिभा' कहते हैं। इस 'प्रतिभा' की व्याख्या या इसका निरूपण किन्हीं अन्य शब्दों द्वारा नहीं किया जा सकता। इसे विभक्त करके देखने की प्रवृत्ति तो वक्ता या प्रयोक्ता में भी नहीं होती। अर्थात्, प्रयोग की स्थिति में प्रयोक्ता कभी भी पदार्थों का विचार करके पदों को प्रयुक्त नहीं करता।

विच्छेदग्रहणेऽर्थानां प्रतिभाऽन्यैव जायते।
वाक्यार्थ इति तामाहुः पदार्थैरुपपादिताम् ॥ वा० २.१४५ ॥
इदं तदिति साऽन्येषामनाख्येया कथंचन।
प्रत्यात्मवृत्तिसिद्धा सा कर्त्राऽपि न निरूप्यते ॥ वा० २.१४६ ॥

२१४. **प्रतिभा अखण्डनीया है** – इस 'प्रतिभा' का स्वरूप निर्देश करते हुए भर्तृहरि ने वे ही विशेषतायें गिनाई हैं, जिन्हें 'वाक्य' की एकता के लिए बताया गया है। इस 'प्रतिभा' का यदि पदार्थों के रूप में विश्लेषण करना चाहें, तो पदार्थों का एक अजीब-सा मिला-जुला रूप सामने आता है। उनमें परात्पर विभाजक रेखायें खींचने का प्रयास भ्रामक ही सिद्ध होता है। सत्य तो यह है कि वह वर्तमान या अदृश्य पदों की समग्रता को लेकर भी, उनसे बढ़कर, एक सर्वग्राही रूप लेती दिखाई देती है। वास्तव में उसका सम्बन्ध शब्दों से नहीं, 'विषय' से है।

उपश्लेषमिवार्थानां सा करोत्यविचारिता।
सार्वरूप्यमिवापन्ना विषयत्वेन वर्तते ॥ वा० १.१४७ ॥

हम उसको उच्चरित शब्दों से सम्बद्ध मान बैठें, या प्रयोक्ता और ग्रहीता के भावैक्य पर आधारित; वक्तव्य के पूर्णतम विनिश्चय में उससे बढ़कर अन्य कोई शक्ति या चेतना अधिक समर्थ नहीं है। शब्द अथवा शब्द-भावना की पूर्णता भी, उनके प्रत्यायन की पूर्ण सामर्थ्य के रूप में, 'प्रतिभा' में ही हैं।

साक्षाच्छब्देन जनितां, भावनानुगमेन वा।
इतिकर्त्तव्यतायां तां न कश्चिदतिवर्तते ॥ वा० २.१४८ ॥

मनुष्य, बच्चा, या पशु-पक्षी कोई भी हो, इस 'प्रतिभा' को ही **'अर्थ-ग्रहण'** और

हरि ने इस प्रकार की कल्पना को निरी 'व्यावहारिकता' एवं 'ग्रहीता की अशक्ति' कहा है। अध्ययन या अन्यथा समझने-समझाने की सुविधा के लिये हम ऐसी स्थिति को — और उस कारण योग्यता-आकांक्षा-आसत्ति आदि की स्थिति को — भले ही स्वीकार कर लें, उनकी वास्तविक स्थिति व उपयोगिता, प्रतिपत्ता और प्रयोक्ता में से किसी के लिए, न है और न उसे स्वीकार किया जाना चाहिए। (वा० १.२.८६., ४१७) अतः 'वाक्यार्थ' के तथाकथित 'निर्माण' या 'समुच्चय' के लिए कोई शर्तें स्वीकार नहीं की जा सकतीं। यहाँ यह स्मर्तव्य है कि इन्हीं तीन शर्तों में मीमांसा आदि के मतों की आधारभूमि भी गृहीत हो जाती है। इसलिए अभिहितान्वय या अन्विताभिधान-वाद में स्वीकृत 'पदार्थों' की पृथक् सत्ता की कल्पना, किसी भी रूप में, अग्राह्य एवं अस्वीकार्य ही रहनी चाहिए। स्वभावतः, 'एक पद' से भी, अनेक-पद-निर्मित वाक्य के समान ही, एक और अविभाज्य अर्थ की प्रतीति होती है।

२१२. **'क्रम' और 'पद' निरर्थक उपायमात्र हैं** — विश्वनाथ के उपर्युक्त मत की विवेचना में संघात और क्रम मतों की विवेचना गृहीत हो चुकी है। साथ ही **अन्विताभिधानवाद** के समर्थक 'आदिपद', 'पृथक्-सर्व-पद', एवं 'साकांक्षपद' को मानने वाले तीनों मतों की उपयोगिता भी वहीं निरर्थक सिद्ध हो चुकी है। 'स्फोट-सिद्धान्त' की स्वीकृति वाक्यार्थ की जिन दो विशेषताओं को सामने लाती है, वे हैं **अक्रमता** (यौगपद्य) और **अपदता** (संहिताभाव)। ये दोनों विशेषताएँ मानने का एकमात्र कारण है, उच्चरित ध्वनियों को, वर्ण, पद, या वाक्यरूप में स्वीकार न करके, वक्ता के बुद्धिस्थ 'अभिधेय' को ही 'वाक्य' रूप में स्वीकार करना : **वाक्यस्य बुद्धौ नित्यत्वम्**। क्रम और पद की आवश्यकता 'उपाय' या साधन-रूप में ही पड़ती है : उस एक और अविभाज्य अर्थ (वाक्य) को व्यक्त करने के लिए ही। बुद्धिस्थ वह अर्थ एक और अविभाज्य है : उच्चारण व श्रुतिरूप में उसे ही विभाजित करके अभिव्यक्ति मिलती है। स्वभावतः उससे उत्पन्न होने वाली प्रतीति (वाक्यार्थ) भी अविभक्त एवं युगपत् ही होनी चाहिए। आखिर, वाक्य है 'वाग्व्यापार की इकाई'। और, 'वाक्' है वक्ता के बुद्ध्यर्थ की श्रोता के बुद्ध्यर्थ में परिणति : **बुद्धि् यर्थादेव बुद्ध्यर्थे जाते तदपि दृश्यते।** और, यदि 'वाक्यार्थ' बुद्धिस्थ होने से एक है, तो उसके विभाजित अंशों को, सुविधा-पूर्ण मानकर भी, स्वतन्त्र इकाई नहीं माना जा सकता। अंश या अंग कभी 'अंगी' नहीं कहला सकते। अंगी के बिना अंगों की सत्ता निरर्थक है।

> **पृथङ् निविष्टतत्वानां पृथगर्थानुपातिनाम् ।**
> **इन्द्रियाणां यथा कार्यमृते देहान्न कल्पते ।। वा० २. ४. २६ ।।**

और अंगी 'वाक्य' या 'वाक्यार्थ' ही हो सकता है।

२१३. **प्रतिभा ही वाक्यार्थ है** — 'वाक्यार्थ' के सम्बन्ध में 'संसर्ग', 'आधिक्य', आदि

अन्यान्य सम्भावनाओं के निराकरण के बाद भर्तृहरि, इसीलिये, **प्रतिभा (बुद्धि) को ही 'वाक्यार्थ' का मूल स्वीकार करते हैं।** 'बुद्ध्यर्थ' की बात भी इसी मान्यता को सम्पुष्ट करती है। उनका कहना है कि 'वाक्यार्थ' को 'प्रतिभा' कहना ही अधिक उपयुक्त है। जब हम किसी 'वाक्य' को पदों में विभक्त करके उसे समझने का प्रयत्न करते हैं, तब उन खण्डांशों द्वारा उत्पन्न प्रतिभा खण्डित-सी प्रतीत होती है। इसीलिये उसमें वाक्यार्थ-सी एकत्ववृत्ति उत्पन्न न होकर, खण्डात्मक प्रतीति उपलब्धि होती है। वास्तव में, 'वाक्यार्थ' की एकता जगते ही पदार्थों की विविधता डूब जाती है। सब पदार्थों का स्वतन्त्र अस्तित्व मिट कर ही एक नई 'अखण्डता' का जन्म होता है। इसे ही हम 'वाक्यार्थ' या 'प्रतिभा' कहते हैं। इस 'प्रतिभा' की व्याख्या या इसका निरूपण किन्हीं अन्य शब्दों द्वारा नहीं किया जा सकता। इसे विभक्त करके देखने की प्रवृत्ति तो वक्ता या प्रयोक्ता में भी नहीं होती। अर्थात्, प्रयोग की स्थिति में प्रयोक्ता कभी भी पदार्थों का विचार करके पदों को प्रयुक्त नहीं करता।

विच्छेदग्रहणेऽर्थानां प्रतिभाऽन्यैव जायते।
वाक्यार्थ इति तामाहुः पदार्थैरुपपादिताम् ॥ वा० २.१४५ ॥
इदं तदिति साऽन्येषामनाख्येया कथंचन।
प्रत्यात्मवृत्तिसिद्धा सा कर्त्राऽपि न निरूप्यते ॥ वा० २.१४६ ॥

२१४. **प्रतिभा अखण्डनीया है** – इस 'प्रतिभा' का स्वरूप निर्देश करते हुए भर्तृहरि ने वे ही विशेषतायें गिनाई हैं, जिन्हें 'वाक्य' की एकता के लिए बताया गया है। इस 'प्रतिभा' का यदि पदार्थों के रूप में विश्लेषण करना चाहें, तो पदार्थों का एक अजीब-सा मिला-जुला रूप सामने आता है। उनमें परात्पर विभाजक रेखायें खींचने का प्रयास भ्रामक ही सिद्ध होता है। सत्य तो यह है कि वह वर्तमान या अदृश्य पदों की समग्रता को लेकर भी, उनसे बढ़कर, एक सर्वग्राही रूप लेती दिखाई देती है। वास्तव में उसका सम्बन्ध शब्दों से नहीं, 'विषय' से है।

उपश्लेषमिवार्थानां सा करोत्यविचारिता।
सार्वरूप्यमिवापन्ना विषयत्वेन वर्त्तते ॥ वा० १.१४७ ॥

हम उसको उच्चरित शब्दों से सम्बद्ध मान बैठें, या प्रयोक्ता और ग्रहीता के भावैक्य पर आधारित; वक्तव्य के पूर्णतम विनिश्चय में उससे बढ़कर अन्य कोई शक्ति या चेतना अधिक समर्थ नहीं है। शब्द अथवा शब्द-भावना की पूर्णता भी, उनके प्रत्यायन की पूर्ण सामर्थ्य के रूप में, 'प्रतिभा' में ही है।

साक्षाच्छब्देन जनितां, भावनानुगमेन वा।
इतिकर्त्तव्यतायां तां न कश्चिदतिवर्त्तते ॥ वा० २.१४८ ॥

मनुष्य, बच्चा, या पशु-पक्षी कोई भी हो, इस 'प्रतिभा' को ही 'अर्थ-ग्रहण' और

वाग्व्यापार' में परम प्रमाण मानता है। जीवन के अन्य-क्षेत्रों में भी, बच्चों और पक्षियों के अबोध जीवन में भी, यह प्रतिभा ही यथार्थ का ज्ञान कराने वाली होती है। 'प्रतिभा' जिस बात की ग्रहण कर ले वही बात अज्ञानी से अज्ञानी के लिए भी ग्राह्य बन जाती है। (वा० २.११६,१४६)।

२१५ **प्रतिभा सहज है** – यह प्रतिभा सहजात है, अभ्यासादि द्वारा उत्पन्न नहीं। अभ्यास द्वारा प्रतिभा की प्रखरता में अन्तर आ सकता है। किन्तु, प्रतिभा के बिना अभ्यास महत्वहीन ही रह जाता है (वा० २.१२०)। सत्य तो है कि 'मन्दबुद्धिता' आदि कर्मफल का परिणाम होती हैं। 'प्रतिभा' भी उसी प्रकार 'मन्दादि'-विभाजन को प्राप्त करती है। अतः प्रतिभा को, स्वाभाविक के अतिरिक्त, सहजात कहना भी ठीक है (वा० २.१५०)। नर-कोयल के स्वर में वसन्त में वासनात्मक मस्ती का समावेश, पक्षियों को नीड-निर्माण, एवं पशुओं को अपनी-अपनी शरण के निर्माण में समर्थ बनाने वाली यह सहज प्रतिभा ही है (वा० २.१५१)। पशु-पक्षियों की वंशक्रमागत भोजन, राग, द्वेष, या अन्यान्य प्रवृत्तियों का आविर्भाव भी इसी सहजात प्रतिभा के कारण ही होता है (वा० २.१५२)। अतः यह 'प्रतिभा' ही 'प्रयोग' और 'ग्रहण' का मूलाधार है।

२१६. **छह प्रकार की प्रतिभा** – भर्तृहरि ने इस प्रतिभा को छह प्रकार की बताया है (वा० २.१५४)। स्वाभाविक या सहज प्रतिभा (स्वभाव) की चर्चा ऊपर की जा चुकी है। परम्परागत व्यवहार (चरण) से भी प्रतिभा को विकास मिलता है। 'अभ्यास' है मनुष्य द्वारा किया जाने वाला अनुकरण। बार-बार का अनुकरण भी किसी विशिष्ट चेतना के दृढ़ीकरण में सहायता पहुँचाता है। 'यौगिक' या योगात्मक प्रतिभा (योग) मनुष्य के अपने पर्यवेक्षण का परिणाम है। अन्वय-व्यतिरेक आदि की भावना भी इसी यौगिक प्रतिभा में ही गृहीत होती है। संयोग-विभागात्मक बुद्धि द्वारा प्रकृति-प्रत्ययादि का विभाग भी इसी वर्ग में गृहीत होता है। अध्ययनादि द्वारा यह प्रतिभा सम्पुष्ट होती है। 'अदृष्टोपपादित' प्रतिभा का अर्थ है भाग्यवशात् या अप्रत्यक्ष कारणों द्वारा समृद्ध प्रतिभा। व्यवहार में भी हम देखते हैं कि श्रुत शब्दों की सीमा से भी परे जब कभी कोई दृष्टि जा पहुँचती है, तब उसका कारण 'अप्रत्यक्ष' ही रहता है। शिक्षा, अभ्यास, आदि भी इसमें कुछ सहायता नहीं करते। परन्तु, इस के विपरीत अन्य स्थिति वह है, जब किसी विशिष्ट दशा में या विशिष्ट प्रकरणादि में कोई उद्‌बोध होता है। विशिष्ट स्थितियों में जगने वाली यह प्रतिभा ही 'विशिष्टोपहिता प्रतिभा' कही गई है।

इस प्रकार प्रतिभा छह प्रकार की है और यही अन्यान्य रूप में स्फोटात्मक वाक्यार्थ की उपलब्धि में कारण बनती है। इसीलिये 'शब्द' को भर्तृहरि ने 'प्रतिभात्मा'

(वा० १.११९) कहा है।

२१७. **विशिष्ट स्थितियां** –'विशिष्टोपहिता' प्रतिभा में जिस 'विशेष स्थिति' का संकेत दिया गया है, वह मूलतः वाग्व्यापार की 'पृष्ठभूमिका' के रूप सर्वत्र ही व्याप्त रहती है। उसका प्रभाव भी किसी न किसी रूप में सर्वत्र देखा ही जाता है। वाग्व्यापार की इस पृष्ठभूमिका को समझना अत्यावश्यक है। 'वाक्यार्थ' और 'वागर्थ' को समझने का मूलाधार ये विशिष्ट स्थितियाँ ही हैं। भर्तृहरि इन्हें वाक्य, प्रकरण, अर्थ (मूलभावना), औचित्य (समयानुकूलता), देश, काल, संसर्ग, विप्रयोग, साहचर्य, विरोध, लिङ्ग, अन्यसंनिधि, सारूप्य और वैरूप्य के रूप में मानते हैं (वा० २.३१६-७)। **'न रूपादेव केवलात्'** (वा० २.३१६) कहकर वे वाग्व्यापार के अभिव्यक्त-रूपों (वर्ण, पद, आदि) की निस्सारता एवं असमर्थता भर प्रकट करते हैं। यदि उच्चरित पदों के अर्थों (पदार्थों) से ही 'वाक्यार्थ' का ज्ञान सम्भव होता, तब इन प्रकरणादि को मान्यता देने की आवश्यकता न रहती। आधुनिकतम विचारकों ने भी यह स्वीकार किया है कि एक ही 'वाक्य' विविध अवस्थाओं में विविध अर्थों की प्रतीति देने में समर्थ होता है।[1] परन्तु ये विविध अर्थ तब तक ही हैं, जब तक वक्ता और श्रोता के अतिरिक्त तीसरा व्यक्ति उन्हें पढ़ता या सुनता है, क्योंकि उसका आधार शब्द-रूप होते हैं। वक्ता और श्रोता को अपनी परिस्थिति, स्थान, समय आदि का पूर्ण ध्यान होने से वे किसी विशिष्ट वाक्य को एक विशिष्ट अर्थ में ही प्रयोग एवं ग्रहण करते हैं : उनके लिए अर्थ-भिन्नता का अवकाश ही नहीं रहता। यही स्थिति अनेकार्थकता के सम्बन्ध में भी है। अनेकार्थता या विविध-अर्थात्मकता का प्रश्न कुछ शास्त्रीय प्रश्न है, उसे व्यावहारिक नहीं माना जा सकता। भाषा-तत्व और व्याकरण की दृष्टि से 'प्रतिभा' का स्वरूप 'स्फोट' है। और, 'स्फोट' के रहते किसी भी प्रकार की 'शब्दशक्ति' की मान्यता का अवकाश नहीं रहता।[2] 'स्फोट' वाक्य में जिस अर्थ की अभिव्यक्ति देता है, उसे 'शब्दार्थ' या 'पदार्थ' न कह कर 'वाक्यार्थ' या 'अभिधेयार्थ' ही कहना चाहिए। शब्द-शक्ति के समर्थकों द्वारा मर्यादित 'अभिधा' का उस से कोई सम्बन्ध नहीं है। शब्द या वाक्य का अर्थ से सीधा सम्बन्ध 'स्फोट' रूप में ही होता है। इसीलिए 'स्फोटात्मा' (वा० १.७८) और प्रतिभात्मा (वा० १-११९) को 'वाक्यार्थ' या 'अभिधेय' का पर्याय ही कहना चाहिए। और, 'स्फोट' और 'प्रतिभा' क्योंकि अविभाज्य हैं, इसलिए उनसे होने वाली प्रतीति (वाक्यार्थ) भी अविभाज्य होनी चाहिए।

२१८. **विभाग-वाक्यों का महत्त्व** – वाक्यार्थ की इस अविभाज्यता को स्वीकार कर

---

१. 'स्पीच एक लेंग्वेज', अनुच्छेद–५१', पृ० २८५–१९०।

२. 'वाक्य० ब्रह्म०', भूमिका, रामगोविन्द, शुक्ल चौ० सीरीज, पृ० १९।

लेने के बाद एक प्रश्न और शेष रह जाता है – 'विभाग-वाक्य' और 'वाक्य-भेद' का। वर्तमान भाषा वैज्ञानिकों में एक पुराना विवाद फिर से उठ खड़ा है : वाक्य में विभाग वाक्यों (क्लॉज़स) की सत्ता का। 'विभाग-वाक्य' कई बार एकदम स्वतन्त्र तथा ग्रहण करते दीखते हैं। उनकी पारस्परिक सहस्थिति केवल 'समुच्चयात्मक निपात' (कनजक्टिव) पर ही निर्भर करती है। उस निपात को हटाते ही सारा वाक्य दो स्वतन्त्र भागों में बँटता दीखता है। अनेक विभागों की सहस्थिति में अनेक 'क्रियाओं' की उपस्थिति भी स्वाभाविक है। तब यह कहना, कि उनमें से एक को मुख्य और अन्यों को गौण स्वीकार कर लिया जाय, न्याय पर आधारित नहीं दीखता। किस वाक्यांश या विभाग को मुख्य स्वीकार किया जाय ?, इस प्रश्न पर भी मतभेद हो सकता है। तब हमें भर्तृहरि कृत 'आख्यात' और 'क्रिया' की परिभाषा को देखना होगा। सम्पूर्ण वाक्य के 'साध्य' का निर्णय करके 'मुख्य क्रिया' को ढूँढना होगा। तभी मुख्य-विभाग का निर्णय हो सकेगा। केवल उच्चारण के आधार पर ही विभाग-वाक्यों या भेद-वाक्यों का निर्णय नहीं किया जा सकता। फिर, जहाँ तक 'मुख्य वाक्य-विभाग' का सम्बन्ध है, उसकी कल्पना भी व्यर्थ हो जाती है। कर्त्ता के साथ एक ही 'ग्रहणक-वाक्य' सम्बद्ध हो सकता है। परन्तु, कुछ स्थितियों में कर्त्ता भी क्रिया-भेद से भिन्न-भिन्न दिखाई देते हैं। अतः वहाँ विभाग-वाक्यों की अर्थात्मक सीमाओं को 'अनेक' स्वीकार करके, उन्हें अन्ततः एक में सम्बद्ध मानना अनुचित प्रतीत होता है। भर्तृहरि की दृष्टि में शंकास्पद बाद तो विभाग-वाक्यों की मूल-स्थिति ही है। 'विभाग-वाक्य' केवल रूपात्मक हो सकते हैं। प्रतिभा में वे यदि पृथक्-पृथक् अर्थों की प्रतीति जगाने वाले होंगे, तो उन्हें स्वतन्त्र-वाक्य ही मानना होगा। 'प्रतिभा' में विभाग-वाक्यों की 'अंग-भूत सत्ता' को भी स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं है।

उच्चारणे तु वाक्यानामन्यद्रूपं निगृह्यते।
प्रतिपत्तौ तु भिन्नानामन्यद्रूपं प्रतीयते ॥ वा० २. ४६१ ॥
एकं ग्रहणकं वाक्यं, सामान्येनाभिधीयते।
कर्त्तरीति यथा तच्च पश्वादिषु विभज्यते ॥ वा० २. ४६२ ॥
एकरूपमनेकार्थं तस्मादुपनिबन्धनम्।
योनिर्विभागवाक्यानां तेभ्योऽन्यदिव स्थितम् ॥ वा० २. ४६४ ॥

इसका एकमात्र कारण है विभागों की 'अपूर्णता'। यदि वे भी 'निराकांक्ष' हो जायें तो उनका परात्पर सम्बन्ध नहीं रहेगा।

यद्याकांक्षा निवर्त्तेत तद्भूतस्य सकृच्छ्रुतौ।
नैवान्येनाभिसंबन्धं तदुपेयात्कथंचन ॥ वा० २. ४६२ ॥
निराकांक्षाणि निर्वृत्तौ प्रधानानि परस्परम्।
तेषामनुपकारित्वात्कथं स्यादेकवाक्यता ॥ वा० २. ३५५ ॥

सच तो यह है कि 'भेद-वाक्यों' या 'विभागवाक्यों' की प्रतीति ही किसी 'वाक्य' के उच्चरित होने के बाद होती है। समझने-समझाने की सुविधा के लिये हम उसे भले ही स्वीकार कर लें, उन्हें 'अभिधेय' रूप में स्वीकार करना या 'वाक्य' का स्थानीय मान लेना सर्वथा भ्रामक है।

वाक्यान्तराणां प्रत्येकं समाप्तिः कैश्चिदिष्यते।

रूपान्तरेण युक्तानां वाक्यानां तेन संग्रहः ॥ वा० २.३६७ ॥

न वाक्यस्याभिधेयानि भेदवाक्यानि कानिचित्।

तस्मिंस्तूच्चरिते भेदांस्तथान्यान्प्रतिपद्यते ॥ वा० २. ३६६ ॥

इसी प्रकार 'वाक्य शेष' और 'उत्सर्ग वाक्य' की बात है। वस्तुतः 'वाक्य' की सत्ता उच्चरित पदों तक सीमित न मानने के बाद, ये प्रश्न ही नहीं उठते। वाक्यार्थ की एकता तो एक मात्रा या एक वर्ण से भी सूचित हो जाती है (वा० २. ३५१-३)। क्रियाओं की अनेकता होने पर भी वह एक ही है।

अनेकाख्यातयोगेऽपि वाक्यं न्यायापवादयोः।

एकमेवेष्यते कैश्चिद् भिन्नरूपमिव स्थितम् ॥ वा० २. ३५३ ॥

अनेकशक्तेरेकस्य प्रविभागोऽनुगम्यते।

एकार्थत्वं हि वाक्यस्य मात्रयाऽपि प्रतीयते ॥ वा० २. ४४८ ॥

अतः वाक्यार्थ को 'प्रविभक्त' नहीं कहा जा सकता।

२१९. **समास भी 'विभागवाक्य' ही है** – यही बात 'समास' या तद्गत वृत्ति के विषय में भी है। 'पदकाण्ड' के 'वृत्तिसमुद्देश' में भर्तृहरि ने इस बात पर बल दिया है कि समास किसी अलग वाक्य का प्रतिनिधि नहीं है, बल्कि वह एक ही मुख्य अभिधेय का अविभाज्य अंग है। उसकी स्थिति वाक्य भेद के ही सदृश है। **'समर्थः पदविधिः'** के द्वारा उसे 'संहिता' अथवा 'वाक्य' का स्थान तभी तक दिया जा सकता है, जब तक वह किसी बृहदभिधेय का अंश नहीं समझा जाता। उसकी यह पृथक् स्वतन्त्र स्थिति न लोक में सम्भव है, न शास्त्र में। यह सत्य है कि वृत्तिगत पदसमुदाय, अपने संयोजक 'पदार्थों' से ऊपर उठकर, 'अन्यार्थ' का सृजन करता दीखता है। इस दृष्टि से वह 'वाक्य' के ही तुल्य प्रतीत होता है। इस पर भी उसे 'वाक्य' नहीं कहा जा सकता। पाणिनि ने उसे 'एकपद' माना है। इसलिये 'पदविधि' उसके बाद ही होती है।[1] और, जब उसे 'पद' मान लिया गया, तब उसे ही 'वाक्य' नहीं माना जा सकता। फिर भी उसके पृथक् अर्थ की कल्पना व्यावहारिक सुविधा के लिये ही की जाती है।

---

१. वा० २.१.१।

दुःखा दुरुपपादा च तस्माद् भाष्येष्युदाहृता ।
युगपद् वाचिता सा तु व्यवहारार्थमाश्रिता ।। वा० ३.१४.२४ ।।
समुदायमुपक्रम्य पदं तस्यां प्रयुज्यते ।
विभागेन समाख्याने ततस्तद् द्व्यर्थमुच्यते ।। वा० ३.१४.३५ ।।

सच तो यह है कि 'वृत्तिगत अर्थ' भी इस दृष्टि से 'पदार्थ' से भिन्न नहीं है। उसे भी समझने-समझाने की सुविधा के लिए ही स्वीकार करते हैं। वाक्य में उसका समवेत अर्थ ही प्रतीत होता है। 'स्निग्धकिसलय' कहने से 'स्निग्ध हैं किसलय जिसके ऐसा वृक्ष' का भान हमें तभी तक होता है, जब तक हम पूर्ण वाक्य पर विचार नहीं करते। पूर्णवाक्य में न तो हमें 'स्निग्ध' और 'किसलय' का अर्थ पता चलता है, न उस प्रकार की 'वृत्ति' का। वहाँ हमें जो समग्र अर्थ-प्रतीति होती है, उसमें 'स्निग्ध-किसलय वाला वृक्ष' ही एकमात्र अंशी होती है। यही बात द्वन्द्वादि समासों के विषय में भी है। सच तो यह है कि पूर्ण अर्थभावना को वहन न करने वाले विभाग-वाक्य या समास स्वतन्त्र अर्थ (वाक्यार्थ) का वहन नहीं कर सकते।

सापेक्षाः ये तु वाक्यार्थाः पदार्थैरेव ते समाः ।। वा० २.३२६ ।।
वृत्तिरन्यपदार्थे या तस्या वाक्येष्वसंभवः ।
चार्थे द्वन्द्वपदानां च भेदे वृत्तिर्न विद्यते ।। वा० ३.१४.२८ ।।

इस बात को अन्यान्य उदाहरणों से सिद्ध किया जा सकता है। वस्तुतः 'वाक्यार्थ' की अविभाज्य एकता और उसकी 'स्फोटात्मक' या 'प्रतिभात्मक' सत्ता स्वीकार करते ही, उसके किसी भी अवान्तर भेद को केवल 'शास्त्रीय-कल्पना' या 'विवेचन-सुविधा' ही कहा जा सकता है। अन्यथा ऐसे भेद 'पदार्थों' से अधिक महत्व नहीं रखते। उसे वास्तविक मानकर 'अर्थ-भेद' आदि की कल्पना अव्यावहारिक एवं असत्य है। भर्तृहरि के शब्दों में :

तस्माच्छक्तिविभागेन नित्यः सदसदात्मकः ।
एकोऽर्थः शब्द-वाच्यत्वे बहुरूपः प्रकाशते ।। वा० ३.३.८५ ।।

२२०. **वाक्यों के विविध प्रकार और भर्तृहरि** – इन सब प्रश्नों से पृथक् एक प्रश्न अब भी शेष है। 'प्रश्न', 'इच्छा', निन्दा-स्तुति' आदि के आधार पर, अथवा 'विधि-वाक्य' आदि के अनुसार, वाक्यों के विविध प्रकारों का विभाजन उचित है या नहीं ? मीमांसकों ने वाक्य के आठ भेद या प्रकार स्वीकार किये हैं। डॉ० देवस्थली ने इस पर विशेष प्रकाश डाला है : डॉ० गार्डिनर ने वाक्यों के अन्तर्राष्ट्रीय वर्गीकरण पर प्रकाश डाला है। अन्तर्राष्ट्रीय वैयाकरणों ने वाक्यों के चार भेद स्वीकार किये हैं। इनके नामों में अन्तर सुझाया जा सकता है। डॉ० ब्यूलर, डॉ० क्रेट्श्मेर आदि के

प्रयासों के आधार पर ही ये अन्तर्राष्ट्रीय मत स्थिर हुए हैं। उन विद्वानों के मतों के मूल में निश्चय ही भारतीय परम्परा के निष्कर्षों का समावेश भी आ ही जाता है। इनके द्वारा स्वीकृत चारों प्रकार-भेद ही मीमांसकीय मान्यता के आठों प्रकार-भेदों के अन्तर्गत आ जाते हैं। भर्तृहरि द्वारा उल्लिखित आठों मतों से इनमें अन्तर यही है कि ये चारों मत, 'मीमांसा' की तरह, वक्तव्य-विषय तथा वक्ता और श्रोता की भावना को लेकर चले हैं, जबकि भर्तृहरि द्वारा उल्लिखित मत भाषातात्विक आधार पर विश्लेषण के प्रयास हैं। उनमें वाक्य के 'आकार' की प्रधानता है, जबकि अन्तर्राष्ट्रीय विभाजन में 'आत्मा' को बांटा गया है। स्वयं भर्तृहरि भी 'आत्मा' को प्रधानता देते हैं, आकार को नहीं। किन्तु उनकी दृष्टि में आत्मा एक है। इसीलिए यह विवेच्य हो उठता है कि भर्तृहरि की 'एकवाक्यता' से इन 'भेदों' के पृथक् अस्तित्व का सामंजस्य बैठता है या नहीं? और, क्या इन्हें वाक्यों के 'चार' या 'आठ' प्रकार स्वीकार करना उचित है?

विधि, निषेध, स्तुति-निन्दा, प्रश्न आदि भेदों के विषय में भर्तृहरि का दृढ़मत यही है कि वहाँ सामान्य 'वाक्यत्व' से कुछ भी नवीनता नहीं है। जहाँ तक 'प्रतिपत्ति' का प्रश्न है, कुशल प्रतिपत्ता कहीं भी शास्त्र-विरुद्ध प्रतिपत्ति को प्राप्त नहीं होता। फिर, यह केवल युक्ति का व्यामोह ही है कि पहले हम एक 'अर्थ' कल्पित करके, बाद में उसका निषेध स्वीकार करते हैं। यही बात स्तुति-निन्दा के विषय में है। वस्तु-स्थिति और वास्तविक अर्थ का निर्णय वक्ता की मनःस्थिति पर ही आधारित करता है। ऐसे भेदों से 'वाक्य' के प्रकार में अन्तर स्वीकार करना अनुचित है (२·३२०-३२५)। यही स्थिति 'प्रश्न वाक्यों' की है। वहाँ सामान्यतः उद्देश्य-विधेयादि विभेद से रहित वाक्य एक या दो पद में ही समाप्त हो जाता है। 'क्रिया' का भी पृथक् उल्लेख बहुशः नहीं रहता। प्रत्यक्षतः क्रिया के प्रयोग से रहित 'वाक्य' को भी, भर्तृहरि अर्थैकत्व भावना से 'वाक्य' ही स्वीकार करते हैं। यही बात प्रश्न के विषय में भी है। वहाँ भी अनुक्त क्रियादि का परिगणन स्वतः ही हो जाता है। इस प्रकार इन दोनों स्थितियों में 'प्रश्न वाक्य' तथा 'सामान्य वाक्य' में अन्तर करना असम्भव हो जाता है।

वाक्यं तदपि मन्यन्ते यत्पदं चरितक्रियम् ॥ वा० २.३२७ ॥
यच्च कोऽयमिति प्रश्ने गौरश्व इति चोच्यते।
प्रश्न एव क्रिया तत्र प्रक्रान्ता दर्शनादिका ॥ वा० २.२७३ ॥

इस प्रकार के 'प्रकार-भेदों' की स्थिति केवल व्यावहारिक ही कही जा सकती है। 'अर्थैकत्व' पर आधारित 'वाक्य' की मूलवृत्ति एक ही है। अतः 'वाक्य' भी एक ही है: अभेद और अविभाग।

———

उपसंहार

अब तक पाश्चात्य और भारतीय विद्वानों ने यास्क, पाणिनि और पतंजलि की कृतियों का अध्ययन करके उन्हें महान् भाषा-विद् सिद्ध किया है। कुछ विद्वानों की सम्मति में उन भाषाविदों की खोजों का पूरा मूल्यांकन अब तक भी नहीं हो सका है। इसके अतिरिक्त ध्वनिविज्ञान की दृष्टि से भारतीय शिक्षा एवं प्रातिशाख्य ग्रन्थों का मूल्यांकन भी पर्याप्त गहराई के साथ हुआ है। ध्वनियों के इन अध्ययनों ने तथाकथित प्रागैतिहासिक भारोपीय ध्वनियों की बहुत-सी अनिर्णीत ग्रन्थियों को भी सुलझाने में सहायता की है। इस सम्बन्ध में अभी तक जो अवगाह्य क्षेत्र बचा है, वह सामवेद की **सस्वर पाठ-विधि** है। उसके अनुशीलन के बाद भारोपीय स्वरों के बहुत-से रूपों की अस्पष्टता हमारे सामने से दूर हो सकेगी। इस पर भी, पाश्चात्य एवं भारतीय अनुसन्धाताओं ने इस विषय में सराहनीय कार्य किया है। व्युत्पत्ति-शास्त्र एवं व्याकरण-शास्त्र के क्षेत्रों को तो अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी प्राचीन भारतीय चिन्तन ने प्रभावित किया है। किन्तु, पाश्चात्य और भारतीय विद्वानों का ध्यान भर्तृहरि की कृतियों की ओर अभी तक भी पूरी तरह नहीं गया है। भर्तृहरि की महाभाष्य की त्रिपदी-टीका अब तक उपेक्षित ही थी। अब वह डा० राघवन् की की देख-रेख में सम्पादित होकर प्रकाश में आने की तैयारी में है। उधर जर्मनी के डॉ० पाल थीमे के निर्देशन में यह एक अन्य अनुसन्धित्सु छात्र के अध्ययन का आधार बन रही है।

परन्तु, 'वाक्यपदीय' के भाषावैज्ञानिक मूल्यांकन पर न पाश्चात्य विद्वानों का ही ध्यान अब तक आकृष्ट हुआ है, न भारतीय विद्वानों का ही। डा० कपिलदेव द्विवेदी का **'अर्थविज्ञान और व्याकरण दर्शन'** ही इस कृति को आधार लेकर प्रकाशित हुआ एकमात्र शोध-प्रबन्ध है। दूसरा ग्रन्थ प्रकाशन की प्रतीक्षा में है — डा० राम सुरेश त्रिपाठी का। उन्होंने 'आख्यात' को लेकर 'वाक्यपदीय' के आधार पर उसका विवेचन किया है। स्पष्टतः दोनों ही प्रबन्धों का उद्देश्य शुद्ध भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन नहीं रहा है। डा० त्रिपाठी का आधार व्याकरण पर अधिक रहा है, जब कि डा० द्विवेदी ने दार्शनिक विवेचन में अधिक श्रम किया है। डा० ऐयर के प्रयास के के प्रकाशित होने के विषय में अब तक भी उत्सुकता बनी हुई है। सम्भव है उससे इस दिशा में कुछ प्रकाश पड़े। इसके अतिरिक्त कुछ लेख इस विषय में स्वतन्त्र प्रकाशित

हुए हैं। प्रस्तुत अध्ययन में केवल उन्हीं कतिपय प्रसंगों को लिया गया है, जिनका संबंध भाषा विषयक अध्ययन से है। निश्चय ही वे पहलू जिनका अधिक सम्बन्ध 'व्याकरण' से है, किन्तु जिन्हें भर्तृहरि ने भाषा-वैज्ञानिक की दृष्टि से जाँचा है, इसमें प्रासंगिक रूप में ही लिए गए हैं। उनका स्वतन्त्र अध्ययन पूरा होने के बाद ही हम भर्तृहरि के 'व्याकरण-दर्शन' को पूरी तरह समझ सकेंगे। इस प्रबन्ध में गृहीत विषय, उसके 'व्याकरण-दर्शन' को न लेकर, उसके 'भाषा-विषयक अध्ययन' से ही सम्बद्ध है। यद्यपि ऐसे अध्ययन को इतने ही शीर्षकों में सीमित कर देना उचित प्रतीत नहीं होता, परन्तु हर अध्ययन की एक सीमा माननी पड़ती है।

पूर्व-अध्यायों में विवेचित आधार पर हम भर्तृहरि के इन अध्ययनों को इतना व्यापक व सर्वांगीण पाते हैं कि उन्हें केवल किसी विशिष्ट भाषा तक सीमित नहीं किया जा सकता। अधिकांशतः वे सर्व-व्यापी प्रभावों के विश्लेषण हैं। केवल गिने-चुने स्थलों पर ही उनकी अ-सीमता में सन्देह किया जा सकता है। इसका एक-मात्र कारण यह है कि उनका अध्ययन **वाक्-विश्लेषण** भी है और भाषा के बाह्य-रूपों का विश्लेषण भी। निश्चय ही आधार संस्कृत और वैदिक भाषा का लिया गया है, किन्तु **अपभ्रंश-भाषा** या **लौकिक-भाषा** को भी उपेक्षा की दृष्टि से देखा नहीं गया। 'लौकिक-भाषा' और 'साहित्यिक-भाषा' का भाषा-तात्विक अन्तर समस्त विश्व में एक ही आधार पर स्थित होता है। 'वाक्यपदीय' इसीलिए 'जन-भाषा' के साथ-साथ जन-प्रयोगों को भी मुख्य आधार बना कर चला है। आदर्श-भाषा या साहित्यिक-भाषा के उदाहरण भी उसने लोक-प्रवृत्ति के अध्ययन की सम्पुष्टि के लिए ही दिए हैं। उनका यह कार्य आधुनिक भाषाविदों के आधुनिकतम प्रयत्नों से मेल खाता है।

इसी आधार पर वे कुछ ऐसे परिणामों पर पहुँचे हैं, जिन्हें अत्यन्त व्यापक कहा जा सकता है। उनकी अर्थ-विषयक धारणा को स्पष्ट करते हुए कहा जा चुका है कि गौण-मुख्य, वाच्य-अवाच्य आदि को वे सापेक्ष शब्द ही मानते हैं। जब कि विश्व के साहित्यालोचकों में 'शब्द-शक्तियों' के विवेचन की धारणा बल पकड़ती जा रही है, उस समय भाषाविदों के सम्मुख उपस्थित अर्थ-विषयक समस्याओं का सबसे बड़ा समाधान भर्तृहरि के इस विषय के विचारों के अध्ययन से हो सकता है। भर्तृहरि ने 'सापेक्षिक-दृष्टि' को प्रस्तुत करके, वस्तुतः भाषा-क्षेत्र की बहुत-सी उलझनों को एक साथ ही सुलझा दिया है।

उनकी इस 'सापेक्ष-दृष्टि' को विशुद्ध दार्शनिक नहीं कहा जा सकता। उनका सम्पूर्ण अध्ययन व्यावहारिक एवं वैज्ञानिक धरातल पर ही है। 'पद' और 'वाक्य' तथा 'पदार्थ और वाक्यार्थ' के सम्बन्ध में उनकी सम्पूर्ण धारणाएँ इसी युक्ति क्रम

पर आधारित हैं। उनकी यही दृष्टि 'व्याकरण' की उपयोगिता-सम्बन्धी मान्यता के सम्बन्ध में भी मूल कारण बनी है। काल, उपग्रह, लिंग, वचन, विभक्ति आदि व्याकरण के सभी विवेच्यों का वास्तविक विवेचनात्मक आधार इसी दृष्टि पर स्थित है। व्याकरण की रूढ़िवादी मान्यताओं को तोड़ने का कारण भी यही दृष्टि है। इसे हम **'सापेक्षिक उपयोगिता की दृष्टि'** भी कह सकते हैं। इसमें किसी मत को अन्तिम सत्य न मानकर उनका सापेक्षिक मूल्यांकन किया जाता है। वाक्-भाषा, शब्द-पद, शब्द-अर्थ, पद-वाक्य, पदार्थ-वाच्यार्थ, जाति-व्यक्ति, नाम-आख्यात, नाम-अव्यय, आदि का परस्पर-सम्बन्ध विवेचन केवल इसी आधार पर सही दृष्टि उत्पन्न कर सकता है। भाषा-विदों की आधुनिकतम प्रगति दो दिशाओं में हो रही है। एक दल विशुद्धयान्त्रिक अध्ययनों को प्रमुखता दे रहा है और दूसरा दल विशुद्ध दार्शनिक पक्ष पर बढ़ रहा है। भर्तृहरि यहाँ भी दोनों का सापेक्षिक महत्त्व स्वीकार करते दिखाई देते हैं। वर्णभागों और पदभागों से सम्बद्ध उनके सिद्धान्त उनके भौतिक अध्ययन की बारीकियों को स्पष्ट करते हैं, जोकि शिक्षा-ग्रन्थों और प्रातिशाख्यों की परम्परा में हैं। इसी सम्बन्ध में 'काल' सम्बन्धी विवेचन उनकी व्यावहारिक एवं दार्शनिक दृष्टि को प्रस्तुत करता है। दोनों दृष्टियों से वे एक ही परिणाम पर पहुँचे हैं : **ध्वनि-भाग** भौतिक हैं : माध्यम हैं, स्वयं एक सत्य या **वस्तु** नहीं है। विवेच्य **वस्तु** है **अभिधेय** या **शब्द-भावना**।

इस परिणाम पर पहुँचने के बाद ध्वनि-विश्लेषण केवल एक भौतिक-अध्ययन मात्र रह जाता है। कहीं किसी वर्ण की कमी होने पर भी 'अर्थ' प्रतीत हो जाता है।[1] कहीं केवल एक वर्ण के उच्चारण से ही सम्पूर्ण भावना पता चल जाती है।[2] कहीं व्यर्थ के शब्द आ जाते हैं, जो अर्थ प्रतीति में तनिक भी सहायक नहीं होते।[3] कहीं प्रतिनिधि शब्दों से भी अर्थ पता चल जाता है। परन्तु, कहीं बिना कहे भी अर्थ की प्रतीति हो जाती है।[4] भाषा अर्थ-प्रतीति का माध्यम है।[5] वह इन बाह्य-ध्वनियों पर ही आधारित नहीं है।[6] अतः उन पर आश्रित क्रम, युगपत् आदि मान्यताओं[7] एवं वर्ण, शब्द, पद, पदार्थ आदि **भागों** में की गईकल्पना[8] अनर्थक नहीं तो क्या है? 'वाक्य' की परिभाषा भी 'पदों' की दृष्टि से करना व्यर्थ ही है। एक बुद्धि का अर्थ दूसरी बुद्धि को मिल जाए बस यही है ध्येय **वाक्** और, उसकी उत्पत्ति, **भाषा** का। भर्तृहरि के ये परिणाम अत्यन्त व्यापक एवं प्रबल हैं। उन्हें युक्ति द्वारा अपास्त न करके, उनका अधिकाधिक अनुशीलन अपेक्षित है।

---

१. वा० २.२१६. २. वा० २.४०. ३. वा० २.३०५.
४. वा० २.३०२–३. ५. वा० १.१३ (अ), ६. वा० १.५६.१३१.
७. वा० २.२४. ८. वा० २.२८–३१. ९. वा० ३.३.३३.

इसी प्रसंग में भर्तृहरि की 'शब्द और अर्थ' विषयक मूल धारणा पर फिर से ध्यान खींचना आवश्यक हो जाता है। ध्वनियाँ तो निरर्थक रह ही जाती हैं; वे तो शब्दों को भी किसी निश्चित अर्थ का वाहक नहीं मानते। उनकी दृष्टि में लोक-प्रयोग ही किसी शब्द के किसी अर्थ में प्रयोग का एकमात्र कारण है।[1] आज के वैज्ञानिक शब्दकोषों के बढ़ते हुए व्याकरण-सम्मत शब्द-निर्माण के सम्मुख यह युक्ति हास्यास्पद लग सकती है। किन्तु, ऐसी वैज्ञानिक शब्दावली पिछले १५०–२०० वर्षों में ही अपने मूल-अर्थों से कितनी दूर चली गई है, इसको जानने के बाद उपरोक्त कथन की सत्यता में विश्वास द्विगुणित हो जाएगा। अतएव भर्तृहरि ने कहा कि धात्वर्थ आदि की कुछ भी व्यावहारिक उपयोगिता नहीं।[2]

इस प्रकार पूर्व पृष्ठों में उल्लिखित सत्य भर्तृहरि की दृष्टि को पाने की दिशा में प्रयासमात्र ही कहे जा सकते हैं। उस विषय में अभी अध्ययन का पर्याप्त अवकाश है। प्रस्तुत अध्ययन का उद्देश्य उसी दिशा की ओर इंगित करना मात्र है।

---

१. वा० २.२१२. २. वा० २.३३०.

परिशिष्ट

१. आधार-चतुष्टय

२. अर्थप्राप्ति के सहायक

३. Synopsis & Arguments

४. Bhartrhari : A Neglected Linguist

५. सहायक-ग्रन्थ-सूची (Bibliography)

१

आधार-चतुष्टय

किसी भी वक्तव्य के प्रयोग और उसके समझे जाने के लिये चार आधारों की उपस्थिति आवश्यक होती है। सर्वप्रथम 'प्रयोक्ता' या 'वक्ता' की उपस्थिति आवश्यक है। इसके साथ ही 'श्रोता' या 'ग्रहीता' की उपस्थिति भी आवश्यक होती है। इन दोनों के अतिरिक्त तीसरी वस्तु 'अभिधेय' या 'प्रतिपाद्य' होती है, जिसे 'वक्तव्य' अथवा 'ग्राह्य' के रूप में भी कह सकते हैं। चौथा आधार है 'ज्ञान' (शब्द-ज्ञान), जो प्रयोक्ता और ग्रहीता के लिये – उभयविध – आवश्यक होता है, और जिसके बिना न कुछ बोला जा सकता है, न समझा जा सकता है। इस प्रकार शब्द के प्रयोग और उसके ग्रहण के लिये, तथा 'सम्बन्धों' की सही प्रयुक्ति और उपपत्ति के लिए, इन चारों आधारों की ठीक-ठीक स्थिति को समझ लेना आवश्यक है। क्योंकि, इनकी स्थिति को समझे बिना हम शब्द-अर्थ-सम्बन्ध के विनिश्चिय में पूरी तरह समर्थ न हो सकेंगे। इसके साथ ही यहाँ पर स्पष्ट कर देना अत्यावश्यक है कि 'वाणी के चार-पाद' का सम्वन्ध इस 'आधार-चतुष्टय' के सीधे रूप में न कर बैठना चाहिये। उसकी व्याख्या हम यथास्थान कर चुके हैं। अर्थ-विनिश्चय के 'कारणों' को भी यहाँ अन्तर्गृहीत करना हमें अभीष्ट नहीं। भर्तृहरि के शब्दों में इन्हें इस सूत्र में कह सकते हैं :

तस्य शब्दार्थसम्बन्धरूपमेकस्य दृश्यते।
तद्दृश्यं दर्शनं द्रष्टा दर्शने च प्रयोजनम् ।। वा० ३.२.१४ ।।

१-२ व्यक्तित्व की एकता – भर्तृहरि ने भाषा की उत्पत्ति और ग्रहण की प्रक्रिया में परस्पर सम्बन्ध स्थापित करते हुए कहा है : **'यथा प्रयोक्तुः प्राग्बुद्धिः शब्देष्वव' (वा० १.५३)**। वहाँ उनका प्रयोजन यही बताना है कि भाषा की उत्पत्ति-प्रक्रिया में जो स्थिति प्रयोक्ता की होती है, उसी की पुनरावृत्ति ग्रहीता में भी 'ग्रहण' या 'उपलब्धि प्रक्रिया' में होती है। इस प्रकार ग्रहीता और प्रयोक्ता दो भिन्न-भिन्न व्यक्ति होकर भी, और दो भिन्न-भिन्न क्रियाएँ करके भी एक-समान प्रक्रिया में से गुजरते हैं। अतः जब प्रयोक्ता केवल बुद्धि द्वारा विनिश्चित अर्थ को ही शब्द का रूप देता है, तो ग्रहीता

को भी पूर्णोपलब्धि, केवल इस बुद्ध्यर्थ की उपलब्धि पर ही हो सकती है (वा० ३.३.३२-३३)। प्रयोक्ता जिस बुद्धिगत-भावना को लेकर शब्द विनिश्चय में प्रवृत्त होता है, वह उसकी अनिवार्य स्थिति है। इसी प्रकार ग्रहीता भी शब्द को सुन सकता है। वह उसका शब्दार्थ भी जान सकता है। परन्तु, जब तक वह सब कथन, एक 'संगति' के रूप में ग्रहीता के मस्तिष्क में, नहीं बैठ जाता, तब तक उसका ग्रहण या उसकी प्रतिपत्ति पूरी नहीं होती। 'मौत तो सिर पर नहीं मंडरा रही ?' — ऐसा प्रश्न करने पर ग्रहीता, शब्दों को सुन कर और उनका शब्दार्थ जान कर भी, वक्ता की पूर्णभावना को (अभिधेय को) न समझ पायेगा, यदि वह उसी मानसिक स्थिति को नहीं पा लेता। इस मानसिक स्थिति की उपलब्धि के बाद ही वह 'बुद्ध्यर्थ' से बुद्ध्यर्थ को पा सकेगा। इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि वक्ता चाहे जो भी भावना लेकर चाहे जो भी शब्द-प्रयोग कर दे, उसका अर्थ उसी रूप में ग्रहीता को ग्राह्य हो सकता है। आख़िर, शब्दों और अर्थों के पारस्परिक सम्बन्ध लोक-भावना में स्वाभाविक और प्रायोगिक रूप में निश्चित होते हैं। वक्ता प्रायः उन्हें ही, अथवा उससे सम्बद्ध अन्य भावना को ही लेकर शब्द का प्रयोग करता है। इसलिए ग्रहीता की बुद्धि आरम्भ में शब्द के जिस रूप को ग्रहण करके 'अर्थ प्रतिपत्ति' या 'उपलब्धि' के लिये अग्रसर होती है, धीरे-धीरे वह तत्सम्बद्ध अर्थों की सम्भावनाओं पर विचार करती है, और अन्ततः उस वास्तविक 'अर्थ-रूप' में स्थिर हो जाती है, जो प्रयोक्ता की प्रयोगकालीन मानसिक स्थिति के अनुकूल होता है।

इस सबमें एक बात अवधेय है — दोनों का मानसिक स्तर। दोनों के इस मानसिक-स्तर की दूरी कम करने में देश, काल, प्रतिभा, विनियोग, लोक-प्रवृत्ति, वक्तव्य वातावरण, प्रकरण आदि अनेक बातें सहायक होती हैं। इन सबसे ग्रहीता के मन की स्थिति भी वही हो जाती है, जो प्रयोक्ता के मन की होती है। वह प्रयोक्ता की स्थिति से अभिन्न स्थिति में आ जाता है। स्वभावतः ऐसे समय उसके अपने चारों ओर का वातावरण उस पर प्रभाव डालने में असमर्थ रहता है।

३. **ज्ञान** — ज्ञान और अर्थ दो भिन्न-भिन्न वस्तुएँ हैं। इस सत्य को भर्तृहरिने एक नहीं अनेक बार घोषित किया है। 'ज्ञान' हमारी मानसिक प्रतीति या उपलब्धि की व्यापक पृष्ठभूमि है, जो कि स्वतः 'अर्थ' के निश्चित और सीमित रूप (स्व-रूप) को ग्रहीता के मन में स्पष्ट करती है। 'स्वरूप' को अभिधेय, बुद्धयर्थ, परार्थ या प्रकान्तार्थ कह सकते हैं। 'ज्ञान' एक साधनात्मक-पृष्ठभूमि मात्र है, द्वार है (वा० ३.३.१-२)। इन दोनों स्थलों पर स्वयं भर्तृहरि 'अर्थ' और 'ज्ञान' को भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयोग करते हैं। प्रयोक्ता इस 'दर्शन' के बाद ही 'दृश्य' को उपस्थित करने में समर्थ होता है। वक्ता भी ग्रहीता की भाँति वहाँ 'द्रष्टा' रहता है। ग्रहीता पहले किसी बात का विस्तृत 'ज्ञान' (अनुभूतिमय) पा लेता है, तभी उसकी स्थिति-विनिश्चय (स्वरूपोप-

लब्धि) की प्रवृत्ति जगती है। प्रयोक्ता का स्थिति-विनिश्चय ही ग्रहीता के लिये भी स्थिति-विनिश्चय तभी बन सकता है, यदि प्रयोक्ता की धारणा के सामान ही धारणा ग्रहीता में भी हो। एक ने कहा, 'जंगल से पिक लाओ'। अब यदि हम 'पिक' का पक्षी होना, पक्षियों का स्वभाव, स्वरूप या अन्य सम्बद्ध बातें नहीं पता, तो हम इस वाक्य का अर्थ समझ कर भी, यही कहेंगे – 'पिक क्या ?' परन्तु यदि हमें 'पिक' का ज्ञान है, तो उसके अर्थ-विनिश्चय या अभिधेय-निर्धारण में देर न होगी।[1] यह ज्ञान ही 'निर्णय ज्ञान' की सीमा तक पहुँचता है – **'यदा च निर्णयज्ञाने निर्णयत्वेन निर्णयः।'**[2] यह ज्ञान प्रत्यक्ष भी हो सकता है, आनुमानिक भी। भर्तृहरि के शब्द में :

आविर्भूतप्रकाशानामनुपप्लुतचेतसाम्।

अतीतानागतज्ञानं प्रत्यक्षान्न विशिष्यते ॥ वा० १.३६ ॥

परन्तु यहाँ, वास्तव में, वे प्रत्यक्ष, अतीत और अनागत को एक ही अनवच्छिन्न ज्ञान-धारा का अंग मानते हैं। उनकी दृष्टि में ज्ञान पृथक्-पृथक् भेदों में बँट ही नहीं सकता। और, इस सार्वकालिक या त्रैकालिक एकता का परिचय हमें लोक-प्रवृत्तियों के अभ्यास द्वारा मिलता है। लोक-प्रवृत्ति ज्ञान को ही भर्तृहरि वास्तविक 'आगम' मानते हैं, जो कि चैतन्य या आत्म-तत्व की भाँति अखण्ड और अच्छेद्य है।

चैतन्यमिव यश्चायमविच्छेदेन वर्त्तते।

आगमस्तयुपासीनो हेतुवादैर्न बाध्यते ॥ वा० १.४१ ॥

इस प्रकार के 'आगम' का विरोध कोई युक्ति या तर्क-प्रणाली भी नहीं कर सकती। इस 'आगम' का ज्ञान 'अभ्यास' से हो जाता है और ऐसा ज्ञान किसी त्रुटि से युक्त नहीं रह सकता, **'परेषामसमाख्येयमभ्यासादेव जायते।'**[4] इस लोक-आगम के ज्ञान के लिए ऋषियों को भी उत्सुक रहना पड़ता है – **'ऋषीणामपि यज्ज्ञानं तदप्यागम-पूर्वकम्'**।[1] 'अनुमान' द्वारा इस बात का परिचय इसलिये नहीं हो सकता, क्योंकि हम देश, काल-अवस्था आदि को विचार में न लेकर ही अनुमान पर बढ़ते हैं। यदि इन का विचार भी करते चलें तो अनुमान का प्रश्न ही न उठेगा (वा० १.३२)।

इस प्रकार पृष्ठभूमि या माध्यम के रूप में 'ज्ञान' अत्यावश्यक है। क्योंकि, लोक-ज्ञान की आवश्यकता, छोटी-से-छोटी बात के लिये भी बाल और पंडित - दोनों - को समान रूप से ही रहती है।

रूपणव्यपदेशाभ्यां लौकिके वर्त्मनि स्थितौ।

ज्ञानं प्रत्यभिलाषं च सदृशौ बालपण्डितौ ॥ वा० ३.३.५५ ॥

और, इस 'ज्ञान' का कोई निश्चित रूप नहीं है। शास्त्रादि इस अमर्यादित ज्ञान को सीमितभर कर सकते हैं।[2] उसकी पूर्ण व्याख्या शास्त्रादि द्वारा असम्भव है।

---

१. वा० २.७४. २. वा० ३.३.२४. ३. वा० १.४२. ४. वा० १३.५.

सर्वार्थरूपता शुद्धि: ज्ञानस्य निरुपाश्रया ।
ततोऽप्यस्य परां शुद्धिमेके प्राहुररूपिकाम् ।। वा० ३.३.५६ ।।

इस ज्ञान की 'बाधा' या रुकावट तब आती है, जब हम शब्द के बाहरी आकारों और रूपों में भटक-कर रह जाते हैं, उसकी आत्मा की गहराई में जाने का प्रयास नहीं करते । जितना गहरे में जायेंगे, उतना ही उसकी पवित्रता (अ-कलुषता) को पाने में समर्थ होंगे : **उपप्लवो हि ज्ञानस्य बाह्याकारानुपातिता** (वा० ३.३.५७) । हम अपने ही भ्रम से इस ज्ञान को कुछ का कुछ समझ बैठते हैं और फिर कह देते हैं कि यहाँ शब्द के 'स्वरूप' और 'ज्ञान' में अन्तर है । वास्तव में यह अन्तर या उल्टापन हमारी बुद्धि का है । हम स्वयं ठीक-ठीक बात जान नहीं पाते और एक अर्थ के भाव या अभाव की बात करते रहते हैं । हमारे 'ज्ञान' की शुद्धता ही, हमें अर्थ की नित्यता एवं शुद्धता का भान करा सकती है । और, यह शुद्धता 'ज्ञान' की स्वाभाविकता में है ।

४. **ज्ञेय, अभिधेय या प्रतिपाद्य** – ज्ञान (शब्द-ज्ञान) के साधन द्वारा जिस वस्तु को पाया जाता है वही 'ज्ञेय' है । वक्ता के लिये वह 'अभिधेय' हो सकता है और ग्रहीता के लिये 'प्रतिपाद्य' : **'आत्मरूपं यथा ज्ञाने ज्ञेयरूपं च दृश्यते'** । ज्ञान के आत्मरूप की चर्चा ऊपर हो चुकी हैं। 'ज्ञेय' के विषय में यहाँ कुछ कहना है । अर्थ-भेदों की चर्चा में 'अभिधेय' और 'प्रतिपाद्य' के समानार्थक और एकरूप होने की चर्चा कर चुके हैं । ग्रहीता और वक्ता के व्यक्तित्वों के 'साधारणीकरण' या 'एकीकरण' की स्थिति में ये दोनों चीज़ें अलग-अलग नहीं रह जातीं । 'अर्थ' और 'स्वरूप' इसी के दो भेद हैं, इन्हें इससे भिन्न नहीं कहा जा सकता । अन्यथा **'स्वरूपेषूपलब्धेषु'**[१] वाली उक्ति व्यर्थ ही रह जाती । उन दोनों की खोज और अनुसन्धान आवश्यक है ।

'ज्ञेय' ज्ञान का लक्ष्य है, निर्णय है, ध्येय है । उसकी उपलब्धि में ज्ञान सहायक है । उसे 'ज्ञान' से सर्वथा भिन्न मानना असम्भव है, वह उसी का एक अविभाज्य अंश है । जिस प्रकार पथ और उद्देश्य एक-दूसरे से सम्बद्ध होते हैं, उसी प्रकार ज्ञान और ज्ञेय भी एक-दूसरे के पूरक हैं, परस्पर सम्बद्ध हैं । ज्ञान 'ग्रहण' है और ज्ञेय 'ग्राह्य' । 'ग्रहण' द्वारा 'ग्राह्य' का ही तो धारण होता है । इसे ही अर्थतत्व कहें, 'स्व-रूप' या ज्ञेय-रूप कहें : यही हमारे 'वाक्' और 'मनस्' का प्राप्य है ।

———

१. वा० १.३०. २. वा० १.१३५.
३. वा० ३.३.२. ४. वा० १.६७.

२

अर्थ विनिश्चय के आधार

ज्ञान की स्वाभाविकता और ज्ञेय का उससे नित्य साहचर्य करने के बाद, उसकी उपलब्धि के साधनों पर विचार करना व्यर्थ हो जाता है। पर, यह बात इतनी सरल है नहीं। उपलब्धि और अर्थ-विनिश्चय का प्रश्न एक दूसरे के साथ स्वभावत: अनिवार्य रूप में सम्बद्ध है। अत: उपलब्धि के साधनों को ही हम अर्थ-विनिश्चय के आधार भी कह सकते हैं। इस सम्बन्ध में हमें भर्तृहरि की निम्न उक्तियों पर ध्यान देना होगा :—

वाक्यात्प्रकरणादर्थादौचित्याद्देशकालतः।
शब्दार्थाः प्रविभज्यन्ते न रूपादेव केवलात्॥ वा० २.३१६॥
संसर्गो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता।
अर्थः प्रकरणं लिंगं, शब्दस्यान्यस्य संनिधिः॥ वा० २.३१७॥
भेदपक्षेऽपि सारूप्याद्भिन्नार्थाः प्रतिपत्तिषु।
नियताः यान्त्यभिव्यक्ति शब्दाः प्रकरणादिभिः॥ वा० २.३१८॥

इस प्रकार अर्थ-विनिश्चय अथवा प्रतिपत्ति के जितने साधन बनाये गए हैं, उन्हें हम क्रमशः – (१) वाक्य, (२) प्रकरण, (३) अर्थ, (४) औचित्य, (५) देश-काल, (६) संसर्ग, (७) वि-प्रयोग, (८) साहचर्य, (९) विरोध, (१०) लिंग, (११) अन्य-सामीप्य, (१२) सारूप्य, (१३) भेद, एवं (१४) स्वर भेद (काकु) आदि के रूप में अनेक प्रकार से कह सकते हैं। हम यहाँ इनमें से प्रत्येक पर यत्किंचित् विचार के साथ आगे बढ़ेंगे।

(१) **वाक्य** – प्रायः शब्दों को 'पद-रूप' में भी हम 'नियततादर्थ्यः' गिन बैठते हैं। किन्तु, वाक्-प्रयोग में उनकी स्थिति कई बार सर्वथा भिन्न हो जाती है। ऐसी स्थिति अनेक कारणों से होती है। (क) जब हम किसी व्यक्ति की निन्दा या स्तुति करना चाहते हैं, तब प्रायः 'नियततादर्थ्य' शब्द का प्रयोग नहीं होता, प्रत्युत विपरीत भावना वाले शब्द विपरीत-अभिधेय के प्रतिपादक हो जाते हैं।

या प्रवृत्तिनिवृत्त्यर्था स्तुतिनिन्दाप्रकल्पना।
कुशलः प्रतिपत्ता तामयथार्थां प्रतीयते॥ वा० २.३२०॥

इसी कारण 'महाराज' का अर्थ रसोइया और 'उस्ताद' का अर्थ चालाक हो जाते हैं।

'आ गये ?' का अर्थ हो जाता है – 'अब आने का क्या लाभ ?' और, 'चल दिये ?' का अर्थ हो जाता है – 'यहाँ बैठ कर ही क्या कर लिया ?' इत्यादि। यहाँ एक बात स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि अकेले वाक्य या अन्य किसी 'कारण' से ही अर्थ-विनिश्चय नहीं होता। अन्य अर्थ-प्रकरणादि भी अर्थ-विनिश्चय में अन्तर्गृहीत हो जाते हैं। (ख) सापेक्ष वाक्यांशों में भी 'अर्थ' बदलता-सा नजर आता है, या अर्थ-विस्तार हो जाता है। 'अच्छा !' – यह उत्तर-वाक्य स्वतः सापेक्ष है अतः यहाँ बढ़ा हुआ अर्थ, पूर्ण वाक्यार्थ के रूप में, लेना होगा। इसके अतिरिक्त इसमें स्वयं भी 'अच्छा' का कोई शब्दार्थ नहीं रह गया। (ग) कहीं एक पद ही वाक्य का स्थान लेता है, कहीं केवल 'क्रिया', और कहीं अन्तर्भुक्त-क्रिया वाला पद। 'कर लिया ?' 'आश्चर्यजनक !' –ये 'पद' दिखाई देकर भी 'वाक्य' हैं। इनका वाक्यवत् व्यवहार अर्थ की विस्तृति के साथ ही हो पाता है।

(२) **प्रकरण** – किसी शब्द के अर्थ अनेक हो सकते हैं, किन्तु प्रकरण ही उन्हें एक अर्थ में सीमित करने में समर्थ होता है। भोजन की चर्चा में 'भुजि' धातु खाने के अर्थ में, और कर्मफल की चर्चा में 'भोगने' या 'भुगतने' के अर्थ में प्रयोग होती है। पति-पत्नी बैठे हैं, उनकी बातचीत हो रही है। वे नहीं चाहते कि कोई और सुन पाये। पति खुले द्वार की ओर देख कर कह बैठता है – 'दरवाज़ा !' परन्तु, इसका अभिप्राय पत्नी प्रकरण को जानने के कारण तुरन्त पहचान जायेगी कि 'दरवाज़ा बन्द कर लेना चाहिए', या 'दरवाज़े पर ध्यान रखना चाहिये'। यह बात सर्वत्र लागू होती है : **'यथाप्रकरणं द्वारमित्यस्यां कर्मणः श्रुतौ'** (वा० २.३३८)।

(३) **अर्थ** – इसकी विस्तृत चर्चा पहले की जा चुकी है। 'जिस शब्द के उच्चरित होते ही उससे जो अर्थ प्रतीत होता है, उसे उसका 'अर्थ' कहा जाता है' (वा० २.३३०)। इस अर्थ की अभिव्यक्ति हम अन्य शब्दों के माध्यम से करते हैं और उन्हें पर्यायवाचक बना बैठते हैं। इस प्रकार एक ही अर्थ को वहन करने वाले – पर्यायवाची – अनेक शब्द हो जाते हैं। यही क्रम है एक शब्द के अनेकार्थक हो जाने का। परन्तु, उनका एक जगह विनिश्चय अर्थ और प्रकरण दोनों की सहस्थिति से सम्भव हो जाता है – **'अर्थप्रकरणाभ्यां तु तेषां स्वार्थो नियम्यते'** (वा० २.३३५)। ऐसा भी होता है कि यह अर्थ साध्य न बनकर, कुछ जगह, केवल साधन-मात्र रह जाता है। वहाँ इसका अपना-रूप प्रधान नहीं रहता। ऐसे साधन-रूप अर्थ की पहिचान है उसकी साकांक्षता :

> **यत्र साधनवृत्तिर्यः शब्दः सत्वनिबन्धनः।**
> **न स प्रधातभूतस्य साध्यस्यार्थस्य वाचकः॥ वा० २.३३९॥**
> **अर्थमात्रं प्रकाश्यासौ साकांक्षो विनिवर्त्तते॥ वा० २.३४०॥**

(४) **औचित्य** – औचित्य का अर्थ है हमारी प्रतिभा द्वारा अवसरोचित प्रयोग की भावना। 'सुकुमार', 'कोमल' और 'मधुर' – एक जैसी भावनाओं के प्रतिनिधि होकर भी – अलग-अलग 'भावना' को व्यक्त करने के लिए प्रयोग किये जाते हैं। यदि औचित्य की यह भावना न हो, तो प्रत्येक कवि की कृति का दूसरी भाषा में अनुवाद या वेदादि काव्यों का गद्य में रूपान्तरण हर किसी द्वारा सम्भव हो सकेगा। कवित्व केवल मात्रा-ज्ञान और लय-स्वर के संतुलन में नहीं है। अवसरानुकूल इस 'औचित्य' के प्रतिभात्मक नियन्त्रण द्वारा शब्दों का प्रयोग ही 'कवित्व' की मर्यादा है।

(५) **देश-काल** – प्रकरण के साथ ही साथ देश-काल का भी अर्थ-विनिश्चय और उपलब्धि में अत्यधिक महत्व है। 'चलना चाहिए! जरा, सूर्य को तो देख लो' – उठते-उठते ही एक भाई ने कहा। समझने वाला बाहर से लौटा और बोला – 'दिन छिपने वाला ही है। क्या कुछ देर नहीं हो गई?' परन्तु, यदि वह सूर्य को देख कर लौट आता तो उसका उत्तर होता, 'सूर्य का रंग लाल होता जा रहा है' या 'देख लिया' आदि।

गन्तव्यं दृश्यतां सूर्य इति कालस्य लक्षणे।
ज्ञायतां काल इत्येतत्सोपायमभिधीयते ॥ वा० २. ३१२ ॥

यहाँ 'सूर्य देखने' का अभिप्राय ही 'काल जानने' से था, क्योंकि कहीं जाने का काल था। यही बात देश की भी होती है। नक्शे में बने पर्वतादि भी कहलायेंगे 'पर्वत' ही, चाहे वे रेखा-चित्र-मात्र भी होते हैं। देशकालादि का महत्व लोक-प्रसिद्धि के परिज्ञान के लिए भी है:

देशकालेन्द्रियगतै र्भेदैर्यद्दृश्यतेऽन्यथा।
यथा प्रसिद्धिर्लोकस्य तथा तदवसीयते ॥ वा० २. २६८ ॥

(६) **संसर्ग : श्लेषादि** – एक शब्द में अनेक अर्थों को द्योतित कराने की शक्ति होती है। कई बार प्रयोक्ता जान बूझ कर अनेकार्थक शब्द को ऐसे प्रयोग करता है, जिससे वह अन्य अर्थों से उलझता-सा प्रतीत होता है। तब वह मुख्य (प्रयोजक) अर्थ के अतिरिक्त अन्य अर्थों का भी ज्ञान करा देता है:

संसर्गिषु यथार्थेषु शब्दो येन प्रयुज्यते।
अस्मात्प्रयोजकादन्यानपि प्रत्याययत्यसौ ॥ वा० २. ३०१ ॥

यह प्रक्रिया कई बार सहधर्मी लक्षणों के कारण भी हो जाती है।

(७) **विप्रयोग** – एक शब्द के किसी अर्थ को निश्चित करने में जो बाह्य लक्षण होते हैं, यदि उनमें से कुछ न दिखाई दें तब भी अर्थ-विनिश्चय और उपलब्धि में सहायता ही मिलती है।

(८) **साहचर्य** – कई बार शब्द का अर्थ स्वतः स्पष्ट और निश्चित नहीं हो पाता,

किन्तु उसके सहवर्ती शब्द उसके अर्थों को स्पष्ट करने में सहायता देते हैं। 'पशु' की चर्चा यज्ञ के प्रसंग में करने पर निश्चय उसका बलि-पशु से ही अर्थ लिया जायेगा, न कि किसी भी पशु से।

यथा शब्दोऽपि कस्मिंश्चित्प्रत्याय्यार्थे विवक्षिते।
अविवक्षितमप्यर्थं प्रकाशयति सन्निधेः ।। वा० २.३०३ ।।

इसी प्रकार 'चक्री' कहते ही 'कृष्ण' का भान इसीलिए होता है कि 'चक्र' कृष्ण का ही विशेष चिन्ह है।

(९) **विरोध** – नित्य-विरोध या प्रसिद्धि-विरोध की स्थिति में भी अर्थज्ञान सुगमता से हो जाता है। 'राम-रावण' कहने पर 'परशुराम' का बोध नहीं होता, दशरथपुत्र 'रामचन्द्र' का ही बोध होता है। इसी प्रकार 'आग की वर्षा' में भी 'वर्षा' शब्द, इसी कारण अपना अर्थ प्रसिद्ध अर्थ से भिन्न-रूप में प्रकट कर देगा। उदाहरणार्थ आधा पशु को ले सकते हैं : **अर्द्धं पशोरिव यथा सामर्थ्यात्तद्विकल्प्यते** (वा० ३४४) और भी स्पष्ट करते हुए कहा गया है : **विरुद्धं चाभिसम्बन्धमुदहार्यादिभिः कृतम्** (वा० २४८)।

(१०) **लिंग** – प्रायः 'लिंग' भी सन्देह-निवारण का कारण होता है। कई शब्द उभयलिंग एवं कई शब्द सर्व-लिंग भी होते हैं। उनके अर्थों की भिन्नता 'लिंग' से ही पहिचानी जाती है। लिंग 'जाति' का द्योतक माना जाता है– 'तल्लिंगं जातिसंख्ययोः'। 'गौः' शब्द पुलिंग और स्त्री लिंग में, तथा 'मित्र' शब्द पुलिंग और नपुंसक लिंग में भिन्न-भिन्न अर्थों को सूचित करने की सामर्थ्य रखते हैं। 'लिंग' है एक लक्षण। और लक्षण अर्थ के निर्देशक हुआ करते हैं।

(११) **अन्य-सन्निधि** – 'अन्य-संनिधि' तो हर शब्द के साथ और हर प्रयोग में होगी ही। पर कहीं वह अर्थ की स्पष्टता का कारण बनती है और कभी नहीं भी।

स्वार्थमात्रं प्रकाश्यासौ साकांक्षो विनिवर्त्तते।
अर्थस्तु तस्य सम्बन्धी प्रकाशयति संनिधिम् ।। वा० २.३४० ।।

परन्तु जहाँ सामान्य-अर्थ से भी बढ़कर 'पदार्थ-ज्ञान' का प्रश्न उठता है, वहाँ सदा इसी 'संनिधि' के कारण ही अर्थ-प्रतीति नहीं होती।

पारार्थ्यस्याविशिष्टत्वान्न शब्दाच्छब्दसंनिधिः।
नार्थाच्छब्दस्य सांनिध्यं न शब्दादर्थसंनिधिः ।। वा० २.३४१ ।।

'अन्य-संनिधि' का मुख्य प्रयोजन वहीं होता है, जहाँ कि सामान्य-अर्थ की उपलब्धि उच्चारण-मात्र से ही सम्भव न हो, या कुछ विरोध आ खड़ा हो।

(१२) **सारूप्य** – 'सारूप्य' का अर्थ है दीखने वाली 'रूप की समानता'। प्रायः लोक-प्रवृत्ति अपने व्यवहार की सरलता के लिए रूपगत समानता पर अधिक बल

देती है। यह अनजाने और बिना इच्छा के ही हो जाने वाली क्रिया है। स्वतन्त्र-रूप से चलते हुए शब्द भी, इसी प्रवृत्ति के अनुसार, सारूप्य ग्रहण करते जाते हैं। भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि से इस का महत्व अत्यधिक है। किन्तु भारतीय विचारकों ने इस पर अधिक बल नहीं दिया है :

आवृत्तेरनुमानं वा सारूप्यात्तत्र गम्यते ॥ वा० २.३७५ ॥

(१३) भेद – जिस प्रकार 'सारूप्य' अर्थ-निश्चिति का कारण होता है, उसी प्रकार उस की विपरीत-वृत्ति 'भेद' भी अर्थ-निर्धारण में समर्थ होती है। यह 'भेद' प्रायः प्रत्यय और प्रकृति दोनों में पाया जा सकता है। परन्तु, प्रकृतिगत भेद का प्रभाव मौलिक रूप से और प्रत्यय का भेद सम्बन्ध-तत्व की दृष्टि से प्रभाव डालने में समर्थ होता है:

भेद निर्वचने त्वस्य प्रत्येकं वा समाप्यते ॥ २.४७१॥

भेदेनावगतौ पूर्वं शब्दौ तुल्यश्रुती पुनः ।

तन्त्रेण प्रतिपत्तारः प्रयोक्त्रा प्रतिपादिताः ॥ वा० २.४७८ ॥

(१४) **स्वर और काकु** – स्वर और काकु दो भिन्न-भिन्न बातों के द्योतक हैं। 'काकु' को व्यंजना के लिए मुख्य आधार माना गया है। किन्तु इसके प्रकट होने वाले 'व्यंग्यार्थ' को भर्तृहरि 'वाच्य' से 'अ-भिन्न' ही मानते हैं। यदि वह 'वाच्य' न हो तो 'काकु-प्रयोग' ही व्यर्थ हो जाएगा। और, उसकी जगह समानार्थक दूसरा शब्द रख कर भी यदि उसी काकु-प्रयोग से उसका अर्थ व्यक्त करना चाहें, तो क्या ऐसा सम्भव होगा ?

'स्वर' अत्यन्त महत्वपूर्ण है। भाववाचक, योग्यतावाचक और ऐसे ही कितने प्रत्यय केवल स्वर विकार के द्वारा ही अपने अर्थ की अभिव्यक्ति देते हैं। यह स्वर उनके मूल-रूपों से परिवर्त्तभाव अर्थ-भेदों को भी बहुधा सरलतम रूप में स्पष्ट करता है।

संक्षेप में अर्थ-विनिश्चय के आधार ये ही हैं।

———

SYNOPSIS AND ARGUMENT

(SUMMERY OF THE THESIS)

ARGUMENT

Bhartrhari's linguistic approach to his VP is the subject of our study. And there have been quite a few, and good, reasons prompting it :—

Firstly : that there have been sporadic studies, if any, of the VP untill now. *Secondly* : that the few systematic treatments of it (one comes across in Hindi, English, and French) have looked at it from grammatical and philosophical angles only ; a linguistic approach to the subject remaining a desideratum as ever. *Thirdly* : that even traditional commentaries on the work, not to speak of necessarily vague, unhelpful, references to it in the passing here and there, are sadly misleading—missing the point completely—at many places ; although for a linguist the same contexts should have opened up new vistas, altogether, for a research. *Fourthly* (and perhaps the most pressing stimulus, to us, this) : that just a cursory reading of his Tripadi on the Mahabhasya was sufficient to convince us that the original object of the VP was 'some linguistic, not gramatical, investigations into the phenomenon of Speech'.

Only the first two kandas of the VP have been considered ufficient presently for, while the first kanda presents Bhartrhari's shesis as a proposition, in the second kanda all his investigations tnto the formal and semantic aspects of the problem are enunciated aind explained at one place. This latter kanda indeed takes up all the elements (word and meaning, 'parts of speech' and the sentence) pertaining to speech-formation, and treats of the scientific problems relating to Speech,—as an intention, as an instinct, and as an expression. Kanda III, then, takes up the grammatical and philosophical aspects of the problem concerning catagories, respeetively, of (*a*) time, number, cases, adjective (guna), flexion, gender, and compound, etc., on the one hand ; and (*b*) of the particular and general, substance, and the relation between word and meaning, etc., on the other. Bhartrhari can afford to be a grammarian without being a traditionalist withal, and a philosopher without any pretension to any new, comprehensible, techniques and terms withal. Indeed, his philosophy and grammer derive from experiences of daily life, put to a freash scientific analysis. These scientific analyses of the third kanda too, have been incorporated, wherever there was a scope for them, into the present thesis.

The essay is proceeded by a short bibliography, but this does not mean that our study or reference was confined to these works only (although we have always faught shy of quoting at length even from these). Our object has been a study of Bhartrhari by Bhartahari himself or, to put it otherwise, VP as explained by its own evidence, and not by that of the ministerpreting commentaries, and the clashing opinions, that followed it. Bhartrhari's Tripadi also has been only sparcely cited notwithstanding its value as the best supplementary authority on the subject. Consequently, here are conclusions—cleared up and reaffirmed in a new form and way, as it were, by Bhartrhari himself ; Bhartrhari too, even he, repeats his findings again and again--and repeats them even, in kanda III which, as a topic falls outside the scope of his own proposition and field (see kanda I).

The book is divided into 14 chapters followed by 5 appendices. Inset between the two are 'Concluding remarks', a sort of 14 (A). The subject in our treatment is looked upon as composed of 7 organic steps or parts, namly : Speech, sentence, word, 'parts of speech', the problems of meaning, sabda-sakti, and intention (meaning of sentence). Of these, the subject of Speech itself has been divided into three opening chapters to do justice—to its nature, to the mechanism of its production and reception, and to its 'limiting minimum' (unit). Sentence having thus been seen as the unit of all expression, next two chapters take up the two questions relating to the nature and meaning thereof. This is, then, followed by two more chapters devoted to the importance and nature of Word (before it becomes a 'part of speech' in a sentence) : which, now, prepares the field for taking up a discussion of 'parts of speech' as the constructive elements (with their varieties and catagories) of all statements (in 2 chapters). Lastly, having cleared thus much ground, the problem of 'meaning' is then taken up in four stages (*i.e.* in 4 chapters) of its nature, kinds, its relationship with word, and sabda-saktis. For human habit it is, without an understanding of its true nature, to look for, and fall a victim to, the many possible meanings of a statement although, the basic relationship between a sentence and its meaning once grasped, 'sabda-sakti' remains a problem no more. The chapter on the meaning of sentence has been placed at the end of this study. That makes up 13 chapters—beginning with discussion of *Vak*, and closing with enother on Vakyartha ; thas all that is comprised between "Vagarthau", being the linguist's field. This is preceded by a brief introduction, as chapter I, on the importance and background of VP. The five appendices (parisistas), on the other end, refer to the two chapters (X and XII) on Meaning and 'the relation it has to the word meaning it.

SYNOPSIS

Chapter-I : **Study of the VP**—It presents Bhartrhari in the stream of Indian tradition, and his VP in a kanda-wise analysis of

the subject master *as* forming the thesis of our present study. Introducing towards end, Bhartrhari's *Tripadi*-Commentary on the Mahabhasya—for the first time, noting especially its similiarities and differences of theme and presentation with the VP.

Chapter II : **Grammar and the Phenomenon of Speech**—It is Speech that unites, while speeches (or Bhasas) divide. An initial clarification of the confusion that exists owing to the many uses of the words—Vak and Sabda, to wit, though Bhartrhari takes care to use them generally in the technical sense of Speech and speeches (the one 'impression' and its many possible 'expressions'), respectively. Now we can take up the study of the nature of all speeches, importance of the folk idiom, the problem of 'correct' and 'incorrect' words, a language and traditional background, 'local touch' alias self-expression ; and try to aim at a satisfactory definition of language itself, which is, 'a means of communication between two souls.' Just that. And, as such, Apabhramsa or folk-slangs in no way have a lesser importance than the so-called civilised languages. Here, though grammers are taken as tools, usually, for regulating speeches, their original aim too, according to Bhartrhari, perhaps was just the same—namely, to get at the meaning intended by the speaker : which provides Bhartrhari with an occassion to touch upon only the last three steps of Speech, which an idea must pass through for expressing itself.

Chapter III : **The Mechanism of Production and Reception of Speech**—Production and reception of Speech in fact relates to to the two aspects of one and the same thing—expression—with the speaker and the listener at either end. And this mechanism, in both, has four steps to pass through, for becoming effective, though in reverse order. The speaker's *iccha*, *sabda-bhavana*, *prayatna*, and *uccarana* must start the whole story over again the other way round, for the listener—with *sruti* and going a along with *sphot* and *vyakti-vistara*, and arriving at the intended meaning or *svarupa* (or the idea itself). When at one place Bhartrhari seems to hold to only three steps as in the production of utterance, obviously he is equating 'vakturiccha' with 'para'—the fourth step—as something out of bounds for the grammar, whose field and scope is, consequently, confined to vak's three *caranas* only.

Anyway, the spoken word by itself is far-for removed from its origins or intentions in a mind.

Chapter IV : **The Unitary Minimum of Speech**—After recounting different schools on the question, Bhartrhari gives thereon his own view—which regards sentence as one, indivisible, unit of all Speech. Word (sabda) is not 'part of Speech' (or pada). It is something not limited by the delimiting vagaries of a sentence. As such, if sabda be the semantic unit of the speech (*i.e.* bhasa), vakya alone would be the expressive unit (for that meaning intended). Parts depend on a 'whole' for existence, but that whole does

not derive its sustenance from those parts ; even so padas can be regarded as parts of vakya, for our convenience, though in reality they have no independent existence of their own. Thus Bhartrhari goes on to scientifically demonstrate the constituent elements, on further analysis, of even a *dhvani* and a *varna*—the vibrations and disturbances that make for the sounds ultimately.

Chapter V : **The Nature of a Sentence**—Giving eight current theories explaining the nature of a sentence, Bhartrhari regards it as something one and indivisible in expression as well as impression (*i-e.*, even as an unuttered idea in the speaker's mind) ; even so, in reception too, at the listener's end,—as being re-united from the scattered sound-events.

Chapter VI : **The Importance of Sabda**—Sabda is word, but not a word-form or part of Speech. It is independent, self-contained, whole and, as such, has quite a few attributes in our tradition (describing it)—like *brahmatva* and *nityatva*—of its own, which must be apprehanded first for an understanding of its implications in philosophy. Bhartrhari attempts a new, scientific, analysis of the whole phenomenon as well as of the terms like *vyapti*, *sarva-bijatva*, and *vivartta*, generally used to explain the nature of sabda.

Chapter VII : **The Nature of Sabda**—It is the thing that counts, not its outer form : it is the inner meaning or intent that counts, not the outward (imperfect) expression of it. But as the word is used for—on idea in the mind and its utterance from the lips, Bhartrhari takes pains to make clear that the utterence is not the thing—meaning is the thing ; and, so, *sabda* and *artha*, standing for the same reality, became synonyms—may be a sabda differing from each other, but only relatively.

Chapter VIII ; **Sabda and Pada**—A semantic unit though, sabda is not recognised as a unit of expression all the same : for, in its own, it is speech, and not merely a 'part of speech'. But when suffixes of inflexion take away its independency a bit, rendering it to the status of an *anga* (or lame part of speech), it becomes *pada*, technically, and gropes for something else to support it : as a pada, then, it becomes a part of expression. All padas were sabdas previously as pratipadikas or roots ; but then, though full of meaning, a sabda cannot be used in its rudiments (of a dhatu or a pratipadika)—as a sentence-formative.

Chapter IX : **Parts of Speech**—Not accepting the current and traditional divisions of sentence into its four parts of speech, Bhartrhari, yet, re-analyses them to add *karma-pravaceniya* as a *fifth*—as something different from—nipatas and upasargas. Bhartrhari's own view regarding the whole matter takes after Audumbayana's, which can be summed up as follows : "All expression has its rise *in a mind* and, by nature, must have its ultimate fall too *in a mind*. The idea comes up as a sentence, which, for expression

the subject master *as* forming the thesis of our present study. Introducing towards end, Bhartrhari's *Tripadi*-Commentary on the Mahabhasya—for the first time, noting especially its similiarities and differences of theme and presentation with the VP.

Chapter II : **Grammar and the Phenomenon of Speech**—It is Speech that unites, while speeches (or Bhasas) divide. An initial clarification of the confusion that exists owing to the many uses of the words—Vak and Sabda, to wit, though Bhartrhari takes care to use them generally in the technical sense of Speech and speeches (the one 'impression' and its many possible 'expressions'), respectively. Now we can take up the study of the nature of all speeches, importance of the folk idiom, the problem of 'correct' and 'incorrect' words, a language and traditional background, 'local touch' alias self-expression ; and try to aim at a satisfactory definition of language itself, which is, 'a means of communication between two souls.' Just that. And, as such, Apabhramsa or folk-slangs in no way have a lesser importance than the so-called civilised languages. Here, though grammers are taken as tools, usually, for regulating speeches, their original aim too, according to Bhartrhari, perhaps was just the same—namely, to get at the meaning intended by the speaker : which provides Bhartrhari with an occassion to touch upon only the last three steps of Speech, which an idea must pass through for expressing itself.

Chapter III : **The Mechanism of Production and Reception of Speech**—Production and reception of Speech in fact relates to to the two aspects of one and the same thing—expression—with the speaker and the listener at either end. And this mechanism, in both, has four steps to pass through, for becoming effective, though in reverse order. The speaker's *iccha*, *sabda-bhavana*, *prayatna*, and *uccarana* must start the whole story over again the other way round, for the listener—with *sruti* and going a along with *sphot* and *vyakti-vistara*, and arriving at the intended meaning or *svarupa* (or the idea itself). When at one place Bhartrhari seems to hold to only three steps as in the production of utterance, obviously he is equating 'vakturiccha' with 'para'—the fourth step—as something out of bounds for the grammar, whose field and scope is, consequently, confined to vak's three *caranas* only.

Anyway, the spoken word by itself is far-for removed from its origins or intentions in a mind.

Chapter IV : **The Unitary Minimum of Speech**—After recounting different schools on the question, Bhartrhari gives thereon his own view—which regards sentence as one, indivisible, unit of all Speech. Word (sabda) is not 'part of Speech' (or pada). It is something not limited by the delimiting vagaries of a sentence. As such, if sabda be the semantic unit of the speech (*i.e.* bhasa), vakya alone would be the expressive unit (for that meaning intended). Parts depend on a 'whole' for existence, but that whole does

not derive its sustenance from those parts ; even so padas can be regarded as parts of vakya, for our convenience, though in reality they have no independent existence of their own. Thus Bhartrhari goes on to scientifically demonstrate the constituent elements, on further analysis, of even a *dhvani* and a *varna*—the vibrations and disturbances that make for the sounds ultimately.

Chapter V : **The Nature of a Sentence**—Giving eight current theories explaining the nature of a sentence, Bhartrhari regards it as something one and indivisible in expression as well as impression (*i-e.*, even as an unuttered idea in the speaker's mind) ; even so, in reception too, at the listener's end,—as being re-united from the scattered sound-events.

Chapter VI : **The Importance of Sabda**—Sabda is word, but not a word-form or part of Speech. It is independent, self-contained, whole and, as such, has quite a few attributes in our tradition (describing it)—like *brahmatva* and *nityatva*—of its own, which must be apprehanded first for an understanding of its implications in philosophy. Bhartrhari attempts a new, scientific, analysis of the whole phenomenon as well as of the terms like *vyapti*, *sarva-bijatva*, and *vivartta*, generally used to explain the nature of sabda.

Chapter VII : **The Nature of Sabda**—It is the thing that counts, not its outer form : it is the inner meaning or intent that counts, not the outward (imperfect) expression of it. But as the word is used for—on idea in the mind and its utterance from the lips, Bhartrhari takes pains to make clear that the utterence is not the thing—meaning is the thing ; and, so, *sabda* and *artha*, standing for the same reality, became synonyms—may be a sabda differing from each other, but only relatively.

Chapter VIII ; **Sabda and Pada**—A semantic unit though, sabda is not recognised as a unit of expression all the same : for, in its own, it is speech, and not merely a 'part of speech'. But when suffixes of inflexion take away its independency a bit, rendering it to the status of an *anga* (or lame part of speech), it becomes *pada*, technically, and gropes for something else to support it : as a pada, then, it becomes a part of expression. All padas were sabdas previously as pratipadikas or roots ; but then, though full of meaning, a sabda cannot be used in its rudiments (of a dhatu or a pratipadika)—as a sentence-formative.

Chapter IX : **Parts of Speech**—Not accepting the current and traditional divisions of sentence into its four parts of speech, Bhartrhari, yet, re-analyses them to add *karma-pravaceniya* as a *fifth*—as something different from—nipatas and upasargas. Bhartrhari's own view regarding the whole matter takes after Audumbayana's, which can be summed up as follows : "All expression has its rise *in a mind* and, by nature, must have its ultimate fall too *in a mind*. The idea comes up as a sentence, which, for expression

and reception's convenience, is then divided into its componants or parts or padas. But, these padas or parts have no real existence of their own. Reality, or the intended meaning, alone is the thing ; not so the parts named noun or verb for the convenionce of an analysis to explain the process of establishing an understanding between two parties.

Chapter X : **The Reality of Meaning**—Speech is a medium of communication between two parties. What counts is the meaning wished to be conveyed by the speaker. *Sphota* is the means (in the hands of the listner) for getting at it, it is not the meaning itself. It illuminates the whole field of understanding in a flash, in an instant, as it were. What the listner *gets* in that instant is the *artha* of it. This artha brings before his mind the first vague, 'general', partless idea of the thing, 'jnana' being the next step which elucidates it further as a 'particular'. But the 'realiiy' is neither that general nor this particular, being something both and neither. It is a higher entity by nature, and, so, contains within itself both these views of itself—but the thing is something more as well and, as much, remains still elusive. Both *artha* and *jnana* may be partly illusiory, but at the appearance of *svarupa* or thing in itself all these illusions vanish. Thus, even artha, being a means, cannot be equated with *svarupa* or 'the end of the artha's searchings'. This artha is related to the expressed form of sabda to an extent only, as defined by its sentence, context, speaker, usage and other factors. The very first instantaneous sensing of 'something' is its whole definition. Bhartrhari's *artha* seems to be just another term for Patanjali's *sabda*. Following Panini he indicates that *meaning* is nothing but a 'demand' or 'enquiry' from both sides.

Chapter XI : **Meanings**—Meanings differ and there are different names for these differences. But, here we are concerned with a discussion of primary and secondary, and part and whole meanings only. Do parts of Speech have meaning of their own and do that, if any, countribute in any way to the meaning of the sentence, of which they are a part ?

Chapter XII : **The Relation between Sabda and Artha**—The relation between sabda and artha is that of a 'vacaka and vacya', respectively : there is a word 'spoken' and there is a thing 'spoken about'. If for artha we substitute the word 'pratyayya' (or the inner content of the thing), then our word for 'sabda', naturally, would be 'pratyayaka' (or the means, unfolding to the listner an inner view of it all, as it were). Anyway, this relationship between the two is natural—established on the basis of *pratibha*, or *lokaprasidhi*, or *viniyoga-prayoga*, or *abhyasa* : of which four 'prayoga' or usage alone remains the most important, perhaps the one deciding foctor, in the end. Thus this is usage which determines the meaning of any word. The intention of the speaker, and not any imaginary sabda-sakti, always brings out the one and withholds the

other meaning of word or side of the reality, as demanded by its context, etc.

Bhartrhari comes to these conclusions with the common-sense approach to the whole problem afresh, though he takes up the philosophical traditions of samavaya and samyoga, samakara and anvaya-vyatireka, too, only to reject them all the very next moment, no sooner their inadequacy in explaining the nature of relationship in question is exposed. This relationship, like an entity, remains elusive as ever—something beyond all catagorisation, beyond all words and definitions.

Chapter XIII : **The Problem of Sabda-Saktis**—'Meaning' is there, in the word, always imbedded, as the thing waiting to be expressed ; and 'word' is there—cherishing anxiously—only to express it. Maybe the listner takes his own time to get at the meaning of it from what he has heard ; but, that surely shows his inability rather than any mysterious 'sakti', inherent in the word coming out by and by for stimulating a corresponding sense in a dull brain. Any means—for that is the best name one could give to these sabda-saktis—he adopts for the purpose, must ultimately be thrown away the moment they had served their function. The determinants of sense—even in the case of abhidha no less, than of laksana and vyanjana—are always outside of the socalled word-meaning : in the context, tone, etc., of the whole.

No theory like the one of sabda-saktis is ralevent here, if for turning a word into a metaphor or satire was its raison d'etre. And still there are scholars who stress that Bhartrhari subscribes to this school.

Here too Bhartrhari would turn to folks for a test and an answer: How does the illitrate, uncorrupted, wit of our friend the villager take and use metaphore ? Both these activities come to him with the same facility as in his dealing with hackneyed, conventionanlised, words or idioms in his daily intercourse. He has never thought about the problem—in fact he has never realised that there was any problem as such—in terms of 'saktis' or 'asaktis' helping or hindering his understanding from day to day, from moment to moment. His native sense has never strained itself for it. Then, again, to accept 'laksana' as 'rudha', and 'vyanjan' as 'abhidha-mula', would be sufficient to show the hollowness of the hypothetical conception of sabda-saktis. Bhartrhari, on the other hand, derives all idiom—all meaning—from usage. And hence to divide it, as an entity, into three or more offshoots, though one at a time, according to him, would be not only undesirable, but futile also. It is the will of the user that withholds what it means to withhold and lets go what it means to let go of the Reality. Yet, if there results a confusion and not a clarity inlistener's mind, it is due to the listener's own confusion or 'asakti.'

Chapter XIV : **Meaning, divisions, and kinds of a Santence**— Sentence is the expressive unit of all Speech (word), even so sentence-sense is the expressive unit of all meaning. And, again, just as parts of Speech do not go to make up a sentence--for they have no power of their own to do so—even so 'part-meanings' of these word-forms taken together cannot make for the meaning of the whole or the sentence-meaning. Parts make no sense when taken apart from their context—apart from the whole, they are parts of. The sense of it all exudes from the speaker's intention, and never from the words falling out in a sentence. Parallel to the 'sabda-sphota' there is a 'vakya-sphota' astate of mind that gets the whole thing in a flash. This is because of pratibha. This pratibha is indivisible and one ; so must be its activity and achievement : neither Meaning nor Sentence could be parted into clauses, or compounds as seperate semantic units.

Mimansa of old, and the international grammatical conceptions of today, divide a sentence into 8 or 4 types. respectively, nevertheless : a senseless indulgence all according to Bhartrhari—for what was originally an undivided Thing before falling from the speaker's lips--and remains undivided likewise after the listner has got it—cannot by any stretch of imagination be regarded as having lost its inherent unity in the passing, and for that while brief only.

Concluding remarks : Thus it is compelling enough for re-examining the whole problem from a clean slate, if not inspiring for roving along untrakked paths.

———

BHARTHARI : A NEGLECTED LINGUIST[1]

(CONCLUDING REMARKS)

The position of honour that Indian Linguistics occupies in the world of scholarship today is mainly due to three master minds of the pre-Christian era—Yaska, Panini and Patanjali. They represent three stages in the development of a science (universally), as much as in the growth of a dialect (locally). Yet, as such, it would be too much for anybody to claim that our re-studies of them to date, in East or in West, have exhausted all that was there to be exhausted in their works.

Even then, there are the still earlier observations of our Siksas and Pratisakhyas whose soundness of approach is getting more, evermore, confirmation daily, in this age of science, by their being able to solve many a moot point of pre-historic, Indo-European, phonetics ; although, here again, an understanding (one would wish) of the native traditions of musical recitation of the Vedic Samans, naturally, could have provided a yet more useful tool for the philologist.

At the other end comes the perfected, radical, analytics of Indian Grammar and Etymology which has urged, and influenced profoundly, all scientific thinking on the subject, anywhere in the world, for about three centuries in continuation, these last.

2. Bhartrhari, coming at the end of a long line (7th century A.D.) alone was fated to suffer from neglect, it would seem, and from a univarsal neglect. His *Tri-padi* on the Mahabhasya has not seen the linght of the scholar's day so far ; only recently two curious students—one in Germany under Dr. Paul Thieme, and another under Dr. V. Raghavan in India—having taken it up for two comparative editions.

But the fact that not one scholar should anywhere have been attracted to his *Vakyapadiya* for a linguistic research, in India or abroad, looks surprising, unbelievable. Dr. Dvivedi's 'Science of Meaning and the Philosophy of Grammar' (in Hindi), to our knowledge, has been the only thesis, with a subject based on it, published so far ; another, Dr. Tripathi's 'An Inquiry into the Nature of Akhyata, as expounded in the VP' (in Hindi) is reported to the press. But the fields of the two can hardly be said to linguistic in the real sense ; for, whereas Tripathi's has been a grammarin's approach on one topic, the former's has had a philosophical bias on another, from the same source (VP).

1. In these lines 'VP' stood for 'Vakyapadiya' and 'Bh.' for 'Bhartrihari'.

The nature of yet a third work deriving from Bhartrhari's VP, Dr. Iyer's, is not yet known.

Our essay takes into account all that has gone before it—these two, along with the sundry articles published from time to time in research journals (on Bh. and his VP)—but eclectically, with a linguistic bias. In the VP itself there are grammatical themes which Bh. has taken up only as a linguist ; these one could ill afford to pass by even for an evaluation of Bh.'s 'philosophy of grammer. Linguistics, accordingly, sets the limits to the present study of VP, as its contents will show.

3. The first thing that will strike even to a lay student of Bh. is that his conclusions, as come to in VP, are universal in basis as well as in application and, as such, cannot be said to be limited in scope to the study of one particular language (say, Sanskrit). The reason for this being that the Vakyapadiya, by even connotation, means an enquiry into the phenomenon of '*inner* speech, and its *outward* expressions'. Bhartrhari's own medium is Sanskrit (or somewhere Vedic), but that in no way urges him to preclude or eschew Apabhramsa or the folk idiom. The different between the two—the literary and the folk idioms, at either end, anywhere in the world—is a universal fact, and even so, Bh. supports his observations, regarding even the literary speech of his day, by instances mostly from his current dialect and their usages. This fact, alone is enough to class him 'in line' with the latest in linguistics as a science.

Here, just one illustration should do to establish that VP is concerned with observing only 'the universals in our daily intercourse'. In the chapter on Meaning, as we have seen, for him the problem of 'Primary/Secondary' or 'Explicit-Implicit' (meanings of a word) does not exist. "All stems from intention, from what is there in the mind of the speaker, and even should a listener be able to grasp it" : that in one sentence sums up all that the VP spread over three tough kandas propounds to say. Naturally, this marks a departure, rather a deviation, from the modern (universal) trend in Criticism, which is clearly shifting in favour of the old Indian doctrine of Sabda-Saktis (which Bh. refuted with such ease). VP's theory of 'relative to what the speaker had intended' takes into acccount a much vaster background (as a set-off to the whole, to all expression) and, so, explains without effort, as it were, on otherwise insoluble problem relating to the phenomenon or event of Speech.

4. But, even this 'relativity-outlook' of Bh.'s cannot be regarded as philosophic, in sooth. It is scientific in that it has grown from observation, 'from our day to day experience', and, so, could even more aptly be termed 'the commonsense view of it'. On this are founded Bh.'s distinctions, say, between word and sentence (and between the meanings of these two) ; and his views—regarding the 'scope of Grammar' ; his analyses of the gramma-

tical catagories like tense, flexion, gender, number, paradigm ; and his departure, indeed, from all 'theorisation' in the field of thought and language. Call it a 'theory of relative utilities', if you will : in the light of which, no view of a Thing should be *accepted* as an absolute something but (should be) *regarded* as just one relative phase of it and, even from that angle, should always remain open to reevaluatuion, in the context of its whole, a fresh. This is what 'relates, withal distinguishes, together'—impression and expression, the stem and its derivations, the word and its meanings, 'parts of speech' and the sentence, word-meaning and 'the meaning intended', particular and general, noun and verb, 'the formed' (nouns) and 'the unformed (indeclinable : avyaya)', etc. etc.

The progress of Modern Linguistics can be viewed along two lines, chiefly : one, the line of physical (instrumental) observations; the other, that of philosophical speculations. Here, too, Bh. would appear to be adopting a 'mean stand' relative to both : for, while his theory of 'transition sounds' (and 'transition' words, sentences) shows in him the existence of a physical acumen of the rarest kind, his remarks on the 'time lag' in all speech—now analysed as *innumerable* 'quanta' and now viewed synthetically as *one* 'wave'—come from a philosopher's prime concern with depths. Whichever way you take to, to begin with, you come to the same conclusion, rounding, at the end : that these sound particles are so many (re-presenting). The reality—the thing, the fact (a linguist, *i.e.* a listener, should be concerned with)—is the sentence or the 'I mea : to say' in the speaker's mind.

And that being so, *i.e.* sentence or the speaker's intention being the truth about all speech, its analysis into phonemes and words, consequently, is betrayed as just a theoretical play or indulgence devoid of any sense or meaning, futile. For the meaning of it, the meaning intended, we can get even from a work lacking in some sounds (and none the worse for that) ; one syllable, the very first at times, conveying all that was there to be conveyed (in the troubled mind there) ; more than one word, how often, wasting itself, without aiding significant ; one representative word successfully, and better, presenting the original idea ; even the silence on occassions, proving more vocal than all Speech. Utterance (Language or Speech), by nature, is a medium, a vent, for conveying something. Phonetic sounds are not the elements constituting it. Equally baseless is the grammarian's traditional approach to a sentence through its divisions—into phonemes and syllables, roots and word-forms—into 'parts of speech'. Even to think an utterance (Vakya) was as if a continuum of sequence or coevals (Padas) would be to kill the joy of listening to a thing of beauty. When two minds or senses meet—*i.e.* when the meaning in the one is conveyed to the other 'as it is'—there the aim of all speech (and its variations, all its mentions, in expression) ends.

The nature of yet a third work deriving from Bhartrhari's VP, ver's, is not yet known.

Our essay takes into account all that has gone before it— two, along with the sundry articles published from time to in research journals (on Bh. and his VP)—but eclectically, a linguistic bias. In the VP itself there are grammatical s which Bh. has taken up only as a linguist ; these one could ord to pass by even for an evaluation of Bh.'s 'philosophy of ner. Linguistics, accordingly, sets the limits to the present of VP, as its contents will show.

3. The first thing that will strike even to a lay student of Bh. at his conclusions, as come to in VP. are universal in basis ll as in application and, as such, cannot be said to be limited ope to the study of one particular language (say, Sanskrit). eason for this being that the Vakyapadiya, by even connota- means an enquiry into the phenomenon of '*inner* speech, and its *rd* expressions'. Bhartrhari's own medium is Sanskrit (or some- e Vedic), but that in no way urges him to preclude or eschew hramsa or the folk idiom. The different between the two— terary and the folk idioms, at either end, anywhere in the l—is a universal fact, and even so, Bh. supports his observa- , regarding even the literary speech of his day, by instances ly from his current dialect and their usages. This fact, alone nough to class him 'in line' with the latest in linguistics as a ice.

Here, just one illustration should do to establish that VP is erned with observing only 'the universals in our daily inter- se'. In the chapter on Meaning, as we have seen, for him the blem of 'Primary/Secondary' or 'Explicit-Implicit' (meanings word) does not exist. "All stems from intention, from what here in the mind of the speaker, and even should a listener able to grasp it" : that in one sentence sums up all that the spread over three tough kandas propounds to say. Natural- this marks a departure, rather a deviation, from the modern iversal) trend in Criticism, which is clearly shifting in favour of e old Indian doctrine of Sabda-Saktis (which Bh. refuted with h ease). VP's theory of 'relative to what the speaker had inten- d' takes into acccount a much vaster background (as a set-off to e whole, to all expression) and, so, explains without effort, as it re, on otherwise insoluble problem relating to the phenomenon event of Speech.

4. But, even this 'relativity-outlook' of Bh.'s cannot be garded as philosophic, in sooth. It is scientific in that it has own from observation, 'from our day to day experience', and, so, uld even more aptly be termed 'the commonsense view of it'. this are founded Bh.'s distinctions, say, between word and ntence (and between the meanings of these two) ; and his views regarding the 'scope of Grammar' ; his analyses of the gramma-

tical catagories like tense, flexion, gender, number, paradigm ; and his departure, indeed, from all 'theorisation' in the field of thought and language. Call it a 'theory of relative utilities', if you will : in the light of which, no view of a Thing should be *accepted* as an absolute something but (should be) *regarded* as just one relative phase of it and, even from that angle, should always remain open to reevaluatuion, in the context of its whole, a fresh. This is what 'relates, withal distinguishes, together'—impression and expression, the stem and its derivations, the word and its meanings, 'parts of speech' and the sentence, word-meaning and 'the meaning intended', particular and general, noun and verb, 'the formed' (nouns) and 'the unformed (indeclinable : avyaya)', etc. etc.

The progress of Modern Linguistics can be viewed along two lines, chiefly : one, the line of physical (instrumental) observations; the other, that of philosophical speculations. Here, too, Bh. would appear to be adopting a 'mean stand' relative to both : for, while his theory of 'transition sounds' (and 'transition' words, sentences) shows in him the existence of a physical acumen of the rarest kind, his remarks on the 'time lag' in all speech—now analysed as *innumerable* 'quanta' and now viewed synthetically as *one* 'wave'—come from a philosopher's prime concern with depths. Whichever way you take to, to begin with, you come to the same conclusion, rounding, at the end : that these sound particles are so many (re-presenting). The reality—the thing, the fact (a linguist, *i.e.* a listener, should be concerned with)—is the sentence or the 'I mea : to say' in the speaker's mind.

And that being so, *i.e.* sentence or the speaker's intention being the truth about all speech, its analysis into phonemes and words, consequently, is betrayed as just a theoretical play or indulgence devoid of any sense or meaning, futile. For the meaning of it, the meaning intended, we can get even from a work lacking in some sounds (and none the worse for that) ; one syllable, the very first at times, conveying all that was there to be conveyed (in the troubled mind there) ; more than one word, how often, wasting itself, without aiding significant ; one representative word successfully, and better, presenting the original idea ; even the silence on occassions, proving more vocal than all Speech. Utterance (Language or Speech), by nature, is a medium, a vent, for conveying something. Phonetic sounds are not the elements constituting it. Equally baseless is the grammarian's traditional approach to a sentence through its divisions—into phonemes and syllables, roots and word-forms—into 'parts of speech'. Even to think an utterance (Vakya) was as if a continuum of sequence or coevals (Padas) would be to kill the joy of listening to a thing of beauty. When two minds or senses meet—*i.e.* when the meaning in the one is conveyed to the other 'as it is'—there the aim of all speech (and its variations, all its mentions, in expression) ends.

Bhartrhari's conclusions are not for a theoratical acceptance or rejection of them, they are presented here as a stimulus for still deeper investigations and experience, furthur, individually.

5. What was (his) 'intention' ? What was (his) 'meaning' ? All sound, originally, must needs be a fury (somewhere) signifying nothing ; naturally, cannot convey the meaning (emotion ?) words so pregnant with meaning (s) : it is the usage does it, says Bhartrhari, it is the people.

The answer may sound startling, even shocking (and ridiculous) to an age whose one proud achievement is said to be the facility with which it can manufacture, from day, to day technical terms with the serving hand of un-falling grammatical rules. But just a look at this growing vocubulary, over the last two hundred years or so, will suffice to reveal how Dalton's *a-tom* has strayed, and how far, just one example to wit, from its original label and content—and by its own unseen intentions as it were !

To Bhartrhari even the taken-for-granted, traditional, meanings of roots,all roots—that universal mother-composite of all words, of all speech—are just assignments or assumptions, at best, for a convenience, *i.e.*, without any inhering truth.

These he clues, enough, for carrying on from where Bhartrhari passing left. And to indicate this, even, was the present study, primarily, undertaken.

———

सहायक ग्रन्थ-सूची

१. ऋग्वेद	आर्य साहित्य मण्डल, अजमेर
२. अथर्ववेद	आर्य साहित्य मण्डल, अजमेर
३. निरुक्त (दुर्गवृत्ति)	बम्बई, १९२५ ई०
४. ऋग्वेद प्रातिशाख्य	इलाहाबाद, १९३१ ई०
५. वाजसनेयी प्रातिशाख्य	मद्रास, १९३४ ई०
६. तैत्तिरीय प्रातिशाख्य	मद्रास, १९३० ई०
७. भगवद्गीता	गोरखपुर
८. मीमांसादर्शन	सतारा, १९४८ ई०
९. न्याय दर्शन	दिल्ली, १९५५ ई०
१०. सांख्य दर्शन	दिल्ली, १९५५ ई०
११. शब्द शक्ति प्रकाशिका	जगदीश भट्ट, बनारस
१२. अपोह सिद्धि	रत्नकीर्त्ति, बनारस
१३. वृत्तिकार ग्रन्थ	— —
१४. नाट्यशास्त्र	भरतमुनि, निर्णयसागर, द्वितीय सं०
१५. काव्यालंकार	भामह, चौखम्बा, १९२८ ई०
१६. ध्वन्यालोक	आनन्दवर्धन, चौ० १९३६ ई०
१७. काव्यादर्श	दण्डी, वाराणसी, १९५८ ई०
१८. ध्वन्यालोक-लोचन	अभिनवगुप्त, चौखम्बा, १९३६ ई०
१९. व्यक्ति विवेक	महिम भट्ट, चौखम्बा, १९३६ ई०
२०. काव्य प्रकाश	मम्मट, बनारस
२१. साहित्य दर्पण	विश्वनाथ, मोतीलाल बनारसीदास, द्वि०सं०
२२. रस गंगाधर	वाराणसी, १९५८ ई०
२३. पाणिनीय अष्टाध्यायी	वृन्दावन, १९३९ ई०
२४. काशिका	चौखम्बा, २९५२ ई०
२५. सिद्धान्त कौमुदी	चौखम्बा, १९५५ ई०
२६. पाणिनीय शिक्षा	कलकत्ता, १९३८ ई०

२७. उणादिसूत्र — मद्रास, १९३३ ई० से ३९ ई० तक विविध वृत्तियाँ

२८. वेदांग प्रकाश (सभी भाग) — स्वामी दयानन्द, अजमेर

२९. शिक्षा-संग्रह — याज्ञवल्क्य, बनारस, १८९३ ई०

३०. महाभाष्य (पतंजलि, कैयट, नागेश) — निर्णय सागर, १९४५ ई०

३१. महाभाष्य (१-७ आह्निक) त्रिपदी-टीका — भर्तृहरि, अप्रकाशित (फोटो कॉपी)

३२. वाक्यपदीय — लाहौर, चौखम्बा, मैसूर, वाराणसी

३३. वाक्यपदीय में आख्यात विवेचन — डॉ० रामसुरेश त्रिपाठी, (अप्रकाशित)

३४. अर्थ विज्ञान और व्याकरण दर्शन — इलाहाबाद, १९५१ ई०

३५. मीमांसा : वाक्यशास्त्र ऑफ़ इण्डिया — बम्बई, १९५९ ई०

३६. फ़िलॉसॅफ़ी ऑफ़ ग्रामर — येस्पर्सन, १९५१ ई०

३७. दी थ्योरी ऑफ़ स्पीच् एण्ड लैंग्वेज — गार्डिनर, १९३४ ई०

३८. लैंग्वेज — ब्लूमफील्ड, १९५१ ई०

३९. लैंग्वेज — मेण्टर संस्करण, १९५० ई०

४०. फाउण्डेशन्स ऑफ़ लैंग्वेज (ग्रे) — न्यूयॉर्क, १९५६ ई०

४१. संस्कृत लैंग्वेज (टी० बरो) — लन्दन, १९५६ ई०

४२. ध्वनि-विवेचन (भोलाशंकर) — बनारस

४३. लैंग्वेज (येस्पर्सन) — लन्दन

४४. एनेलिसिस् ऑफ़ मीनिंग इन् इण्डियन सेमेण्टिक्स — सिद्धेश्वर वर्मा

४५. ब्रह्मन् — डा० गोण्डा, नीदरलैण्ड

......इत्यादि। अन्य भी अनेकों देशी-विदेशी भाषाओं के व्याकरण, भाषा-तत्व एवं सम्बद्ध विषयों पर अनेकों लेखों तथा ग्रन्थों से सहायता ली गई है।
